प्रकाशक :

पब्लिकेशन स्कीम
57, मिश्र राजाजी का रास्ता, जयपुर–1

शाखा :
पालदा नाका, इन्दौर

ISBN 81–85263–59–0

संस्करण

मूल्य : 350 रुपये

अनुज प्रिन्टर्स, 26, रामगली नं. 8 राजापार्क, जयपुर–4

प्रस्तावना

श्रीमती रमा गुप्ता ने काव्यशास्त्र में अपनी अभिरुचि के अनुरूप शोधकार्य के लिए जब विषय-चयन का प्रस्ताव किया, तब मैंने उन्हें किसी पाण्डुलिपि को प्रकाश में लाने का सुझाव दिया था। इसी क्रम में उन्होंने सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी-पैलेस जयपुर, (पोथीखाना) की हस्तलिखित ग्रंथ-सूची में से हरि प्रसाद रचित "काव्यालोक" को शोध का विषय बनाया। पांडुलिपि-सम्पादन और समीक्षण के इस कार्य में पूर्वानुभव के अभाव के कारण आरम्भ में कुछ तकनीकी कठिनाई अवश्य आई, ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप एवं शास्त्रीय विषय-गाम्भीर्य के कारण कई स्थलों पर अर्थ स्पष्ट करने में अत्यधिक श्रम करना पड़ा, किन्तु विद्वज्जनों के सहयोग और अपने अथक परिश्रम से श्रीमती गुप्ता ने यह गुरुतर कार्य सम्पन्न कर दिखाया। राजस्थान विश्वविद्यालय ने इसी शोध-प्रबन्ध पर उन्हें 1988 ई. में पी. एचडी. की उपाधि प्रदान की। उनकी इस उपलब्धि पर मुझे इसलिये विशेष प्रसन्नता है कि उन्होंने अपने अध्यवसाय से अब तक पांडुलिपि के रूप में सुरक्षित जिस अज्ञात ग्रन्थ पर शोध-कार्य किया हैं, वह संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा का एक जाज्वल्यमान शास्त्रीय ग्रन्थ-रत्न है। इसे प्रकाश में लाकर उन्होंने साहित्य-जगत् को एक अभिनंदनीय उपहार प्रदान किया है।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध (सन् 1727 ई.) में लिखित "काव्यालोक" हरिप्रसाद मिश्र की रचना है। पाण्डुलिपि के प्रथम श्लोक एवं अन्तिम पुष्पिका में उनके नाम का उल्लेख आया है। वे मथुरा-निवासी गंगेश मिश्र के सुपुत्र थे किन्तु उनका सम्बन्ध राजपूताना और विशेषत: जयपुर के संस्थापक कछवाहा नरेश सवाई जयसिंह से अवश्य रहा होगा। इसका प्रमाण 'काव्यालोक' के सप्तम प्रकाश में प्रतीप अलंकार के उदाहरण में दिया हुआ यह श्लोक है :—

रत्नानां निलयः सुधासमुदायः क्षोणीतलेऽर्घासनं
गाम्भीर्येण पराश्रयः सुविदितो मत्वेति मा गा मदम्।
भो रत्नाकर! तावकीयमहिमानिर्माणसर्वंसहः
सम्प्रत्येष धरावलम्बितपदो जागर्ति कूर्माधिपः ॥

इस तथ्य की पुष्टि पोथीखाना के निदेशक श्री गोपाल नारायण जी वहुरा ने भी की है। जयपुर के सिटी पैलेस म्यूजियम में 'काव्यालोक' की एकमात्र दुर्लभ प्रति की उपलब्धि भी इस तथ्य को प्रमाणित करती है। एक विद्वत्परंपरा-मंडित कुल में जन्मे, धर्मशास्त्र, छन्दःशास्त्र, मंत्र, तंत्र, कर्मकांड एवं काव्य-शास्त्र में निष्णात, स्वयं काव्य-रचना में निपुण इस सहृदय पंडित की रचनाओं को जयपुर और राजस्थान के अन्य ग्रंथागारों ने अपने क्रोड में सुरक्षित रक्खा। ऐसे परम विद्वान् के प्रति जयपुर की ही एक छात्रा द्वारा किया गया शोध-कार्य वस्तुतः एक समीचीन शब्दमयी श्रद्धांजलि है।

"काव्यालोक" संस्कृत काव्य-शास्त्र की लगभग डेढ़ सहस्राब्दी की महती श्रृंखला की अमूल्य कड़ी है। ग्रन्थकार ने इसे सात प्रकाशों में विभक्त किया है— (i) काव्य-लक्षण विवेचन, (ii) ध्वनि-निरूपण, (iii) रस-विलास-प्रकाश (iv) दोष-विवेचन, (v) गुण-निरूपण, (vi) शब्दालंकार-विवेचन तथा (vii) अर्थालंकार-निरूपण। आचार्य मम्मट-प्रणीत "काव्यप्रकाश" को हरिप्रसाद ने आधार ग्रन्थ माना है–'अत्रेत्थं मूलग्रन्थाभिप्रायः', किन्तु अनेक लक्षणों के लिए वे रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। काव्यांगों के लक्षण उन्होंने वामनाचार्य की तरह सूत्र रूप में प्रस्तुत किये हैं, मम्मट की तरह कारिकारूप में नहीं, किन्तु वृत्ति और उदाहरण का क्रम 'काव्यप्रकाश' के अनुरूप ही है। 'काव्यालोक' एक परिनिष्ठित विद्वान् के विशद काव्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रतिफल है, जिसमें अभिनवगुप्त, रुद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, पंडितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों का उल्लेख ही नहीं, उनके अभिमतों का स्वतन्त्र दृष्टि से विवेचन और मौलिक निरूपण भी है। 'अष्टोत्तर-शतमणिमाला' के सुधी प्रणेता श्री रामार्य के इस विनम्र शिष्य ने अपने ग्रन्थ के लिए पूर्ववर्ती प्रायः सभी महान् लेखकों के ग्रन्थ-पुष्पों से याचक मधुकर की भाँति ज्ञान-मधु का पान किया, फिर ग्रन्थ-ग्रन्थ से संगृहीत उस मधु-संचय को, उस 'माधुकरी भिक्षा' को नवीन 'काव्यालोक' के रूप में साहित्य-जगत् को समर्पित कर दिया। इस समर्पण में कहीं भी ज्ञान का गर्व नहीं है, न मौलिकता का दम्भ। यही विनयभाव उनके व्यक्तित्व की गरिमा है—

इयं माधुकरी भिक्षा सुमनोभ्यः समाहृता।
वालानां तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते।

प्राचीनैर्यदिहोदितं वहुविधैर्ग्रन्थैस्तदत्राहृतम्।
संक्षेपेण न किञ्चिदन्यदुदितं गर्वेण तद्वन्मया॥

(काव्यालोक–पुष्पिका)

जब कभी कोई शास्त्रीय अभिमत शास्त्रार्थ के वाग्जाल में उलझ जाता है अथवा शास्त्रकारों में किसी तत्त्व-विशेष पर गम्भीर वाद-विवाद के कारण कोई निष्कर्ष अस्पष्ट रह जाता है तो शास्त्र के विचारक अध्येता को उसका पुनः विवेचन या पुनरीक्षण करने की बलवती प्रेरणा मिलती है और कोई नया ग्रन्थ जन्म लेता है। यही शास्त्र-जगत् की परिपाटी है जिसके अन्तर्गत आचार्य हरि प्रसाद ने "काव्यालोक" की रचना की है। अतः स्वाभाविक है कि उसमें पूर्ववर्ती मतों का पुनर्निरूपण-विश्लेषण करके कोई नई बात कही जाय, कोई मौलिक दृष्टि प्रस्थापित की जाय। 'काव्यालोक' को आवश्यकता और महत्त्व इसी तथ्य में निहित है, अतः उसका विहंगमावलोकन यहाँ प्रासंगिक होगा।

हरिप्रसाद ने काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण और काव्यात्मा के प्रश्न पर पुनर्विचार करते हुए जिन निष्कर्षों पर विशेष बल दिया है, उनमें काव्य-प्रयोजन के रूप में प्रथम स्थान 'परमाह्लाद' को प्रदान किया है—

काव्यस्य परमाह्लाद–कीर्त्यादिफलयोगिनः।

मम्मट के अनुसरण पर 'काव्यं यशसे' को स्वीकार करते हुए उन्होंने शेष प्रयोजनों को 'आदि' पद से व्यंजित तो कर दिया है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में वे 'परमाह्लाद' को पुनः पुनः प्रस्थापित करने में तत्पर दिखाई देते हैं।

काव्य-लक्षण के प्रसंग में मुख्यतः दो मत परम्परा से प्रचलित रहे हैं। एक मत 'शब्दार्थौ काव्यम्' का है तो दूसरा 'शब्दः काव्यम्' का। भामह, वामन, मम्मट आदि प्रथम मत के प्रतिष्ठापक हैं तो पंडितराज जगन्नाथ द्वितीय मत के उद्-घोषक हैं। दण्डी काव्य-शरीर को 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' कहते हैं तो विश्व नाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानने के पक्षधर हैं। हरिप्रसाद ने काव्यप्रकाश को मूल ग्रन्थ कहते हुए भी उसके काव्य-लक्षण को स्वीकार नहीं किया है। वे जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ–प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं :—

'लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम्।

'लोकोत्तर आह्लाद के व्यंजक जिस शब्द के द्वारा श्रवण-संस्कारजन्य चमत्कृति तत्काल रसात्मता में परिणत हो जाती है, वही काव्य कहलाता है—
हरिप्रसाद के निम्नलिखित काव्य-लक्षण में भी मौलिक वैदुष्य झलकता है—

'काऽपि दृग्व्यञ्जनावृत्तिर्येन याति रसात्मताम्।
सद्यः श्रवणसंस्कारैस्तदिदं काव्यमुच्यते ॥(सू.2)

'काऽपि व्यंजनावृत्तिः' के आद्याक्षरों से 'काव्य' पद स्वतः निर्मित हो जाता है ।

'काव्यात्मा' के निर्धारण के प्रश्न पर सर्वाधिक विवाद रहा है तथा उसी के आधार पर रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और अलंकार के समर्थकों ने अपने-अपने सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया । ध्वनिवादियों ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहते हुए अन्य सभी तथाकथित काव्यात्माओं का कुशलतापूर्वक समाहार कर लिया । रस को ध्वनि के साथ मिलाकर उन्होंने श्रेष्ठ काव्य के रूप में रसध्वनि को सर्वोच्च स्थान दे दिया । अलंकार को कटक-कुंडल के रूप में काव्य-शरीर का विभूषण कहा एवं रीति को गुणानुसारिणी पदसंघटना होने के कारण अंगीभूत रस के धर्म के साथ सम्वद्ध कर दिया । औचित्य-भंग को रसभंग का कारण बता कर उसे अभिव्यक्ति की विवेकशीलता से जोड़ दिया । वक्रोक्ति को मात्र अलंकार कहकर आत्मा के रूप में अमान्य ठहरा दिया । इस पूर्व-पीठिका को ध्यान में रखते हुए भी हरिप्रसाद ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक पृथक् रूप से अपना प्रमाण-पुष्ट मत प्रस्तुत किया है—

'रस आत्मा इति परे आचार्या ऊचुः । **स्वमते** तु चमत्कार एव आत्मा काव्यस्य ।'

काव्य में 'चमत्कार' ही 'सुखातिशय' का, 'लोकोत्तराह्लाद' का कारणभूत होता है । हरिप्रसाद का यह लक्षण यद्यपि रसगंगाधरकार के कथन की अनुगूँज है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न काव्यांगों में काव्य के आत्मतत्त्व की खोज करने वाले काव्यशास्त्रियों के मतों का पुनः आकलन करके लोकोत्तर आह्लाद के जनक चमत्कार को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित-प्रमाणित करने के लिए ही "काव्यालोक" की रचना की गई है—

'तत्सुखातिशयकारणं चमत्कार एव काव्यप्राणा इति सिद्धम् ।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पर लिपिकार ने 'अर्थालंकार-निरूपण' लिखा है, अतः स्वाभाविक है कि इसमें अर्थालङ्कार-वर्णन को प्रमुखता दी जाय । सप्तम प्रकाश में 70 अलङ्कारों का भेदोपभेद सहित विस्तृत वर्णन किया गया है, किन्तु वस्तुतः 'काव्यालोक' के प्रथम तीन प्रकाश विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें हरिप्रसाद ने काव्य, ध्वनि और रस का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है । लिपिकार चोक्षचन्द्र की यह प्रशस्ति हरिप्रसाद–रचित 'काव्यालोक' की शास्त्रीय महत्ता को चरितार्थ करती है कि 'अलङ्कार रूपी सागर को पार करना चाहते हो तो काव्यालोक-रूपी प्रवहण का कंठ द्वारा आश्रय ग्रहण करो ।'

अलङ्काराम्बुधेः पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि ।
काव्यालोक—प्रवहणं तदाश्रयत कंठतः ।।

ऐसे महनीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ को शोध-कार्य द्वारा प्रकाश में लाना वस्तुतः स्तुत्य कार्य है। शास्त्रीय ग्रंथ के प्रथम अनुशीलन में, सम्भव है, कई स्थलों पर व्याख्या अस्पष्ट रह गई हो, अनुवाद त्रुटिपूर्ण हो, विवेचन में पूर्णता न आ पाई हो किन्तु यह निर्विवाद है कि श्रीमती गुप्ता की शोध-निष्ठा और लेखन-परिश्रम में कोई कमी नहीं है। सतत जागरूक दृष्टि से ग्रन्थ के पूर्वापर प्रसंगों को जोड़ते हुए काव्याशास्त्रीय इतिहास के आलोक में उन्होंने पाण्डुलिपि का सम्पादन तो किया ही, सरल हिन्दी अनुवाद द्वारा ग्रन्थ के कठिन स्थलों को भी सुबोध बना दिया है। उनकी लिखी हुई विस्तृत भूमिका विषय के विशद विवेचन के कारण विशेष उल्लेखनीय है।

श्रीमती गुप्ता का यह प्रथम प्रकाशन उनके भावी प्रकाशनों का सिंहद्वार बने तथा काव्यालोक के इस मुद्रण का साहित्य-जगत् में उचित अभिनन्दन हो, यही मेरी शुभकामना है।

श्रावणी पूर्णिमा वि. सं. २०४६
'पर्णकुटी', गंगवाल पार्क, जयपुर।

—(डॉ०)हरिराम आचार्य
एसोशिएट प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, राज. वि. वि.
जयपुर

स्वकथन

संस्कृत में विरचित काव्यशास्त्रीय साहित्य विपुल मात्रा में विद्यमान होने पर भी, अद्यावधि अनेक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाने के कारण साहित्य-जगत् में समुचित स्थान प्राप्त नहीं कर सके हैं। ये ग्रन्थ साहित्यशास्त्र की अविच्छिन्न सृजन-परम्परा के द्योतक हैं, जिनका प्रकाशन अत्यावश्यक है। ऐसा ही मौलिक एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ "काव्यालोक" है, जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संस्कृत के परम विद्वान् श्री हरिप्रसाद द्वारा लिखा गया।

पी० एच० डी० की उपाधि हेतु शोधकार्य के लिए विषय-चयन करते समय श्रद्धेय गुरुवर डॉ० हरिराम जी आचार्य (एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने निर्देशक के रूप में मुझे प्रेरित किया कि मैं किसी अप्रकाशित पाण्डुलिपि को साहित्य-जगत् के सम्मुख लाने का कार्य करूँ। जयपुर-महाराजा के संग्रहालय—"महाराजा सवाई मानसिंह (द्वितीय) म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर" में उपलब्ध संस्कृत में प्रकाशित तथा अप्रकाशित अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में से मैंने "काव्यालोक" को साहित्य-जगत् के सम्मुख लाने का निश्चय किया तथा इसी संकल्पना के क्रियान्वयन के लिए "काव्यालोक" की अप्रकाशित हस्तलिखित पाण्डुलिपि के सम्पादन तथा समीक्षण का कार्य प्रारम्भ किया।

इसी शोध-प्रबन्ध "हरिप्रसादकृत काव्यालोक : समीक्षण एवं सम्पादन" पर सन् 1988 में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा मुझे पी—एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। सम्प्रति यह शोध-प्रबन्ध आवश्यक संशोधन के साथ मुद्रित रूप में साहित्यानुरागी विद्वज्जनों के सम्मुख प्रस्तुत है। संस्कृत में काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन की अविच्छिन्न परम्परा को द्योतित करने वाले इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

"काव्यालोक" में पूर्वनिरूपित काव्यशास्त्रविषयक तत्त्वों पर नूतन दृष्टि से पुनर्विचार किया गया है। आचार्य मम्मट के "काव्यप्रकाश" तथा पण्डितराज जगन्नाथ के "रसगङ्गाधर" में निरूपित विवेचनों का विद्वत्तापूर्ण समन्वय करते

हुए इस ग्रन्थ में अन्य आचार्यों के भी काव्याङ्ग–विषयक विवेचनों की समालोचना की गई है तथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में ग्रन्थ का सम्पादन करते हुए पाण्डुलिपि की अशुद्धियों को यथासम्भव दूर करके, हिन्दी अनुवाद सहित शुद्ध पाठ सम्मुख लाने का प्रयत्न है। भूमिका के अन्तर्गत कृति और कृतिकार का परिचय देने के साथ ही समीक्षात्मक रूप में ग्रन्थ का विषय-निरूपण एवं अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से उनका तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है।

इस कार्य में मुझे अनेक विद्वानों तथा संस्थाओं का अपरिमित सहयोग प्राप्त हुआ, उन सभी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन करती हूँ। श्रद्धेय गुरुवर डॉ० हरिराम जी आचार्य ने निर्देशक के रूप में समय-समय पर अपना अमूल्य समय देकर मार्ग-निर्देशन के साथ ही कार्य में अभिरुचि लेते हुए जो प्रोत्साहन मुझे दिया, वह अविस्मरणीय है। यह कार्य उनके ही प्रोत्साहन की परिणति है तथा उनकी विशेष अभिरुचि के फलस्वरूप ही यह मुद्रित रूप में विद्वज्जनों के सम्मुख आ सका है, अतः सर्वप्रथम मैं उनके प्रति विशेष आभार व्यक्त करती हूँ। डॉ० रामचन्द्र जी द्विवेदी (प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) ने विषय-चयन में सहायता की। श्री गोपाल नारायण जी बहुरा (भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष, महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर) ने विशेष रुचि लेते हुए पाण्डुलिपि के अध्ययन में समुचित प्रशिक्षण द्वारा मेरी अमूल्य सहायता की। रस-सम्बन्धी विवेचन के नव्यन्यायपरक अंशों को स्पष्ट करने में श्री खड्गनाथ जी मिश्र (भूतपूर्व प्राचार्य, महाराजा संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर) तथा श्री दुलीचन्द शर्मा (व्याख्याता संस्कृत, राजकीय डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर) ने विशेष सहयोग दिया। अतः इन सबके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर के सभी अधिकारियों ने पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने में पूर्ण सहयोग दिया। भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, वड़ौदा; राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की जयपुर, जोधपुर, अलवर तथा बीकानेर शाखाओं से भी कार्य में सहायता मिली। इन सभी संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति भी मैं सहर्ष कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

प्रस्तुत कार्य के लि! निरन्तर सक्रिय एवं आत्मीय रूप से प्रेरित तथा प्रोत्साहित करते हुए मेरे पति श्री हरिमोहन गुप्ता ने अनेक अप्रत्याशित कष्ट उठाते हुए भी मुझे सभी प्रकार की सुविधा, सहायता तथा संबल दिया, वह मेरी

विशेष उपलब्धि है और अधिकार भी, जिसकी स्मृतियाँ हम दोनों को आजीवन भावाभिभूत करती रहेंगी।

पुस्तक के प्रकाशन में पब्लिकेशन स्कीम की संचालिका श्रीमती प्रेम नाटाणी तथा श्री सियाशरण नाटाणी ने व्यक्तिगत रूप से जो अभिरुचि ली, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। अनुज प्रिण्टर्स जयपुर की संचालिकाओं को साधुवाद देती हूँ कि उन्होंने अत्यंत तत्परता एवं शीघ्रतापूर्वक पुस्तक का मुद्रण किया।

अन्त में, विद्वज्जनों के सम्मुख एक अज्ञात काव्यशास्त्रीय ग्रंथ को मुद्रित रूप में प्रस्तुत करते हुए अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना के साथ ही मेरी यही अभिलाषा है कि "काव्यालोक" को साहित्य-जगत् में समुचित स्थान एवं सम्मान प्राप्त हो।

रमा गुप्ता
व्याख्याता संस्कृत,
राजकीय महाविद्यालय,
अजमेर

E-453, शास्त्री नगर
अजमेर

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

संकेत-सूची

अ. भा.	—	अभिनवभारती
का. लो.	—	काव्यालोक
का. प्र.	—	काव्यप्रकाश
काव्य.मी.	—	काव्यमीमांसा
काव्या.	—	काव्यादर्श
काव्य. सू.	—	काव्यालङ्कारसूत्र (वामन)
का. सा. स.	—	काव्यालङ्कारसारसंग्रह (उद्भट)
चन्द्रा.	—	चन्द्रालोक
द. रू.	—	दशरूपक
ध्वन्या.	—	ध्वन्यालोक
ना. शा.	—	नाट्यशास्त्र
पा. टि.	—	पादटिप्पणी
पा. प. सं.	—	पाण्डुलिपि पत्र-संख्या
पृ.	—	पृष्ठ
भा. काव्या.	—	भामहकृत काव्यालङ्कार
मू. पा.	—	मूलपाठ
मू. पा. टि.	—	मूलपाठगत टिप्पणी
रस.	—	रसगङ्गाधर
रु. काव्य.	—	रुद्रटकृत काव्यालङ्कार
वक्रोक्ति.	—	वक्रोक्तिजीवित
व्यक्ति.	—	व्यक्तिविवेक
सा. द.	—	साहित्यदर्पण
सू.	—	सूत्र
[ ]	—	छूटा हुआ अंश
ʎ	—	पाण्डुलिपि-पत्र समाप्ति का प्रदर्शक चिह्न तथा बाँयी ओर कोष्ठक [ ] में पत्र-संख्या
o.........o	—	पादटिप्पणी में संकेतित अशुद्ध अंश

भूमिका

संस्कृत-साहित्य में काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की एक विस्तृत परम्परा रही है। अति प्राचीनकाल से तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की गयी। उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ भरतमुनि (ई० पू० 500 से ई० पू० 200 के मध्य) का "नाट्यशास्त्र" है। संस्कृत–काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भरतमुनि से ही प्राप्त होता है। यद्यपि "नाट्यशास्त्र" का प्रधान लक्ष्य नाट्य के विभिन्न तत्त्वों का विवेचन करना है, तथापि यहाँ काव्यांगों का भी निरूपण किया गया है। अतः "नाट्यशास्त्र" को आधार बनाकर परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना की। अलंकार-शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परम्परा से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय भामह को प्राप्त होता है। आद्य आलंकारिक के रूप में विख्यात भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्द्ध) ने "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके पश्चात् अनेक आचार्यों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। दण्डी (अष्टम शताब्दी) का "काव्यादर्श", उद्भट (आठवीं शताब्दी का अन्तिम तथा नवम शताब्दी का प्रारम्भ) का "काव्यालंकार-सार-संग्रह", वामन (आठवीं शताब्दी का अन्त और नवम शताब्दी का प्रारम्भ) का "काव्यालंकार सूत्र", रुद्रट (नवम शताब्दी) का "काव्यालंकार", आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी) का "ध्वन्यालोक", अभिनवगुप्त (दशम शताब्दी का अन्तिम तथा ग्यारहवीं का प्रारम्भ) का "ध्वन्यालोकलोचन" तथा "अभिनवभारती", राज शेखर (दशम शताब्दी का प्रारम्भ) की "काव्यमीमांसा", मुकुलभट्ट (नवम शताब्दी) की "अभिधावृत्ति-मातृका", धनञ्जय (दशम शताब्दी) का "दशरूपक", कुन्तक (दशम शताब्दी का अन्तिम भाग) द्वारा रचित "वक्रोक्तिजीवित", महिम भट्ट (दशम शताब्दी का अन्तिम भाग) का "व्यक्तिविवेक", भोजराज (ग्यारहवीं शताब्दी) के दो ग्रन्थ—"सरस्वतीकण्ठाभरण" और "शृंगारप्रकाश", क्षेमेन्द्रकृत (ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ) "औचित्य-विचारचर्चा", मम्मट (ग्यारहवीं शताब्दी) का "काव्यप्रकाश", राजानक रुय्यक (ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग) का "अलंकार-सर्वस्व", हेमचन्द्र (1088 ई०–1172 ई०) का "काव्यानुशासन", जयदेवविरचित (ग्यारहवीं शताब्दी) "चन्द्रालोक", विश्वनाथ

(चौदहवीं शताब्दी) का "साहित्यदर्पण", अप्पयदीक्षित (16–17 शताब्दी) के "चित्रमीमांसा" तथा "कुवलयानन्द", पण्डितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी) का "रसगंगाधर" आदि प्रमुख काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस विषय पर ग्रन्थों का सृजन किया। इसी सुदीर्घ शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है–"काव्यालोक"। अठारहवीं शताब्दी में हरिप्रसाद ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "काव्यालोक" की रचना करके इस परम्परा को आगे बढ़ाया है। पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित तथा अद्यावधि अप्रकाशित हस्त-लिखित ग्रन्थ "काव्यालोक" भी काव्यशास्त्रीय-परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

1. कृति एवं कृतिकार

(1) पाण्डुलिपि की प्राप्ति एवं परिचय—

हरिप्रसाद-विरचित "काव्यालोक" की हस्तलिखित पाण्डुलिपि महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर में उपलब्ध है। महाराजा सवाई जयसिंह (1699–1743 ई०) के निजी पुस्तकागार में "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि रखी हुई थी, जो अब महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम में ग्रन्थ संख्या–207 पर सुरक्षित है।

"काव्यालोक" की रचना हरिप्रसाद ने सं० 1784 में की। प्रस्तुत पाण्डु-लिपि मूलग्रन्थ की प्रतिलिपि है, जो सं० 1798 में चोक्षचन्द्र नामक व्यक्ति के द्वारा की गयी।

ग्रन्थ की यह पाण्डुलिपि पूर्ण सुरक्षित अवस्था में है। एक ही कागज पर काली स्याही से लिखा गया है। कागज कहीं से भी फटा हुआ नहीं है, समय के साथ-साथ इसमें पीलापन अवश्य आ गया है। इसमें 84 पत्र हैं, जिनकी चौड़ाई–22.5 से.मी. (9 इंच) और लम्बाई 11.4 से. मी. (4.5 इंच) है। दोनों ओर 2-2 से. मी. (0.8 इंच) तथा ऊपर-नीचे 1.5 से. मी. (0.5 इंच) के लगभग स्थान रिक्त छोड़ा गया है। पत्र 53 अ तक सभी पत्रों पर मूल-पाठ के दोनों ओर दो-दो बारीक रेखाएँ तथा कागज के बिल्कुल पास एक काली रेखा खींची गयी है। पत्र 53 ब से अन्तिम पत्र तक कोई रेखा नहीं है। प्रत्येक पत्र के पिछले भाग में पत्र-संख्या लिखी है। प्रथम पत्र पर "अलंकार, अर्थालंकार-निरूपण-पत्र-84" लिखा हुआ है। अतः ग्रन्थ का प्रारम्भ पत्र [1 अ] से न होकर पत्र [1 ब] से होता है।

प्रत्येक पत्र में पंक्ति-संख्या समान नहीं है। पत्र के एक ओर 10 से लेकर 17 तक पंक्तियाँ लिखी गयी हैं। पाण्डुलिपि में अक्षर कहीं बड़े और कहीं

छोटे लिखे जाने के कारण अक्षर-संख्या भी समान नहीं है, प्रायः एक पंक्ति में 30 से लेकर 40 तक अक्षर लिखे गये हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भ "श्री गणेशाय नमः" से हुआ है और इससे पूर्व "ओम्" का प्रतीकात्मक चिह्न दिया गया है।

इस पाण्डुलिपि में मिलित शब्दावली का प्रयोग है, जिसमें सभी शब्द एक दूसरे से मिलाकर लिखे गये हैं। पद, वाक्य, गद्य और पद्य को अलग करके नहीं लिखा गया। कहीं-कहीं पंक्तियों के मध्य में विभाग-दर्शक चिह्न = ' ॥ ' लगा दिया गया है। वाक्य के बीच में एक ही अक्षर के वर्ण कहीं दूर-दूर लिख दिये गये हैं और कहीं पर दो अक्षरों के वर्ण मिला दिये गये हैं। मिलित शब्दावली के प्रयोग के कारण गद्य अथवा पद्य की पंक्ति पूर्ण हो जाने पर भी आगे की पंक्ति के प्रथम शब्द के साथ उसे मिला हुआ मानकर सन्धि के नियमानुसार उसमें विसर्ग लोप अथवा अन्य परिवर्तन कर दिये गये हैं।

पतित पाठ अर्थात् कहीं कोई शब्द, शब्दांश या वाक्यांश लिखना रह गया है, तो वहाँ वर्णों के मध्य (पतित पाठ दर्शक चिह्न) "हंस पग" (मोर पग या काक पद) " $\overset{\vee}{\wedge}$ " चिह्न लगाकर हाशिये में (मूल-पाठ के चारों ओर के रिक्त स्थान में) पंक्ति की संख्या लिखकर छूटा अंश लिखा है और वहाँ पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न—" × " लगा दिया गया है।

मूल-पाठ से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण संकेत करने के लिए शब्द के ऊपर " = " चिह्न लगाया गया है और हाशिये में पंक्ति की संख्या लिखकर उक्त अंश लिखने के पश्चात् " = " चिह्न लगाया गया है अथवा पंक्ति के ऊपर ही शब्द लिख दिये गये हैं।

भूल से कोई अतिरिक्त शब्द लिखे जाने पर उसे "हरताल" (पीले रंग) से मिटा दिया गया है।

कुछ स्थलों पर पंक्ति के प्रारम्भिक या अन्तिम शब्दों पर अथवा पूरी पंक्ति पर लाल रंग किया गया है। सम्भवतः महत्त्वपूर्ण स्थल पर ध्यान आकर्षित करने के लिये अथवा प्रति की सुन्दरता बनाये रखने के लिये इसका प्रयोग किया गया है।

लिखावट सामान्य रूप से सुपाठ्य है। मध्य के कुछ पृष्ठों में, जहाँ बहुत छोटे-छोटे अक्षर लिखे गये हैं, पढ़ने में कुछ प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है।

लिपि सुपाठ्य होने पर भी कई स्थलों पर भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे—"आ" और "ई" की मात्रा स्पष्ट नहीं होने पर दोनों में भ्रम होता है। "य" और "प" में तथा "ब्द" और "ष्द" में भी स्पष्टता नहीं है। "त्स" में "स" का

भ्रम होता है। "ट" और "ठ", "व" और "व" तथा "स" और "श" में परस्पर दूसरा वर्ण भी लिख दिया गया है। 'ह्ल' को कहीं-कहीं 'ल्ह' लिखा गया है।

सन्धि-विच्छेद के लिए कहीं-कहीं वर्णों के बीच में पंक्ति के ऊपर '+' चिह्न लगाया गया है।

'ऽ' (अवग्रह) बहुत कम स्थान पर प्रयुक्त है। कहीं कहीं पंक्ति के ऊपर वर्णों के मध्य में भी इसका प्रयोग किया गया है।

मूलपाठ का कोई वर्ण या पद यदि स्पष्ट प्रतीत नहीं हो रहा है, तो उसे स्पष्ट करने के लिए भी कहीं कहीं उस वर्ण के ऊपर पुनः लिख दिया गया है।

इस पाण्डुलिपि के प्रारम्भिक श्लोक तथा अन्तिम पुष्पिका से यह निश्चित ही है कि इसका रचयिता हरिप्रसाद है। पुष्पिका के पश्चात् लिखी गयी "संवत् 1798 वर्षस्य पौषशुक्लद्वितीयायां लिखितं चोक्षचन्द्रेण" इत्यादि पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि इस पाण्डुलिपि को लिखने वाला व्यक्ति चोक्षचन्द्र है। इसमें मूल-पाठ का हस्तलेख एक ही व्यक्ति का है। परन्तु पुष्पिका के पश्चात् लिखी उपर्युक्त पंक्तियों का हस्तलेख भिन्न है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ को लिखने वाला एक व्यक्ति चोक्षचन्द्र है और बाद में अन्य किसी दूसरे व्यक्ति ने ये पंक्तियाँ लिख दी हैं।

पाण्डुलिपि के मूल-पाठ में दो स्थानों पर पाठभेद का संकेत किया गया है।[1] अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि "काव्यालोक" की अन्य कोई प्रति भी रही होगी। उस प्रति के आधार पर चोक्षचन्द्र ने यह प्रतिलिपि तैयार की। सर्वप्रथम चोक्षचन्द्र ने मूल-ग्रन्थ लिखा। पुनः जब दुबारा पढ़ा तो आवश्यकतानुसार संशोधन करते हुए मूल-पाठ के चारों ओर के रिक्त स्थान पर आवश्यक संकेत भी किये। इस प्रकार इस पाण्डुलिपि से स्पष्ट है कि मूल-ग्रन्थ का रचयिता हरिप्रसाद है और प्रतिलिपिकर्त्ता चोक्षचन्द्र।

(2) अन्य स्थानों पर कृति की उपलब्धि—

ऑफ्रेट Theodor Aufrecht ने 'केटेलॉगस केटेलॉगोरम" (Catalogus Catalogorum) Part I, 1962 पृष्ठ 758 पर तथा डॉ. राघवन् ने 'न्यू केटेलॉगस केटेलॉगोरम"(New Catalogus Catalogorum,) Vol. IV, 1968, पृ. 114 पर अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में 'काव्यालोक' के लिये पीटर्सन–वॉल्यूम 3, पृ.–356 का उल्लेख दिया है।

---

1. (1) हरिप्रसादेन नवेत्यपि पाठः।—का. लो.—सू. 1, मू. पा. टि.।
   (2) रचनेत्यपि पाठः।—का. लो.—श्लोक 360, मू. पा. टि.

एस. के. डे. ने 'Sanskrit Poetics,' Vol. I, पृष्ठ 314 पर 'काव्यालोक' के लिए ऑफ्रेट का संदर्भ दिया ।

पी.वी.काणे ने 'History of Sanskrit Poetics' में अनेक सूचियों के आधार पर निर्मित Index of Authors and works (संस्कृत-काव्यशास्त्र के ग्रन्थ और ग्रन्थकार) में "काव्यालोक" का उल्लेख किया । परन्तु 'काव्यालोक' को किस सूची में देखा, इसका पृथक् निर्देश नहीं किया । उन्होंने सूचियों में डॉ. राघवन् के "न्यू केटेलॉगस केटेलॉगोरम' का उल्लेख भी किया है । सम्भवतः वहीं से यह ग्रन्थ उल्लिखित किया गया है ।

प्रो. पीटर्सन ने "Detailed Report of operations in search of Sanskrit manuscripts in the Bombay Circle" April, 1884–March 1886, वाल्यूम–3 पृष्ठ 356–7 पर 'काव्यालोक' का उल्लेख किया है । "भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना" तथा "ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, वड़ौदा" में पीटर्सन का यह वॉल्यूम उपलब्ध है ।

पीटर्सन के उल्लेख में "काव्यालोक" की पत्र संख्या–69 है, जबकि प्रस्तुत पाण्डुलिपि में 84 है । पीटर्सन ने 'काव्यालोक' की प्रारम्भिक तथा अन्तिम पंक्तियाँ भी दी हैं । इन पंक्तियों की तुलना जब "महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम, सिटी पैलेस, जयपुर" में प्राप्त होने वाले ग्रन्थ की पाण्डुलिपि की पंक्तियों से करते हैं तो दोनों में निम्न पाठभेद लक्षित होता है—

	महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम की प्रति	पीटर्सन–3, 356–7 का उल्लेख
	प्रारम्भ—	
1.	श्री गणेशाय नमः	–श्रीमहागणाधिपतये नमः ।
2.	प्रतिजानीते	–प्रतिजानानीते
	अन्त—	
3.	वर्षमाघशुक्लमुन्नी	–वर्षे माघशुक्लमुनी
4.	काव्यालोकेऽर्थालंकारनिरूपण–नामा सप्तमः प्रकाशः ॥7॥ समाप्त	–काव्यालोकेऽर्थालंकारनिरूपणं नाम सप्तमः 7 प्रकाशः समाप्तः ॥
5.	संवत् 1798 वर्षस्य पौषशुक्ल–द्वितीयायां लिखितं चोक्षचन्द्रेण ।	

श्रेयो भववुत समेषाम्

अलंकारांवुधेः पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि । –ये पंक्तियां नहीं दी गई हैं

काव्यालोकप्रवहणं तदाश्रयत कंठतः ।।1।।

पत्र-संख्या के भेद तथा पाठ-भेद से स्पष्ट है कि ये दोनों 'काव्यालोक' ग्रन्थ की भिन्न-भिन्न पाण्डुलिपियाँ हैं ।

पीटर्सन ने अपने केटेलॉग में कोटा का सन्दर्भ दिया है । अतः यह स्पष्ट है कि पीटर्सन के समय (19वीं शताब्दी के अन्त) में इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि कोटा महाराजा के ग्रन्थागार में स्थित रही होगी । इसी आधार पर उसकी प्राप्ति के प्रयत्न किये जाने पर भी यह पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हो सकी ।

इस समय कोटा महाराजा द्वारा संगृहीत साहित्य दो स्थानों पर उपलब्ध है—(1) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, शाखा—कोटा तथा (2) माधोराव म्यूजियम, गढ़ पैलेस, कोटा । परन्तु इन दोनों स्थानों पर ही इस समय "काव्या-लोक" की पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है ।

"राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, शाखा—अलवर" द्वारा दिनांक 5 मई 1983 को स्थानीय अखबार "राजस्थान टाइम्स" में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई । इसके अनुसार प्रो. पीटर्सन अलवर से वहुत से ग्रन्थ अपने साथ वम्वई ले गये और वहाँ से अनेक ग्रन्थ लन्दन भेज दिये गये थे । इस विज्ञप्ति के आधार पर यह सम्भावना हो सकती है कि प्रो. पीटर्सन कोटा से भी ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ ले गये हों और उसी में "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि भी चली गयी हो ।

ए. वी. कीथ ने "Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the library of the Indian office" Oxford, 1935 में लन्दन से भी संस्कृत की पाण्डुलिपियाँ मँगाकर उनका सूचीपत्र प्रकाशित किया । परन्तु इसमें "काव्यालोक" की पाण्डुलिपि का उल्लेख नहीं है । अतएव यह निश्चित नहीं हो पाता कि पीटर्सन द्वारा उल्लिखित पाण्डुलिपि इस समय कहाँ उपलब्ध है ।

(3) कृति का परिचय—

'काव्यालोक' ग्रन्थ के रचयिता तथा रचनाकाल के विषय में ग्रन्थ में ही उल्लेख प्राप्त हो जाने से किसी प्रकार का संशय या मतभेद उत्पन्न नहीं होता । 'काव्यालोक' का रचयिता हरिप्रसाद है, इसका उल्लेख ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है—

काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्यादिफलयोगिनः ।

हरिप्रसादविदुषा मीमांसा कापि तन्यते ।। सू.1 ।।

'काव्यालोक' के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में भी 'हरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोके' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इस ग्रन्थ की पुष्पिका से स्पष्ट है कि सम्वत् 1784 सूर्य संक्रमण की माघ शुक्ला सप्तमी को यह ग्रन्थ पूर्ण कर दिया गया—

अब्धिदिङ्.मुनिभू 1784 वर्षमाघशुक्लमुनौ 7 रवेः।
काव्यालोकमिदं पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ।।

अतः यह निःसन्देहरूप से कहा जा सकता है कि हरिप्रसाद ने सं. 1784 में इसकी रचना की।

'काव्यालोक' एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें कुल सात प्रकाश हैं, जिनमें पूर्व निरूपित अलंकारशास्त्र के विषयों का विवेचन किया गया है। सामान्यतः इसमें काव्य का लक्षण, प्रयोजन, हेतु, भेद, शब्द-शक्तियाँ, ध्वनि, रस, गुण, दोष और अलंकारों का निरूपण है। परन्तु अलंकारों के विवेचन में कृतिकार की विशेष रुचि दिखायी देती है। 'काव्यालोक' में कुल 84 पत्रों में से 43 पत्रों में अन्य विषयों का विवेचन है, शेष 41 पत्रों में केवल अलंकारों का निरूपण किया गया है। विशेष रूप से अर्थालंकार निरूपण बहुत विस्तार से किया गया है, क्योंकि लगभग 37 पत्रों में अर्थालंकार प्रस्तुत किये गये हैं। कृति का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पत्र पर भी 'अलंकार, अर्थालंकार-निरूपण पत्र–84' लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि अर्थालंकारों का विवेचन करना कृतिकार का प्रमुख उद्देश्य है।

'काव्यालोक' के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। प्रायः कृतिकार ने सर्वप्रथम एक विषय को संक्षेप में सूत्ररूप में कहा है। सूत्र कहीं पर कारिका-रूप में, पद्य में हैं और कहीं पर गद्य में। सूत्र के बाद उसे स्पष्ट करने के लिए वृत्ति लिखी गई है और उसका उदाहरण-सहित विवेचन किया गया है। सूत्र और वृत्ति हरिप्रसाद के स्वरचित हैं, परन्तु उन पर अन्य ग्रन्थों का प्रभाव लक्षित होताहै।[1]

---

1. उदाहरणार्थ यथा—
   (1) भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने। का. प्र.–सू. 199
   तुत्तुल्यदर्शने स्याद्भ्रान्तिस्तद्वानलंकारः।—का. लो.–सू. 137
   (2) सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्.कृतिः।-रस—2, पृ. 211
   वाक्यार्थोपस्कारकमुपमा सादृश्यमतिचमत्कारि।-का.लो.1—सू.121
   (3) इहान्यानपि भेदानन्ये निगदन्ति—वाचकलुप्ता षड्विधोपवर्णिता।→

उदाहरण कहीं स्वरचित हैं[1] और कहीं अन्य ग्रन्थों से भी उद्धत हैं।[2] कतिपय स्थलों पर अन्य ग्रन्थों में उद्धत उदाहरणों का प्रभाव लक्षित होता है,[3] क्योंकि

'कर्तर्युपमाने' इति णिनौ सप्तम्यपिदृश्यते। कोकिल इवालपति कोकिलालापिनीति। तथाष्टम्यपि—"इवे प्रतिकृतौ" इति कनि "लुम्मनुष्ये" इति लुपि चंचेवेत्यर्थे 'चंचा पुरुषः सोऽयंः यःस्वहितं नैव जानीते' इत्यत्र। नवम्यपि—आचार—क्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्मे दृश्यते। "आह्लादि वदनं तस्याः शरद्राकामृगांकति" इत्यादौ।—रस.2, 26

वाचकलुप्तासु "कर्त्तर्युपमान" इति णिनौ सप्तम्यपि। यथा—कोकिल इवालपति कोकिलालापिनी। तथा—"इवे प्रतिकृतावि" तिकनि "लुम्मनुष्ये" इति चंचेवेत्यर्थे "चंचा पुरुषः" इत्यष्टमी। "आह्लादि वदनं तस्याः शरद्राकामृगांकति" इत्यादावाचारक्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्म्मे नवम्यपि।–का. लो.—सू. 125 की वृत्ति।

1. उदाहरणार्थ—
   (1) अप्यवलोकितभुवनं चक्षुर्न.-का. लो.—197
   (2) वंधूकंकिशुक.—का. लो. 241
   (3) हरिपदनखतां वदन्ति लोकाः-का. लो. –334

2. उदाहरणार्थ यथा—
   (1) मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरल-का. प्र.- 159, का. लो.-101
   (2) धीरो विनीतो निपुणो वराराको.-का. प्र. 211, का. लो. 106
   (3) नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो.-सा. द.-पृष्ठ 239, का. लो.-109
   (4) वारिधिराकाशसमो.-रस.-2; 392, का, लो.-190
   (5) महतः परमव्यक्तः.-रस-3, 555, का. लो.-329

3. (1) किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किम्.-रु. काव्या.-2,15
   किं गौरीदृङ्न गौरहम्। -का. लो.-सू. 108 की वृत्ति।
   (2) दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
   देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
   ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
   मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥—द. रु., पृ.110
   आच्छाद्य लोचनयुगलं इतराया हर्षविकसितकपोलम्।
   यत् चुम्ब्यते वदनं तदपि प्रणयस्य सौभाग्यम्॥-का.लो. 66
   (3) तीर्थान्तरेषु............
   सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्। का. प्र.-144
   असमर्थमयं गंगा हन्ति सम्प्रति सादरम्॥ का. लो,-सू. 88 की वृत्ति

4. शरत्काल—............
   करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्।-का.-प्र.-157
   नेयार्थमिन्दु कुरुते चपेटापातनातिथिम्—का. लो.-सू. 88 की वृत्ति

उनके श्लोक या श्लोकांश के भाव को दूसरे शब्दों में अथवा संक्षेप में दे दिया गया है।

काव्यालोककार ने 2 स्थलों पर "काव्यप्रकाश" को मूल ग्रन्थ कहा है।[1] "काव्यालोक" के प्रथम पाँच प्रकाशों पर विशेषरूप से "काव्यप्रकाश" का प्रभाव लक्षित होता है। अन्तिम दो प्रकाश षष्ठ तथा सप्तम का अलंकार-विवेचन बहुत कुछ "रसगंगाधर" पर आधारित है। वास्तव में यह कृति एक प्रकार से शोध ग्रन्थ के समान ही प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थों से विषय ग्रहण कर उन्हें नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त रुद्रट, वामन, अप्पयदीक्षित, भोजराज, विश्वनाथ आदि अन्य काव्यशास्त्रकारों का भी स्थल-स्थल पर उल्लेख किया गया है। स्वयं हरिप्रसाद के शब्दों में उनकी यह कृति माधुकरी भिक्षा के समान है—

इयं माधुकरीभिक्षा सुमनोभ्यः समाहृता।
बालानां तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते॥[2]

मधुमक्खी एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाकर ही मधु का संचय करती है, इसी प्रकार घर-घर जाकर भिक्षा मांगना ही 'माधुकरी भिक्षा' कहलाता है। इस माधुकरी भिक्षा के समान ही हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से संचय करके, नवीनरूप में "काव्यालोक" को प्रस्तुत किया है।

(4) **अध्याय-क्रम से ग्रन्थ परिचय—**

"काव्यालोक" के प्रथम-प्रकाश का प्रारम्भ काव्य-प्रयोजन से हुआ है। उसके पश्चात् काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु और काव्य की आत्मा पर विचार किया गया। हरिप्रसाद ने काव्य की आत्मा "चमत्कार" को माना, अतः इस चमत्कार की स्थापना के लिये उन्होंने पूर्ववर्ती मतों का भी विवेचन किया। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और वामन के काव्य-लक्षण पर आक्षेप करते हुए उन्होंने स्वरचित काव्य-लक्षण दिया है।

इसी प्रकाश में शब्द का स्वरूप, शब्द के तीन भेद—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक का निरूपण किया गया है। तीन शब्द-शक्तियाँ-अभिधा, लक्षणा,

---

1. अत्रेत्थं मूलग्रन्थाभिप्रायः न काव्यधर्मो गुणः—का. लो.—सू. 97 की वृत्ति
   ओजः प्रसादो माधुर्यं चेति मूलग्रन्थः—का. लो.—सू. 10 की वृत्ति
2. का. लो.—पुष्पिका

व्यजना का तथा लक्षरणा के भेदोपभेद का वर्णन करने के साथ ही अनेक तर्कों के आधार पर व्यंजना की अनिवार्यता बताते हुए व्यंजना के भेद बताये हैं। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से काव्य के तीन भेदों का उदाहरण सहित विवेचन किया गया है।

द्वितीय प्रकाश का नाम "ध्वनिनिरूपणम्" है। नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें ध्वनि का विस्तार से विवेचन किया गया है। ध्वनि की परिभाषा तथा ध्वनि-भेद का उदाहरणसहित वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् गुणीभूतध्वनि काव्य (मध्यमकाव्य) के आठ भेदों की परिभाषा तथा उदाहरण दिये गये हैं।

तृतीय प्रकाश "रसविलास-प्रकाश" है। इसमें रस का निरूपण विस्तार से किया गया है। अभिनवगुप्त, भट्टनायक तथा नव्य-मत के अनुसार रस का विवेचन करके भरतमुनि के रससूत्र को प्रस्तुत किया है। रस विवेचन के पश्चात् रस-भेद में स्थायिभाव और रस का सम्बन्ध बताते हुए भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव को स्पष्ट किया है। इस विवेचन के मध्य ही आलम्वनस्वरूप नायक-नायिका-भेद भी उदाहरण-सहित विस्तार से प्रस्तुत किये गये हैं। तत्पश्चात् शृंगार, हास्य, करुण, भयानक, रौद्र, वीर, बीभत्स, अद्भुत और शान्त, इन नौ रसों के उदाहरण-सहित विवेचन के साथ इस प्रकाश की समाप्ति हो गयी है।

चतुर्थ प्रकाश में काव्य-दोषों का विवेचन है। उदाहरणसहित 16 प्रकार के दोष बताकर उन्हें पदगत, वाक्यगत, पदांशगत और समासगत रूप में प्रस्तुत किया है। 23 प्रकार के अर्थदोष और 13 प्रकार के रस-दोष तथा रस-दोष की अनित्यता का वर्णन किया गया है।

पंचम प्रकाश का नाम "गुणनिरूपणम्" है। काव्य में गुणों की स्थिति पर विभिन्न मत दिये गये हैं। मम्मटकथित ओज, प्रसाद और माधुर्य गुण की स्वीकृति तथा वामनोक्त दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण का वर्णन करके उनका अन्तर्भाव तीन गुणों में किया गया है। मधुर, प्रौढ़, परुष, ललित और भद्र इन पांच वृत्तियों का स्वरूप बताया गया है। वैदर्भी, पांचाली, लाटी और गौड़ी, इन चार रीतियों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

षष्ठ प्रकाश "शब्दालंकार-विवेचनम्" है। काव्य में अलंकार की स्थिति तथा गुण और अलंकारों में भेद स्पष्ट करते हुये पांच शब्दालंकार-वक्रोक्ति, अनु-

प्रास, यमक, श्लेष और चित्र का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित निरूपण किया गया है। "सरस्वतीकण्ठाभरण" में कथित 24 शब्दालंकारों का लक्षण और उदाहरणसहित विवेचन करके अन्य अलंकारों में उनके अन्तर्भाव का संकेत दिया है।

सप्तम प्रकाश "अर्थालंकार निरूपणम्" इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा भाग है। इसमें 71 अर्थालंकारों का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित विस्तार से विवेचन किया गया है।

(5) **अन्य कृतियाँ—**

हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की भी रचना की, इस विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ ग्रन्थों की प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। इन सभी ग्रन्थों में एक विशिष्टता या समानता यह है कि हरिप्रसाद को "माथुर मिश्र गंगेशात्मज" कहा गया है।

पीटर्सन ने "Detailed report of operations in search of Sanskrit Manuscripts in the Bombay Circle" के वॉल्यूम-II, पृ. 188 पर हरिप्रसादरचित "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" तथा वॉल्यूम III, पृ. 356–7 पर "काव्यालोक" का उल्लेख दिया है।

आफ्रेट ने "केटेलॉगस केटेलॉगोरम्" पार्ट 1, पृ. 758 पर माथुर मिश्र गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद के नाम से दो ग्रन्थ दिये हैं-"काव्यालोक" और "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक"। इसी स्थल पर अन्य हरिप्रसाद के नामों से "पिंगलसार" और "शास्त्रजलधिरत्नम्" ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पार्ट II, पृ.236 पर भी हरिप्रसाद के नाम से "महाविद्यामहिम्नस्तोत्र" ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस विवेचन से प्रतीत होता है कि उन्होंने हरिप्रसाद नाम के कई विद्वान् स्वीकार किये हैं। जिनमें से "काव्यालोक" और "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" ग्रन्थ के रचयिता तो गंगेश के हरिप्रसाद हैं। शेष "पिंगलसार", "शास्त्रजलधिरत्न" और "महाविद्यामहिम्नस्तोत्र" के रचयिता अन्य भिन्न-भिन्न हरिप्रसाद नामक व्यक्ति हैं।

डा. राघवन् ने "केटेलॉगस केटेलॉगोरम", वॉल्यूम 5, पृ. 226 पर गंगेश को हरिप्रसाद का पिता कहा है तथा हरिप्रसाद के नाम से चार ग्रन्थ दिये हैं— (1) काव्यार्थगुम्फ, (2) काव्यालोक, (3) शास्त्रजलधिरत्न, और (4) सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक।

पी. वी. काणे ने "हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पॉइटिक्स" (इन्डेक्स ऑफ ऑथर्स एण्ड वर्क्स) में माथुर मिश्र गंगेश के पुत्र हरिप्रसाद (लगभग 1718–1728 ई.) के नाम से दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है—"काव्यार्थगुम्फ" और "काव्यालोक"।

एस. के. डे ने "संस्कृत पॉइटिक्स"–वाल्यूम 1, पृ. 314 पर "काव्यालोक" तथा "काव्यार्थगुम्फ" ग्रन्थों के लिए ऑफ्रेट तथा पीटर्सन का सन्दर्भ दिया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हरिप्रसादरचित "मन्त्ररत्न" तथा "रुक्मिणीहरण" नामक ग्रन्थों का भी संकेत मिलता है। इस प्रकार हरिप्रसाद के नाम से आठ ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है—(1) काव्यालोक, (2) सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक, (3) महाविद्यामहिम्न, (4) पिंगलसार, (5) मन्त्ररत्न, (6) काव्यार्थगुम्फ, (7) शास्त्रजलधिरत्न और (8) रुक्मिणीहरण। "काव्यालोक" के अतिरिक्त अन्य रचनाओं का विवरण इस प्रकार है—

सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक—

ऑफ्रेट ने "केटेलॉगस केटेलॉगोरम" 1, 758 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसमें "पीटर्सन केटेलॉग",2, 188 का सन्दर्भ देते हुए लाहौर का उल्लेख किया गया है।

इस ग्रन्थ की तीन प्रतियाँ भिन्न-भिन्न स्थलों पर उपलब्ध हैं–(1) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, (2) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर और (3) राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर।

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में यह प्रति एम. एस. नं. 68/ए 1883–84 पर प्राप्त होती है। इसमें कुल पत्र हैं। माप –32×18 से. मी., पंक्ति-15, अक्षर–45 हैं। इसमें ग्रन्थ या प्रति के समय का उल्लेख नहीं किया गया है।

जोधपुर के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में यह "आह्निककृत्य" (सद्धर्मतत्त्व का भाग) नाम से ग्रन्थ-संख्या 26354 पर सुरक्षित है। यह प्रति वि. सं. 1917 की है। इसमें कुल पत्र-संख्या–9, माप –25.5×11.7, पंक्ति–10, अक्षर-34 हैं।

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर में यह ग्रन्थ-संख्या-3440 पर "आचारतत्त्व"(आह्निनककृत्यमंत्रवोध्यम्) नाम से प्राप्त है। इसमें पत्र-संख्या-16, पंक्ति-7, अक्षर 26, माप–13.2×25.5 है। इस प्रति का भी समय नहीं दिया गया है, परन्तु लिपि के आधार पर यह भी 20वीं शती की प्रतीत होती है।

सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" की तीनों प्रतियों का अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि इनमें अनेक स्थानों पर पाठभेद है। पूना की प्रति में कई स्थलों पर वर्ण, पद या वाक्य छूट गये हैं, जो जोधपुर और अलवर की प्रतियों में प्राप्त होते हैं। जोधपुर और पूना की प्रति में संख्या 61 के पश्चात् समानता है। जोधपुर

की प्रति में समय का उल्लेख किया गया है, जो पूना की प्रति में नहीं है। अलवर की प्रति में आगे भी बहुत-सी पंक्तियाँ दी गयी हैं, जिनमें हरिप्रसाद के वंश इत्यादि के बारे में विवरण दिया गया है। पूना और जोधपुर की प्रतियों में प्रत्येक विषय का वर्णन करके "इति शौचप्रकरणम्" इत्यादि लिखा है। परन्तु अलवर की प्रति में यह नहीं है। जोधपुर की प्रति में कहीं पाठ पूना की प्रति के समान है, तो कहीं अलवर की प्रति के समान है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनों प्रतियों का मूल एक ही है, परन्तु प्रतिलिपिकार भिन्न-भिन्न होने से इनमें पाठभेद लक्षित होता है।

"काव्यालोक" के समान इस ग्रन्थ का प्रारम्भ भी "श्री गणेशाय नमः" से ही हुआ है। तीनों प्रतियों में ही ग्रन्थ के अन्त में हरिप्रसाद को माथुर मिश्र गंगेश का पुत्र बताया गया है। अतः यह निश्चित है कि "काव्यालोक" के रचयिता हरिप्रसाद की ही यह कृति है।

यह धर्मशास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें शौच, आचमन, दन्तधावन, स्नान, संध्या, होम, तर्पण, देवपूजा, वैश्वदेव, भोजन तथा शयनविधि बतायी गयी है।

जोधपुर की प्रति के अनुसार ग्रन्थ का प्रारम्भ तथा अन्त इस प्रकार है—

प्रारम्भ—

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

नत्वाहेरंबमातुः पदकमलयुगं प्रातरुत्थाय पुण्य—
श्लोकान्स्मृत्वाऽथ रक्षो दिशिपटपिहितं कं विधायेषु मात्रम् ।
गत्वा ग्रामार्द्ध यज्ञैस्तृणदलनिचयैराऽऽवृतायामऽभस्म
क्षेत्रांभो पर्वतायां भुविविगतवचाः कर्ममैत्रं विदध्यात् ॥1॥

अन्त—

निःशंकं धर्मशास्त्रेष्ववितथवचसां तन्निबंधैरनेकै—
र्भारो मा भूदिति क्ष्मासुरमुकुटमणे मिश्रगंगेश्वरस्य ।
पुत्रेण प्राक्प्रसादाद्हरिपदललितेन प्रवद्धेन वद्यैः
पद्यैः सद्धर्मतत्त्वे सममवदखिलं पूर्णमाह्लेयकृत्यम् ॥ 62 ॥

इति शयनविधिः ॥

इति श्रीमन्माथुरमिश्रगंगेशात्मजहरिप्रसादविरचितं सद्धर्मतत्त्वे आह्निकं समाप्तम्। शुभं लेखकपाठकयोः। सम्वत् 1917 मि. मार्ग व. 3

पूना की प्रति में भी कुछ पाठ-भेद के साथ यही अंश दिये गये हैं, केवल अन्त में समय का उल्लेख नहीं है। अलवर की प्रति में भी कुछ पाठ भेद के साथ प्रारम्भ तथा अन्त संख्या–61 तक समान है। तत्पश्चात् आगे भी कुछ पंक्तियाँ–

दी गई हैं, जिनमें हरिप्रसाद के वंशादि का विवरण दिया गया है। अलवर की प्रति के अनुसार अन्तिम अंश इस प्रकार है—

पांडवा[1] इव तस्यासन् पंचपुत्रा महौजसः ।
प्रकाशंते धरावेद्यां[2] तेष्वग्नय इव त्रयः ॥ 66 ॥
श्रीविद्यानंदरूपेशश्रीगंगेशेन सा त्रयी[3] ।
मुख्येन राजते भूमौ रुद्रेणेव सुरत्रयी ॥ 67 ॥
हरिप्रसादेन कृतं तत्पुत्रेणेदमाह्निकं ।
आकल्पमाकल्पमिव कंठेधार्यं द्विजातिभिः ॥ 68 ॥

इति हरिप्रसादकृत आचारतत्त्वं समाप्तम् ।

महाविद्यामहिम्न—

यह ग्रन्थ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर में उपलब्ध है। आफ्रेट के "केटेलागस केटेलॉगोरम", 11, 236 पर भी इसका उल्लेख किया गया है। अलवर में उपलब्ध प्रति से स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ भी "काव्यालोक" की रचना करने वाले मथुरा-निवासी गंगेश के पुत्र हरिप्रसाद की ही रचना है। इस ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका में लिखा है—

इति श्री मद्गंगेश्वरतनुजवर्येण हरिणा ।
प्रसादोपात्ताख्येन[4] च मधुपुरीवासिविदुषा[5] ॥
महाविद्यायंत्रोद्धति[6] सकलरूपोद्धृतियुतम् ।
कृतं स्त्रोत्रं पुण्यं[7] गगनवसुशैलेन्दुसमये ॥ 22 ॥

इति श्री मन्मिश्रगंगेशस्या[8]परतनुजहरिप्रसाद[9]मिश्रविरचितं महाविद्यामहिम्नं समाप्तम् ॥ 1 ॥

---

1. ० डव
2. तेष्य ०
3. ० त्रयं
4. ० ताख्योन
5. ० रीवासीविदुपा
6. ० यंत्रौद्धति
7. पुभण्यं
8. ० शमाप ०
9. ० सादिमि ०

अलवर में उपलब्ध इस प्रति में कुल 7 पत्र हैं। माप – 20×8.5 से. मी. पंक्ति – 5, अक्षर – 25 हैं। प्रति अच्छी अवस्था में है तथा लिपि स्पष्ट है। पुष्पिका से स्पष्ट है कि ग्रन्थ का रचनाकाल सं. 1780 है। "काव्यालोक" का रचनाकाल सं. 1784 है, अतः यह उससे पूर्व की रचना है।

यह ग्रन्थ स्तोत्र से सम्बन्धित है। पद्य में विरचित 22 श्लोकों का यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है—

श्री गुरुभ्यो नमः।
कालीताराछिन्नमस्ताषोडशीभुवनेश्वरी।
भैरवी श्रीमतंगी च वगलाधूमवत्यपि[1] ॥1॥
चिदानंदे विंदौ चिदजलमयूखोदरचरी,[2]
[3]हरीशानब्रह्मेश्वरघटितमंचे कृतपदाम्।
प्रपंचं सिंचानाममृतरसलावण्यलहरी,
गमीरामिर्दिग्भिर्जननि[4] तव वन्दे महिकलाम् ॥2॥

पिंगलसार—

ऑफ्रेट के "कैटेलॉगस केटेलॉगोरम" पार्ट 1, पृ. 758 पर उल्लिखित इस ग्रन्थ की प्रति "राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान" की बीकानेर तथा जोधपुर दोनों शाखाओं में मिलती है।

प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में यह ग्रन्थ-संख्या – 1253 पर उपलब्ध है, जिसमें पाँच पत्र हैं। माप – 25.3×12.1, पंक्ति – 14, अक्षर – 40 हैं। इस प्रति में ग्रन्थ-रचना अथवा प्रतिलिपि के समय का कोई उल्लेख नहीं है।

प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर में ग्रन्थ संख्या 1878 पर उपलब्ध प्रति में भी पाँच पत्र हैं। माप – 22×9.8, पंक्ति – 14, अक्षर – 40 हैं। इस प्रति में ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम् ॥
संवत् 1806 मंगसरवदि 2 दिने।

इससे स्पष्ट है कि मंगसरवदि 2, सम्वत् 1806 में यह ग्रन्थ लिखा गया।

---

1. ० धूमेवत्यपि
2. ० चंरी
3. हरिशा ०
4. ० जननि

परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि कि सं० 1806 ग्रन्थ-रचना का समय है या प्रतिलिपि का। ग्रन्थ की वृत्ति के अन्त में प्रतिलिपिकार का भी उल्लेख है—

पंडितलक्ष्मीचन्दगणिना लेखि विक्रमपुरे।

अतः यह ज्ञात होता है कि विक्रमपुर (बीकानेर) में ही पण्डित लक्ष्मीचन्द गणि ने इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि की। संवत् 1806 को "पिंगलसार" का रचना-काल माना जा सकता है। "काव्यार्थगुम्फ" का रचनाकाल सं० 1775, "महाविद्यामहिम्न" का सं. 1780 और "काव्यालोक" का सं. 1784 है। अतः सम्भव है कि यह हरिप्रसाद की परवर्ती रचना हो।

"पिंगलसार" ग्रन्थ की जोधपुर तथा बीकानेर, दोनों ही प्रतियों के मूल-भाग में यह उल्लेख नहीं है कि ग्रन्थकार हरिप्रसाद "माथुर मिश्र गंगेश" के ही पुत्र है या भिन्न व्यक्ति है। परन्तु ग्रन्थ के अन्त में वृत्ति में लिखा है—

गंगेशगुरुपादाब्जमकरंदप्रसादतः।

इससे प्रतीत होता है कि गंगेश के पुत्र हरिप्रसाद ने इस ग्रन्थ की रचना की।

"पिंगलसार" की दोनों प्रतियों में पाठ तथा लेखन-शैली प्रायः समान ही है। इसे पंचपाट या पंचपाठ के रूप में लिखा गया है अर्थात् मूल-ग्रन्थ पत्र के मध्य-भाग में कुछ मोटे अक्षरों में लिखा गया और वृत्ति-भाग उसके ऊपर-नीचे कुछ बारीक अक्षरों में दिया गया है, तथा दाहिने और बायें हाशिये में भी आवश्यक विवेचन किया गया है।

"पिंगलसार" एक छन्दशास्त्र का ग्रन्थ है। मूल-ग्रन्थ में 25 पद्य हैं। छन्दों को स्पष्ट करने के लिए मूल-पाठ के साथ ही मात्रा-गणना आदि का भी संकेत किया गया है।

प्रारम्भ—षट्पंचचतुस्त्रिद्विप्रमिताष्टठडढण पंच गण मात्राः।

विश्वे वसु पंचाग्नि द्वाविति भेदाः क्रमेण विस्तारे ॥ 1 ॥

अन्तिम—प्रस्तारज्ञानार्थं कौतुकहेतोश्च निखिलसुधियाम्।

मेरुपताकादीनां लक्षणमुक्तं समासेन ॥ 25 ॥

इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम्। सम्वत् 1806 मंगसरवदि 2 दिने।

वृत्ति का अन्तिम अंश—

गंगेश-गुरु-पादाब्जमकरंदप्रसादतः।

सारोद्धारः कृतोनेन प्रीयतां परमेश्वरः ॥26॥

इति नष्टोद्दिदष्टादिलक्षणम्। पंडितलक्ष्मीचन्दगणिना लेखि विक्रमपुरे॥

बीकानेर और जोधपुर दोनों ही प्रतियों में प्रारम्भ समान ही है, परन्तु अन्त-भाग में उपर्युक्त पंक्तियाँ बीकानेर की प्रति की हैं। जोधपुर की प्रति में—"इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणं समाप्तम्" लिखा है, आगे समयोल्लेख की पंक्ति नहीं है। इसी प्रकार वृत्ति-भाग में भी "26 इति" लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है, आगे पंक्तियाँ नहीं लिखी हैं।

मन्त्ररत्न—

ऑफ्रेट तथा डॉ० राघवन् के "केटेलॉगस केटेलॉगोरम" में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। परन्तु राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर शाखा में ग्रन्थ-संख्या—187 पर इसकी प्रति मिलती है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्रीमत्समस्ततंत्रार्णवप्रज्ञानौकर्णधारमिश्रगंगेशात्मजहरिप्रसादमाथुर-निर्मिते मंत्ररत्ने तृतीयो मयूखः।"

इस पुष्पिका से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ भी माथुर मिश्र गंगेशात्मज हरिप्रसाद का लिखा हुआ है।

इस प्रति में 13 पत्र, 7 पंक्तियाँ तथा 20 अक्षर हैं। इसकी माप—14·6 × 9·2 है। इसमें रचनाकाल अथवा प्रति के समय के विषय में कोई उल्लेख नहीं है, लिपि के आधार पर यह प्रतिलिपि उन्नीसवीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

यह ग्रन्थ पूर्ण उपलब्ध नहीं है। इस प्रति में ग्रन्थ का केवल द्वितीय तथा तृतीय मयूख ही दिया गया है। प्रत्येक पत्र के 'ब' भाग में "श्री" शब्द लिखा हुआ है। यह एक छोटा-सा पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसके 13 पत्रों में से 10 पत्रों में द्वितीय मयूख है, जिसमें 53 पद्य हैं। अन्तिम तीन पत्रों में तृतीय मयूख है, जिनमें केवल 9 पद्य हैं।

"मंत्ररत्न" ग्रन्थ तन्त्र पर आधारित है। द्वितीय मयूख का नाम "नित्य-कृत्य" है, जिसमें "षडक्षरी मन्त्रविधि" तथा "पूजाविधि" वर्णित है। तृतीय-मयूख में "जप-ध्यान" दिया गया है।

प्रारम्भ—श्री गणेशाय नमः।

ओम् उन्नतैककुचमुन्नतनासं चैकतः श्लथमंदकूलम्।
एकतः कनकहरमुदारणेरमस्तु सुखदं शिववस्तु ॥ 1 ॥

प्रणवं कमलामथोद्धरेद् भुवनेशीं मकरध्वजं ततः।
वनितां वनवैरिण [:] स्मृता जगदुज्जीवनिका षडक्षरी ॥2 ॥

अन्तिम—नीला नाभेरधस्तादुपरिपरिपतन्मत्तमैलन्दकान्तिः,
कान्ता शम्भोस्तदूर्ध्वं समुदिततपनस्पष्टरोचिः प्रसन्ना।

ध्याता सर्वेष्टसिद्ध्यै सुरनरनमिता भर्गभाग्यैकसीमा,
भूयादित्यद्रिपुत्री पतिमुपनयति स्वीयवाक्पेलवेषु ।। 9 ।।

काव्यार्थगुम्फ—

एस. के. डे ने "संस्कृत पोइटिक्स", वॉल्यूम 1, पृ. 314 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। डॉ० राघवन् ने वॉल्यूम 4, पृ. 111 पर इसका सन्दर्भ दिया है—BORID (Descriptive Catalogue of the Government Collection of manuscripts deposited in the Bhandarker Oriental Institute, Poona–4) Vol. XII–131.

पूना से सन् 1936 में प्रकाशित इस केटेलॉग के वॉल्यूम 12 (अलंकार, संगीत और नाट्य) में पृ. 145 पर ग्रन्थ संख्या—131 पर यह ग्रन्थ उल्लिखित है। "भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना" में इस ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है।

पूना की इस प्रति का माप $7\frac{1}{2}$ इंच $\times$ $4\frac{1}{2}$ इंच है। इसमें कुल 12 पत्र हैं, एक पृष्ठ में 10 पंक्तियां हैं। इसे बहुत पुराने व पतले कागज पर देवनागरी लिपि से लिखा गया है। परन्तु इसके अक्षर बहुत स्पष्ट और पठनीय हैं। ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् 1775 है तथा यह गंगेशतनय हरिप्रसाद की ही रचना है—

इति श्री श्रीमद्गंगेशतनयहरिप्रसादमाथुरनिर्मितः परिसमाप्तोऽयं काव्यार्थगुंफः। श्रीरस्तु। संवत् 1755 माघशुक्लपौर्णिमायां शनौ। (काव्यार्थगुंफ की पुष्पिका)।

"काव्यार्थगुंफ" के पत्र 5 अ, पंक्ति 7 पर "तदुक्तं तातचरणैः" लिखकर इसके ऊपर संकेत करके दक्षिणपार्श्व में "श्रीमद्गंगेशमिश्रैः" लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि निश्चितरूप से यह रचना गंगेशमिश्र के पुत्र हरिप्रसाद की है। इसके समय-उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिप्रसाद की कृतियों में सम्भवतः यह उसकी प्रथम रचना है।

"काव्यार्थगुंफ" एक अलंकारशास्त्रीय रचना है। इस ग्रन्थ का अध्याय के रूप में विभाजन नहीं किया गया है। अलंकारशास्त्रीय विषयों का क्रमशः विवेचन कर दिया गया है। विषय-विवेचन में लक्षण देकर उसे समझाया गया है, उदाहरण बहुत कम स्थलों पर दिये गये हैं।

"काव्यार्थगुंफ" तथा "काव्यालोक" का विषय एक ही है। "काव्यार्थगुंफ" में प्रत्येक विषय का अतिसंक्षेप में वर्णन किया गया है, परन्तु "काव्यालोक" में उन्हीं विषयों का विस्तार से उदाहरण-सहित विवेचन किया गया है। ऐसा

प्रतीत होता है कि हरिप्रसाद ने पहले "काव्यार्थगुंफ" में अलंकारशास्त्रीय विषयों का संक्षेप में विवेचन किया। परन्तु कालान्तर में उनके विस्तार की आवश्यकता समझकर "काव्यालोक" का निर्माण किया।

प्रारम्भ—॥श्री गणेशाय नमः ॥

लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टः शब्दः काव्यम्। तस्य चाह्लादकीर्त्याद्यनेकप्रयोजनवतो देवताप्रसादाद्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां वा घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिरेव कारणं, काव्यं श्रुतमर्थो नावगत इत्यादौ शब्द एव लोकप्रतीतिपर्यवसानात्।

अन्तिम—इत्यलंकाराः। इत्थं चादुष्टं गुणवत्सालंकारं काव्यं परमपुरुषार्थसमर्थकमिति सर्वं शिवम्।

प्राचां मतानुरोधेन बालव्युत्पत्तिहेतवे।
काव्यगुंफः कृतोनेन प्रीयतां हरवल्लभा ॥ 1 ॥
यः शब्दरचनाभंगो यश्चार्थगुणविप्लवः।
नावमान्यो हि बालानां वाक्यं कर्णरसायनम् ॥ 2 ॥

इति श्रीमद्गंगेशतनयहरिप्रसादमाथुरनिर्मितः परिसमाप्तोयं काव्यार्थगुंफः ॥ श्रीरस्तु ॥ संवत् 1775 माघशुक्लपौर्णिमायां शनौ ॥

(6) शास्त्रजलधिरत्न—

"आफ्रेट" के केटेलॉगस केटेलॉगोरम", पार्ट 1. पृ. 758 पर इस ग्रन्थ का उल्लेख है। डॉ० राघवन् के "न्यू केटेलॉगस केटेलॉगोरम", वॉल्यूम 5, 1969, पृ. 226 पर उल्लिखित इसका सन्दर्भ पी.यू.एल. –II पृष्ठ 67 का दिया है। पी.यू.एल. से अभिप्राय है—

"A Catalogue of Sanskrit manuscripts in the Punjab University Library" Lahore, Vol. I, 1932; Vol. II, 1941.

परन्तु इस ग्रन्थ की कोई भी प्रति प्राप्त नहीं हो सकी।

रुक्मिणीहरण—

यह ग्रन्थ किसी भी सूचीपत्र में अथवा किसी स्थान पर प्राप्त नहीं हुआ है। परन्तु "काव्यालोक" के षष्ठ प्रकाश में इस ग्रन्थ का संकेत दिया गया है—

एतेषामुदाहरणांतराणि अस्मत्कृतरुक्मिणीहरणादौ स्पष्टमवलोकनीयानि।[1]

इससे स्पष्ट है कि हरिप्रसाद ने "रुक्मिणीहरण" की रचना की होगी, परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाया है।

---

1. का.लो.—सू. 119 की वृत्ति ('प्रेक्ष्य' के विवेचन के अन्तर्गत)

कृतिकार का समय एवं स्थान—

पी.वी. काणे[1] ने माथुर मिश्र गंगेश के पुत्र हरिप्रसाद का समय लगभग सन् 1718–1728 बताया है।

काव्यालोककार हरिप्रसाद के समय के विषय में उनकी कृतियों में संकेत प्राप्त होता है। हरिप्रसाद के चार ग्रन्थों में रचना-काल दिया गया है, जिनके आधार पर हरिप्रसाद का समय-निर्धारण किया जा सकता है।

"काव्यार्थगुंफ" की रचना उन्होंने सम्वत् 1775 की माघशुक्ल पूर्णिमा को की—"सम्वत् 1775 माघशुक्लपौर्णिमायां शनौ।"

"महाविद्यामहिम्न" की पुष्पिका में उसका रचनाकाल 1780 दिया है—

कृतं स्तोत्रं पुण्यं गगनवसुशैलेन्दुसमये।

गगन–0. वसु–8, शैल–7, और इन्दु 1 संख्या का वाचक है, अतः सम्वत् 1780 में यह ग्रन्थ लिखा गया है।

"काव्यालोक" के अन्त में लिखा है—

अब्धिदिङ्मुनिभू 1784 वर्षमाघशुक्लमुनौ 7 रवेः।
काव्यालोकमिदं पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ॥

अब्धि–4, दिक्–8, मुनि–7 तथा भू–1 संख्या का वाचक है, अतः अब्धिदिङ्मुनिभू का अर्थ हुआ—1784। हरिप्रसाद ने सूर्य के संक्रमण की माघ शुक्ला सप्तमी को संवत् 1784 में "काव्यालोक" पूरा किया।

"पिंगलसार" में हरिप्रसाद ने लिखा है—

"इति हरिप्रसादोन्नीते पिंगलसारे नष्टोद्दिष्टादिलक्षणम्। संवत् 1806 मंगसरवदि 2 दिने।"

इससे स्पष्ट है कि "पिंगलसार" की रचना सम्वत् 1806 में हुयी।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि हरिप्रसाद ने सं. 1775 में "काव्यार्थगुम्फ", सं. 1780 में "महाविद्यामहिम्न", सं. 1784 में "काव्यालोक" तथा सं. 1806 में "पिंगलसार" ग्रन्थों की रचना की। सम्वत् 1775 से 1806 तक वह निश्चित रूप से ग्रन्थों की रचना करते रहे। अतः हरिप्रसाद का समय भी यही स्वीकार करते हुए 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उनको माना जा सकता है।

---

1. History of Sanskrit Poetics—Index of Authors & Works.

हरिप्रसाद के निवास-स्थान के बारे में भी उनकी कृतियों से संकेत मिलता है। हरिप्रसाद के प्रत्येक ग्रन्थ की पुष्पिका में उनको "माथुर मिश्र गंगेशात्मज" कहा गया है। "काव्यालोक" के प्रत्येक प्रकाश की समाप्ति पर भी इसका उल्लेख किया गया है। "महाविद्यामहिम्न" ग्रन्थ की पुष्पिका में हरिप्रसाद को "मधुपुरीवासी" (मथुरा का निवासी) कहा गया है। अतः हरिप्रसाद को मूलरूप से मथुरा का रहने वाला माना जा सकता है।

हरिप्रसाद के ग्रन्थों के प्राप्ति-स्थल पर अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि इनमें से "काव्यालोक" जयपुर-महाराजा के पुस्तकालय में प्राप्त होता है। अन्य ग्रन्थ भी राजस्थान के अन्य स्थानों अलवर, जोधपुर, बीकानेर और जयपुर में उपलब्ध हैं। केवल एक प्रति पूना में उपलब्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि हरिप्रसाद का सम्बन्ध राजपूताना से अवश्य रहा होगा। कछवाहा नरेश से भी इनका सम्बन्ध होगा, क्योंकि "काव्यालोक" के सप्तम प्रकाश में प्रतीप अलंकार के उदाहरण में कूर्माधिप (कछवाहा नरेश) के पृथ्वी पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख किया गया है—

> रत्नानां निलयः सुधासमुदयः क्षोणीतलेऽर्द्धासनं
> गांभीर्येण पराश्रयः सुविदितो मत्वेति मा गा मदम्।
> भो रत्नाकर! तावकीयमहिमानिर्माणसर्वं सहः
> सम्प्रत्येष धरावलम्बितपदो जागर्ति कूर्माधिपः ॥[1]

"लिट्रेरी हेरिटेज ऑफ दी रूलर्स ऑफ आम्बेर एण्ड जयपुर" में श्री गोपाल नारायण बहुरा ने लिखा है—

> "The author, somehow or other, seems to be connected with the royal कूर्मवंश as he mentions. It is a verse as an example of प्रतापवर्णन—
>
> रत्नानां निलयः..................................कूर्माधिपः ॥
>
> On the margin the word कूर्म is explained as कछवाहा इति भाषा।
>
> The date of composition 1784 V. S. (1728 A. D.) corresponds to the time of Sawai Jai Singh and the auspicious years of the foundations of the City of Jaipur by him.........." (Page 350–1)

---

1. का. लो.—360

इन पंक्तियों में श्री वहुरा ने हरिप्रसाद का सम्बंध कूर्मवंश से स्वीकार किया है। कूर्मवंश का अभिप्राय कछवाहा वंश से है। कछवाहा राजपूतों का पिछली लगभग एक सहस्राब्दि तक जयपुर और इससे पूर्व आमेर राजधानी वाले राज्य पर आधिपत्य रहा है। "काव्यालोक" का रचनाकाल सन् 1727 (वि. सं. 1784) है, यह वही सन् है, जिस वर्ष सवाई जयसिंह ने जयपुर का निर्माण प्रारम्भ किया था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जयपुर राजघराने से भी हरिप्रसाद का सम्बन्ध रहा होगा।

(7) व्यक्तित्व—

काव्यशास्त्रीय परम्परा में "काव्यालोक" परवर्ती रचना है, अतः किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में "काव्यालोक" अथवा हरिप्रसाद के बारे में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। किसी भी ग्रन्थकार के बारे में वाह्य प्रमाण अथवा अन्तः प्रमाण के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है। हरिप्रसाद के व्यक्तित्व के लिए वाह्य-प्रमाण का अभाव होने से, केवल उनकी कृतियों द्वारा अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है।

हरिप्रसाद की प्रत्येक कृति के अन्त में तथा "काव्यालोक" के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में हरिप्रसाद को "माथुर मिश्र गंगेशात्मज" कहे जाने से यह निश्चित है कि हरिप्रसाद गंगेश के पुत्र थे।

हरिप्रसाद के वंश के विषय में संकेत "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" की अलवर-प्रति के अन्तिम पत्र से मिला है। हरिप्रसाद के पूर्व पुरुष भी विद्वान् थे और परम्परागत विद्वत्ता उनमें विद्यमान थी। प्रसिद्ध माथुर कुल में उनका जन्म हुआ, जिसमें प्रथम मकरंद नामक व्यक्ति हुए। ये परम विद्वान् थे। इनके पाँच पुत्रों में से तीन पुत्र प्रसिद्ध हुए—श्री विद्यानन्द, रूपेश और गंगेश। इनमें से गंगेश प्रतिभाशील थे। इन्हीं गंगेश के पुत्र हरिप्रसाद हुए जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की—

मकरंदः प्रथमो भून्माथुरकुलपुंडरीकमकरंदः।
देवपुरोहितमपि यो पुरोहितेनात्मना जहास सुखम् ।। 63 ।।
पांडवा[1] इव तस्यासन् पंचपुत्रा महौजसः।
प्रकाशंते धरावेद्यां[2] तेष्वग्नय इव त्रयः ।। 66 ।

1. ० इव

2. तेष्य ०

श्रीविद्यानन्दरूपेशश्रीगंगेशेन सा त्रयी[1] ।
सुख्येन राजते भूमौ रुद्रेणेव सुरत्रयी ।। 67 ।।
हरिप्रसादेन कृतं तत्पुत्रेणेदमाह्निकं ।
आकल्पमाकल्पमिव कंठेधार्यं द्विजातिभिः ।। 68 ।।

—आचारतत्त्वम्, पत्र 16

गंगेश के पुत्रों में से हरिप्रसाद दूसरे पुत्र थे· क्योंकि "महाविद्यामहिम्न" में इन्हें अपरतनुज कहा गया है—

इति श्रीमन्मिश्रगंगेशस्या[2]परतनुजहरिप्रसाद[3]मिश्रविरचितं महाविद्यामहिम्नं समाप्तम् ।।

—महाविद्यामहिम्न, पत्र 7 व

हरिप्रसाद के गुरु श्री रामार्य थे, जिन्होंने "अष्टोत्तरशतमणिमाला" नामक ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ का एक पद्य "काव्यालोक" में परिकर अलंकार के उदाहरण-रूप में उद्धृत है ।[4] 'गुण–विवेचन में भी उन्होंने अपने गुरु के मत का उल्लेख किया है ।[5] हरिप्रसाद अपने गुरु का आदर करते थे ।[6]

हरिप्रसाद के शिष्य सुखलाल थे, जिन्होंने "अलंकारमंजरी" नामक ग्रन्थ की रचना की । सुखलाल गंगेश और हरिप्रसाद दोनों के शिष्य थे ।[7]

हरिप्रसाद की "काव्यालोक" तथा अन्य कृतियों से यह स्वतः स्पष्ट है कि वह संस्कृत के परम विद्वान् थे । इन्होंने काव्यशास्त्रीय अनेकानेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन तथा मनन किया होगा । "काव्यालोक" में अनेक स्थलों पर रुद्रट, वामन, भोजराज, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों का उल्लेख किया गया है । इनका क्षेत्र केवल काव्यशास्त्र तक ही सीमित नहीं था, अन्य

---

1. ० त्रयं
2. ० शमाप ०
3. ० सादिमि ०
4. अतएव श्रीरामार्याष्टोत्तरशतमणिमालायामस्मद्गुरूणां पद्ये परिकरप्रस्तावः ।
यथा–कोशलपाल कृपालय पालय मामपि लघीयांसम् ।
तिरयति कथं तमो मां त्वामनुसृत्यांशुमालिवंशमणिम् ।। 278 ।।
5. "....इत्यस्मत्तातचरणाः"–का. लो. सू. 97 की वृत्ति
6. "काव्यालोकमिदं पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ।"–का. लो., पुष्पिका
7. "केटेलॉगस केटेलॉगोरम"—ऑफ्रेट, II, 182

विषयों पर भी इन्होंने ग्रन्थ-रचना की। काव्यशास्त्र पर इनके दो ग्रन्थ हैं—"काव्यालोक" और "काव्यार्थगुम्फ"। अन्य ग्रन्थों में से "सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक" धार्मिक ग्रन्थ है। महाविद्यामहिम्न" स्तोत्र से सम्बन्धित है। "पिंगलसार" छन्दःशास्त्र का ग्रन्थ है। "मन्त्ररत्न" तन्त्र पर लिखा गया है। "रुक्मिणीहरण" काव्य का उल्लेख भी मिलता है। अतः काव्यशास्त्र, धर्म, स्तोत्र, छन्द, तन्त्र तथा काव्य सभी विषयों का उन्हें विशिष्ट ज्ञान था।

हरिप्रसाद विद्वान् होने के साथ ही श्रेष्ठ कवि भी थे। "काव्यालोक" में अनेक स्थानों पर उन्होंने उदाहरणरूप में स्वरचित पद्य भी दिए हैं। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ कवित्व-रचना-सामर्थ्य उनमें विद्यमान थी।

हरिप्रसाद के स्वभाव में विनम्रता व्याप्त थी। माधुकरीभिक्षारूप "काव्यालोक" की रचना से उनके मन में कोई गर्व नहीं है। "काव्यालोक" की पुष्पिका में उन्होंने पाठकों को विद्यागुरु और स्वयं को शिशु के समान माना है।

2—ग्रन्थ का विषय-विवेचन एवं अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन

(1) काव्य-प्रयोजन

"काव्यालोक" ग्रन्थ का प्रारम्भ काव्य-प्रयोजन से हुआ है। वर्णनीय विषय प्रस्तुत करने से पूर्व काव्य के प्रयोजन इस प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं—

"काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्त्यादिफलयोगिनः।
हरिप्रसादविदुषा मीमांसा कापि तन्यते॥ सू. 1॥

उक्त कारिका में काव्य को परमाह्लाद, कीर्त्ति आदि फल से युक्त बताया गया है। "आदि" पद को स्पष्ट करते हुए कारिका की वृत्ति में कहा है—

"आदिपदाद्धावकादीनामिव धनं मयूरादीनामिवानर्थनिवृत्तिरित्यादि धनानर्थनिवृत्तिव्यवहारज्ञानादिकं संगृह्यते।" —"आदि" पद से धावक आदि कवियों को धन, मयूर आदि कवियों की अनर्थ–निवृत्ति इत्यादि धन, अनर्थनिवृत्ति, व्यवहारज्ञान आदि प्रयोजनों का ग्रहण होता है।

इस प्रकार "काव्यालोक" में परमाह्लाद, कीर्त्ति, धनप्राप्ति, अनर्थनिवृत्ति, व्यवहारज्ञान आदि काव्य-प्रयोजन बताये हैं। इनमें से परमाह्लाद को "सकलप्रयोजनमौलिभूतम्" समस्त काव्य-प्रयोजनों का शिरोमणि माना गया है।

भामह, वामन, रुद्रट, कुन्तक, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रायः सभी संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में काव्य-प्रयोजनों[1] का निरूपण किया है।

काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के अभिमतों में मम्मट का विवेचन सर्वाधिक स्पष्ट एवं व्यावहारिक है। मम्मट ने काव्य के 6 प्रयोजन बताये हैं—1. यश, 2. धन की प्राप्ति, 3. व्यवहार-ज्ञान, 4. अनर्थनिवृत्ति, 5. आनन्द-प्राप्ति और 6. कान्तासम्मित उपदेश।[2]

स्पष्ट है कि मम्मटोक्त काव्य-प्रयोजन ही हरिप्रसाद ने प्रस्तुत किये हैं। "काव्यालोक" में परमाह्लाद, कीर्ति, धन-प्राप्ति, अनर्थनिवृत्ति और व्यवहार-ज्ञान, इन पाँच काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख किया है।

मम्मटोक्त "उपदेश" का कथन नहीं किया गया। परन्तु "आदि" पद से प्रतीत होता है कि सम्भवतः उन्हें अन्य प्रयोजन भी स्वीकार हैं और उनमें "उपदेश" भी हो सकता है। आचार्य मम्मट के समान हरिप्रसाद ने भी आनन्द को "सकलप्रयोजनमौलिभूतम्" समस्त प्रयोजनों में शिरोमणि स्वीकार किया है।

(2) काव्य-हेतु

हरिप्रसाद के अनुसार अतिशय चमत्कारात्मक काव्य के शरीर का कारण बीजसहित कवि का सरस प्रतिभारूपी अंकुर ही है—

सबीजस्य कवेस्तत्र सरसप्रतिभांकुरः।
कारणं वपुषस्तस्य चमत्कारपरात्मनः॥ सू. 4॥

"बीज" को स्पष्ट करते हुए कारिका की वृत्ति में लिखा है–"प्राक्तनसंस्कार-विशेषो बीजं यं विना निर्मातृत्वस्वादकलाविरहः"—पहले से रहने वाला संस्कार विशेष बीज है, जिसके बिना निर्मातृत्व की स्वादकला नहीं हो सकती। यह बीज ही काव्य का कारण है। काव्य-संघटना के अनुकूल जो शब्द और अर्थ की उपस्थिति होती है, उसमें बीज तो मूलरूप में विद्यमान रहता ही है, साथ ही उसके तीन अन्य कारण भी हैं—(1) देवताओं की प्रसन्नता, (2) लोक-व्यवहार,

---

1. भा. काव्या.—1, 20; काव्या. सू.–1, 1, 5; रु. काव्या.–12, 1; वक्रोक्ति.-1, 3-5, सा. द. 1, 2; रस; 1, पृ. 8
2. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ का. प्र.-1, 2

शास्त्र, काव्य, इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति और (3) पुनः पुनः काव्य-शिक्षा का अभ्यास। संस्कारविशेष बीज में इन तीनों कारणों से काव्यसंघटना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति होती है और इस बीज के प्रतिभा रूपी अंकुर से काव्य उत्पन्न होता है। अतः कवि में पूर्वविद्यमान संस्काररूप बीज का सरस प्रतिभारूपी अंकुर ही काव्य का कारण है और इसमें देवताओं की प्रसन्नता, व्युत्पत्ति और अभ्यास भी अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति में सहायक हैं।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रायः सभी आचार्यों ने काव्यहेतु पर विचार किया है। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट, राजशेखर, पण्डितराज जगन्नाथ, जयदेव आदि अनेक आचार्यों ने इस विषय पर अपने मत प्रस्तुत किये हैं।[1] अधिकांश आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, इन तीनों को काव्यहेतु के रूप में प्रतिपादित किया। कुछ आचार्यों ने केवल प्रतिभा को हेतु कहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ यद्यपि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं, परन्तु उस प्रतिभा के भी दो हेतु बताये हैं—देवता अथवा महापुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और विलक्षण व्युत्पत्ति एवं अभ्यास।[2]

काव्यालोककार हरिप्रसाद द्वारा प्रस्तुत काव्य-हेतु का विवेचन पण्डितराज जगन्नाथ से समानता रखता है। दोनों में ही प्रतिभा को काव्य का कारण माना गया है। इसके साथ ही अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कारण माना है, परन्तु प्रमुखता प्रतिभा को ही प्रदान की है।

(3) काव्य की आत्मा

हरिप्रसाद ने चमत्कार को काव्य की आत्मा माना है—

चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थः। (सू. 4 की वृत्ति)

रस आत्मा इति परे आचार्या ऊचुः। स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य। (सू. 5, मू. पा. टि.)

---

1. भा. काव्या. 1, 5, 10; काव्या.—1, 103; काव्या. सू. 1, 3, 1; रु. काव्या. 1, 14; का. प्र. 1, 3; काव्यमी. पृ. 29; रस 1, पृ. 27-9 चन्द्रा. 1, 6
2. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ। –रस. 1, पृ. 27, 29

तत्सुखातिशयकारणं चमत्कार एव काव्यप्राण इति सिद्धम् ।

(सू. 6 की वृत्ति)

विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः (सू. 200)

अन्य आचार्यों के मतानुसार रस काव्य की आत्मा है, परन्तु काव्यालोककार चमत्कार को आत्मा स्वीकार करते हैं। रस को काव्य की आत्मा और ध्वनि को काव्य का प्राण नहीं मानना चाहिये, अपितु सुखातिशय का कारण चमत्कार ही काव्य का प्राण है। शब्द काव्य का शरीर है। "काव्य को सुना, अर्थ ज्ञात न हो सका" इत्यादि प्रयोग से "शब्द" ही लोक-प्रतीति द्वारा निश्चय कराने वाला होता है, अतः शरीर में पुरुष नाम के व्यवहार के समान शब्द के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होता है।

काव्य में चमत्कार सुखातिशय का कारण है। वस्तु और अलंकार रूप भी काव्य के आत्मरूप माने गये हैं—

भाव्यमाने चमत्कारः सुखातिशयकारणम् ।
वस्त्वलंकाररूपोऽपि काव्यस्यात्मा मतं मतम् ।। सू.6 ।।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्यगत विविध तत्त्वों को आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया गया है सर्वप्रथम वामन ने "रीतिरात्मा काव्यस्य" लिखकर रीति को काव्य की आत्मा माना। भामह, दण्डी और उद्भट ने अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना—"काव्यस्यात्मा ध्वनिः"। मम्मट ने भी ध्वनि को स्वीकार किया। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। वाक्यं रसात्मक काव्यम्" लिखकर विश्वनाथ ने रस को आत्मा स्वीकार किया।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में माना गया। परन्तु हरिप्रसाद ने 'काव्यालोक' में नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अन्य काव्यगत तत्त्वों को स्वीकार करते हुए उन्होंने आत्मा के रूप में चमत्कार को स्वीकार किया है। काव्य के सुखातिशय का कारण चमत्कार है, अतः यही काव्य की आत्मा है, काव्य का प्राण है।

(4) काव्य-लक्षण

"काव्यालोक" में काव्य का लक्षण दिया गया है—

लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम् ।।सू.7।।

लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य है। "लोकोत्तर" को स्पष्ट करते हुए वृत्ति में लिखा है—

लोकोत्तरत्वं च सुखातिशयकारणं चमत्कारविशेषः ।

सुख के अतिशय का कारण चमत्कार-विशेष ही लोकोत्तरता (अलौकिकता) है।

हरिप्रसाद ने केवल शब्द को काव्य माना है। लक्षण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्ति में बताया है—"सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठमेव काव्यत्वमित्यर्थः"—सर्वथा विशिष्ट शब्दनिष्ठ ही काव्य है। यह शब्द एक विशिष्टता लिये हुए है कि वह (शब्द) अलौकिक आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त है।

साहित्यशास्त्र के आद्य आलंकारिक भामह ने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहा है—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[1]

दण्डी ने "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली"[2] लिखकर इष्ट (हृदयाह्लादक) अर्थ से युक्त पदावली (शब्द और अर्थ) को काव्य का शरीर बताया है।

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी गुण और अलंकार से संस्कृत शब्द और अर्थ के लिये काव्य शब्द का प्रयोग किया है।[3]

रुद्रट ने भी शब्द और अर्थ को काव्य माना—"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।[4]

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले आनन्दवर्धन ने भी काव्य को शब्दार्थ शरीर वाला माना है।[5]

कुन्तक का काव्य-लक्षण है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[6]

काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लाददायक, कवि-व्यापार-वक्रता से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य है।

---

1. भा. काव्या.–1, 16
2. काव्या,–1,10
3. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
   —काव्या. सू. 1, 1, 1 की वृत्ति
4. रु. काव्या. 2, 1
5. शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्।
   सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।
   —ध्वन्या. 1, 1 की वृत्ति, पृ.5
6. वक्रोक्ति 1, पृ.-3

मम्मट के अनुसार दोष-रहित, गुणयुक्त, सामान्यतः अलंकार-सहित, किन्तु कहीं-कहीं अलंकार-रहित भी शब्द और अर्थ काव्य हैं—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।[1]

विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य-लक्षण दिया है—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।[3]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है । लक्षण में प्रयुक्त "रमणीयता" शब्द को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि जिसके ज्ञान से अलौकिक आह्लाद प्राप्त होता है, वह अर्थ रमणीय होता है । लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले ज्ञान की गोचरता ही रमणीयता है । लोकोत्तराह्लाद को ही चमत्कार कहा गया है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित उपर्युक्त काव्य-लक्षणों से स्पष्ट है कि भामह से लेकर विश्वनाथ तक प्रायः शब्द और अर्थ को काव्य माना गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने किंचिद् भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए केवल शब्द को काव्य माना । "काव्यालोक" में प्रस्तुत काव्य-लक्षण "रसगंगाधर" के सदृश है । "रसगंगाधर" में "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है", और "काव्यालोक" में "अलौकिक आह्लाद को उत्पन्न करने वाला शब्द काव्य है" । "रमणीय" शब्द भी अलौकिक आह्लाद को ही प्रतिपादित करने वाला है ।

आचार्य विश्वनाथ ने अनेक तर्क-वितर्कों का आधार लेकर मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन किया है । "काव्यालोक" में उसी विवेचन को संक्षिप्ततः प्रस्तुत करते हुए मम्मट के काव्य-लक्षण पर आक्षेप किया गया है । हरिप्रसाद ने विश्वनाथ के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" तथा वामन के "रीतिरात्मा काव्यस्य" पर भी आक्षेप किया है तथा "लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम्" को काव्य-लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया है ।

(5) शब्द-शक्ति

"काव्यालोक" में तीन प्रकार के शब्द बताये गये हैं—वाचक, लाक्षणिक

1. का. प्र.-1, 4
2. सा. द. 1, 3
3. रस. 1, पृ. 10

और व्यंजक । इन शब्दों से अर्थों का बोध कराने वाली तीन शब्द शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ।

अभिधा-शक्ति-वाचक शब्द का अभिधेय है—

अभिधाशक्तिरेतस्याभिधेयः ॥ सू. 10 ॥

संकेतित अर्थ को धारण करने वाला वाचक शब्द होता है । पद और पदार्थ में शब्द और उसके बोध के अनुकूल होने वाला सम्बन्ध संकेत है । वाचक शब्द के उस संकेतित अर्थ का बोध अभिधा शक्ति से होता है ।

वृत्ति में स्पष्ट करते हुए हरिप्रसाद ने बताया है कि किसी शब्द का अर्थगत (अर्थ में रहने वाला) अथवा अर्थ का शब्दगत (शब्द में रहने वाला) कोई सम्बन्ध-विशेष ही अभिधा कहलाता है—

शक्यान्तरानन्तरितः शब्दस्यार्थगतोऽर्थस्य वा शब्दगतः सम्बन्धविशेष एवाभिधा । (सू. 10 की वृत्ति)

शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है—"लक्षणारोपिता क्रिया" ॥ सू. 11 ॥

लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है ।

वह लक्षणा शक्यतावच्छेदक (अभिहित-शब्दार्थ के परिचायक) धर्म से भिन्न धर्म-विशेष का ज्ञान उत्पन्न करने वाली व्यक्ति की इच्छा है । अथवा शक्यार्थ (अभिधा-वृत्ति से बोध्य अर्थ) से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शब्दवृत्ति है ।[1]

लक्षणा के दो भेद हैं—शुद्धा और गौणी । सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा और सादृश्य मूलक होने पर गौणी लक्षणा होती है ।

शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की है—उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा । शुद्धा और गौणी दोनों में से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना । इस आधार पर चार भेद हुए—शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना, गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना ।

सभी लक्षणा रूढ़ि अथवा प्रयोजन से होती है । रूढ़ि लक्षणा व्यंग्य-रहित होती है और प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य-सहित होती है । व्यंग्य के गूढ़

---

1. सा च शक्यतावच्छेदकधर्म्मभिन्नधर्म्मावच्छिन्नबोधजनिका पुरुषेच्छा, शक्यार्थसंबद्धप्रतिपादिका शब्दवृत्तिर्वा । —का. लो. -सू. 11 की वृत्ति

(सहृदयैकगम्य) और अगूढ़ (सर्वजनसंवेद्य) होने पर प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है—

लक्षणा का बीज "तात्पर्यानुपपत्ति "अथवा "अन्वयानुपपत्ति" है।

अभिधा अथवा लक्षणा के विराम पर उत्पन्न होने वाली व्यंजनावृत्ति रसादि का उद्‌बोधन करने में समर्थ होती है—

वृत्तिद्वयविरामोत्था रसाद्युद्‌बोधनक्षमा।
व्यंजना ।। सू. 17 ।।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—(1) शाब्दी व्यंजना और (2) आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं – (1) अभिधामूला व्यंजना और (2) लक्षणामूला व्यंजना।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने शब्द-शक्ति का निरूपण किया। मम्मट[1] और विश्वनाथ[2] ने वाच्यार्थ अथवा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के व्यापार को अभिधा शक्ति कहा है। हरिप्रसाद की "अभिधाशक्ति-रेतस्याभिधेयः" पंक्ति भी इसी आशय को अभिव्यक्त करने वाली है।

पण्डितराज जगन्नाथकृत लक्षण है—

शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा।[3]

शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को अभिधा कहा है। अर्थ का शब्दगत और शब्द का अर्थगत सम्बन्ध-विशेष अभिधा है, जिसे शक्ति कहा जाता है।

पण्डितराज के सदृश ही काव्यालोककार ने लिखा है–"शक्यान्तरितः शब्द-स्यार्थगतोऽर्थस्य वा शब्दगतः सम्बन्धविशेष एवाभिधा"। रसगंगाधरकार ने अभिधा का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। "काव्यालोक" का विवेचन प्रायः उसी का संक्षिप्तीकरण है।

लक्षणा-निरूपण करते हुये मम्मट लिखते हैं—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ।।[4]

मुख्यार्थ का बाध होने पर, उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने

---

1. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।।-का. प्र.-सू. 8
2. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा ।-सा. द.-2, 4.
3. रस.—2, पृ.—134
4. का. प्र.—2,9

पर, किसी रूढ़ि अथवा विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिये जिस शब्दशक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा है ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी मम्मट के समान लक्षणा का विवेचन किया है ।[1] काव्यालोककार हरिप्रसाद ने "लक्षणारोपिता क्रिया" लिखकर मम्मट और विश्वनाथ के कथन को ही प्रस्तुत किया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने "रसगंगाधर" में कहा है-"शक्यसम्बन्धो लक्षणा"[2]। शक्यार्थ (अभिधावृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ) के साथ शक्येतर (लक्ष्यार्थ) का सम्बन्ध लक्षणा है ।

हरिप्रसाद ने "शक्यार्थसंबद्धप्रतिपादिका शब्दवृत्तिर्वा" लिखकर "रसगंगाधर" के लक्षण को ही प्रस्तुत किया है । इस प्रकार काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों— मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ—सभी के अनुसार परिभाषाएँ "काव्यालोक" में प्रस्तुत की गयी हैं ।

"काव्यालोक" में लक्षणा-भेद का आधार "काव्यप्रकाश" ही प्रतीत होता है ।

व्यंजना का लक्षण "साहित्यदर्पण" में दिया गया है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।[3]

अभिधा आदि (अभिधा और लक्षणा) वृत्तियों के अपना-अपना अर्थ बता-कर शान्त होने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली व्यंजना वृत्ति होती है । आचार्य मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ स्पष्ट लक्षण नहीं देने पर भी व्यंजना का यही स्वरूप स्वीकार करते हैं ।

"काव्यालोक" में प्रस्तुत परिभाषा "वृत्तिद्वयविरामोत्था रसाद्युद्बोधन-क्षमा व्यंजना" भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट करती है । पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत व्यंजना ही "काव्यालोक" में वर्णित है । व्यंजना-भेद तथा उसकी अपरिहार्यता के लिये प्रस्तुत युक्तियाँ भी प्रायः "काव्यप्रकाश" पर ही आधारित हैं ।

---

1. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
   रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।।–सा. द. 2,5
2. रस.—2, पृ. 162
3. सा. द.—2, 12

इस प्रकार शब्दशक्तियों के निरूपण में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत विवेचन को ही "काव्यालोक" में प्रस्तुत किया गया है।

(6) काव्य के भेद

"काव्यालोक" में 3 प्रकार के काव्य बताये गये हैं—उत्तम काव्य, मध्यम काव्य और अधम काव्य।

उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्ये ।। सू. 25 ।।

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम-काव्य होता है। यहाँ ध्वनि से अभिप्राय है—*व्यंग्य*। जब वाच्य की उपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कार-युक्त होता है तो उत्तम-काव्य कहलाता है।

मध्यमे तच्च मध्यमम् ।। सू. 26 ।।

ध्वनि के मध्यम होने पर मध्यम-काव्य होता है। व्यंग्य-चमत्कार और वाच्य-चमत्कार के असमानाधिकरण होने पर, व्यंग्यार्थ के वाच्य से अधिक चमत्कारी न होने पर, वह मध्यम-काव्य होता है।

अधमं नार्थवैचित्र्या किन्तु शब्दैकगोचरम् ।। सू. 27 ।।

शब्दों की विचित्रतामात्र दिखाना अधम-काव्य होता है। यह अर्थ की विचित्रता से नहीं, केवल शब्द की विचित्रतामात्र से होता है।

संस्कृत आचार्यों में ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व तथा उत्तरयुग में काव्य-वर्गीकरण पर कुछ भिन्न दृष्टिकोण पाया जाता है। आनन्दवर्धन के पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य के बाह्यरूप शैली, विषय, भाषा आदि का आश्रय लेकर काव्य-वर्गीकरण किया। काव्यालोककार हरिप्रसाद ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया है।

आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने काव्य के तीन भेद माने[1], जो 'काव्यालोक" में भी स्वीकार किये गये हैं। इनमें से उत्तम और मध्यम काव्य का स्वरूप समान ही है, परन्तु अधम काव्य में भिन्नता है। आनन्दवर्धन और मम्मट ने शब्द-वैचित्र्य और अर्थ-वैचित्र्य से अधम-काव्य माना है। परन्तु हरिप्रसाद ने केवल

---

1. ध्वन्या.–3, 42; का. प्र.–1, 4-5

शब्दों की विचित्रता होने पर अधम-काव्य कहा है। मम्मट द्वारा प्रस्तुत अधम काव्य के उदाहरणों को हरिप्रसाद ने मध्यम-काव्य के उदाहरण माने हैं।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ[2] ने काव्य के 4 भेद किये हैं, परन्तु हरिप्रसाद तीन ही भेद मानते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि कुछ लोग काव्य के उत्तमोत्तम या अधमाधम भेद भी मानते हैं, परन्तु इन भेदों का अन्तर्भाव उत्तम, मध्यम और अधम–इन तीनों काव्य-भेदों में ही हो जाता है।[3]

(7) ध्वनि

काव्यालोककार ने "काव्य-भेद" के अन्तर्गत उत्तम काव्य वहाँ बताया है जहाँ ध्वनि की विशिष्टता होती है। व्यंग्य ही ध्वनि है और वाच्य के व्यंग्य से अधिक चमत्कार-युक्त न होने पर अर्थात् वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य अधिक चमत्कार-युक्त होने पर ही उत्तम-काव्य होता है[4]।

"ध्वनि–निरूपणम्" नामक द्वितीय प्रकाश में ध्वनि की परिभाषा है—

शब्दस्थानविलासोत्थः परमाह्लादकारणम्।
अर्थरूपपरामर्शवेद्यः कश्चिद् ध्वनिर्बुधाः॥ सू. 29॥

शब्द स्थान के विलास से उत्पन्न, परमाह्लाद का कारण, अर्थरूप परामर्श से वेद्य कोई ध्वनि है।

इस परिभाषा में ध्वनि के सम्बन्ध में तीन बातें कही गयी—(1) ध्वनि शब्द-स्थान के विलास से उत्पन्न है, (2) ध्वनि परमाह्लाद का कारण है और (3) वह अर्थरूप परामर्श से वेद्य है।

यहाँ प्रथम विशेषण "शब्द-स्थान के विलास से उत्पन्न है", कहा गया है। इस विशेषण से स्पष्ट होता है कि किसी के द्वारा उच्चारित शब्द किस प्रकार

---

1. अर्थचित्रशब्दचित्रयो"विनिर्गतं मानदमात्ममंदिरात्", "स्वच्छन्दोच्छलदच्छे"-त्यनयोस्तारतम्योपलब्धेः शब्दार्थयोः समप्राधान्ये तु मध्यमतैव।
—का. लो.–सू. 27 की वृत्ति

2. रस–1, पृ. 37

3. तदेवमुत्तममध्यमाधमभेदात्काव्यं त्रिविधम्। केचित्तु उत्तमोत्तमं अधमाधममपि भेदमिच्छन्ति। तदेतेष्वेवांतर्गतमिति विविच्य नोक्तम्।
—का. लो.–सू. 27 की वृत्ति

4. उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्ये॥ सू. 25॥
व्यंग्यमेव ध्वनिस्तद्विशिष्टता चानतिशयिते वाच्ये। –का. लो.–सू.25 की वृत्ति

ध्वनिरूप में प्रकट होते हैं इसे स्पष्ट करते हुए हरिप्रसाद ने कहा कि शब्दस्थान का अभिप्राय है–शब्द का आश्रय । आकाश, मुरज (मृदंग), तन्तुवाद्य, करताल, मुख आदि शब्द के आश्रय हैं । विलास का अभिप्राय है–प्रतिध्वनि के संयोग से उत्पन्न होना । अर्थात् आकाश में मुखादि के द्वारा उच्चारित का प्रतिध्वनि के साथ संयोग होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है ।

काव्य में प्रयुक्त असाधारण ध्वनि है, जो अर्थरूप परामर्श से जानी जाती है । यह ध्वनि सौन्दर्ययुक्त शब्द से उपस्थापित चमत्कारातिशयरूप है जो अर्थरूप परामर्श के द्वारा जानी जाती है । लौकिक घट-पट आदि वस्तुओं के समान ध्वनि की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, अपितु उस प्रस्तुत वाच्यार्थ का तिरोधान हो जाने पर, जो व्यंग्यार्थ की चारुसन्निवेश अतिशयता (सुन्दरता से स्थिति की अतिशयता) की अभिव्यक्ति होती है, वही ध्वनि है ।

ध्वनि परमाह्लाद का कारण है, इस तृतीय विशेषण से स्वतः स्पष्ट है कि विलक्षण चमत्कारातिशय को प्रकट करने के कारण ध्वनि से परमाह्लाद की प्राप्ति ही होगी ।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन का कथन है कि सबसे प्रधान विद्वान् वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं । उन्हीं के मत का अनुकरण करने वाले काव्यतत्त्वार्थदर्शी विद्वानों ने वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार और काव्य को ध्वनि कहा ।[1] मम्मट ने भी इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धांत की प्रामाणिकता के लिये वैयाकरणों के मत को प्रस्तुत किया ।[2] काव्यालोककार की ध्वनि-परिभाषा में कथित "शब्दस्थानविलासोत्थः" पद आनन्दवर्धन और मम्मट के इसी मत को संकेतित करता हुआ-सा प्रतीत होता है । ध्वनि की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है, इस विषय को हरिप्रसाद ने सरलता से प्रस्तुत किया है ।

आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ वाच्य अर्थ अथवा वाचक शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान् ध्वनि कहते हैं ।[3]

काव्यालोककार की ध्वनि-परिभाषा में कथित पद "अर्थरूपपरामर्शवेद्यः" ध्वनिकार के मत को स्वीकार करता है । पहले सौन्दर्ययुक्त शब्द से अर्थ-ज्ञान

---

1. प्रथमे हि विद्वांसो....ध्वनिरित्युक्तः । ध्वन्या.–1, 13 की वृत्ति
2. का. प्र.–1, 4 की वृत्ति
3. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।–ध्वन्या.–1, 13

होता है, पुनः उस अर्थ के तिरोधान होने पर अन्य अर्थ प्रकट होता है, यही "अर्थरूपपरामर्शवेद्यः" का भावार्थ प्रतीत होता है। यही बात ध्वनिकार ने बतायी है कि वहाँ एक अर्थ गौण होकर अन्य अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है।

"काव्यालोक" में "व्यंग्यमेव ध्वनिः"[1]–"व्यंग्य ही ध्वनि है", यह कहा गया है। वास्तव में व्यंग्यार्थ ही ध्वनि नहीं है, अपितु व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कृत होने पर ध्वनि कहा जाता है। परन्तु यहाँ हरिप्रसाद ने व्यंग्य और ध्वनि को पर्याय माना है और उसी के आधार पर ध्वनि-काव्य के दो भेद किये हैं। ध्वनि की प्रधानता होने पर ध्वनि-काव्य या उत्तम काव्य। ध्वनि गौण होने पर गुणीभूतध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुणध्वनि या मध्यम काव्य।

इस प्रकार ध्वनि-परिभाषा में आनन्दवर्धन का समर्थन करते हुए भी "काव्यालोक" में नवीनता से उसका प्रस्तुतीकरण किया गया है।

ध्वनि-भेद

"काव्यालोक" में ध्वनि के 51 भेद बताये गये—लक्षणामूला ध्वनि के चार भेद—(1) वाक्यगत अर्थान्तसंक्रमित-वाच्य, (2) पदगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (3) वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत वाक्य, (4) पदगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसादि ध्वनि (1) पदैकदेश, (2) पद, (3) वाक्य, (4) प्रबन्ध, (5) वर्ण और (6) रचना भेद से छह प्रकार की होती है। ध्वनि के अन्य दो भेद हैं—(1) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (2) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि दो प्रकार की है—(1) वस्तुध्वनि (2) अलंकारध्वनि। अर्थशक्त्युत्थध्वनि में (1) स्वतः सम्भवी के चार भेद, (2) कविप्रौढोक्तिसिद्ध के 4 भेद और (3) कविकल्पित वक्रोक्तिसिद्ध के 4 भेद। इन 12 भेदों के 12 पदगत, 12 वाक्यगत और 12 प्रबन्धगत भेद होने से कुल 36 भेद हो जाते हैं। उभयशक्त्युत्थध्वनि का एक ही भेद है। इस प्रकार ध्वनि के कुल—$4+6+2+2+36+1=51$ भेद हो जाते हैं।

काव्यालोककार के अनुसार 51 भेदों को परस्पर मिला देने पर अन्य भेद भी हो सकते हैं। 51 शुद्ध भेदों को परस्पर मिलाने पर $51 \times 51 = 2601$ भेद हो जाते हैं। इन 2601 भेदों को तीन प्रकार के संकर (1. सन्देह संकर, 2. अंगांगिभाव संकर, 3. एकाश्रयानुप्रवेश संकर) और संसृष्टि रूप मानने पर $2601 \times 4 = 10404$ भेद हो जाते हैं।

---

1. का. लो.–सू. 25 की वृत्ति

"काव्यप्रकाश" में ध्वनि के 51 भेद बताये गये हैं। "काव्यप्रकाश" और "काव्यालोक" में यह संख्या समान ही है। परन्तु दो भेदों में भिन्नता लक्षित होती है। "काव्यप्रकाश" में शब्दशक्त्युत्थ के भेद वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के पुनः पदगत और वाक्यगत भेद करके 4 भेद बताये गये हैं। परन्तु "काव्यालोक" में शब्दशक्त्युत्थ के केवल 2 भेद वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि ही बताये हैं। इनके स्थान पर काव्यालोककार ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य 2 भेद बताये हैं, जिनकी गणना लक्षणामूलध्वनि के 4 भेदों में पहले ही कर दी है। इन भेदों को समान मानकर यदि गणना की जाती है तो 49 भेद ही रह जाते हैं। परन्तु उन्होंने यह संख्या 51 ही मानी है। "काव्यालोक" का यह ध्वनि-भेद निरूपण पूर्णतः "काव्यप्रकाश" पर ही आधारित है, अतः यही सम्भावना हो सकती है कि काव्यालोककार सम्भवतः शब्दशक्त्युत्थ के ये दो भेद देना भूल गये हैं और संख्या पूर्ति के लिए अन्य दो भेद कर दिये हैं। "काव्यप्रकाश" और "काव्यालोक" दोनों में ही संसृष्टि और संकर से युक्त होने पर ध्वनि के 10404 भेद बताये गये हैं। काव्यप्रकाशकार ने इन 10404 भेदों के साथ शुद्ध 51 भेद और मिलाकर 10404+51 = 10455 भेद बताये हैं, जिनका उल्लेख काव्यालोककार ने नहीं किया।

गुणीभूतध्वनि काव्य के भेद

"काव्यालोक" के द्वितीय प्रकाश में ध्वनि के आधार पर काव्य के दो भेद किये गये—(1) ध्वनिकाव्य और (2) गुणीभूतध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य या मध्यमकाव्य।

गुणध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य काव्य के आठ भेद बताये गये हैं (1)–अगूढ़ (2) गूढ़, (3) वाच्यांग, (4) अपरांग, (5) असुन्दर, (6) संदिग्धप्राधान्य, (7) तुल्य प्राधान्य और (8) काक्वाक्षिप्त।

काव्यालोककार का गुणीभूतध्वनि काव्य के भेदों का यह विवेचन मम्मट के "काव्यप्रकाश" पर आधारित है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भेद मम्मट के समान ही हैं उदाहरणार्थं कथित श्लोकों में से कुछ मम्मट के समान हैं और कुछ श्लोकों में भिन्नता है, परन्तु वहाँ भी अनेक स्थलों पर मम्मट के उद्धृत श्लोकों की छाया लक्षित हो जाती है।

(8) रस

भरत से लेकर आज तक काव्यशास्त्र में रस के विषय में निरन्तर विवेचन किया जा रहा है, अतः इस सम्बन्ध में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। हरिप्रसाद ने—

"काव्यालोक" के तृतीय प्रकाश में पूर्वनिरूपित मतों में से तीन प्रमुख मतों का विवेचन इस प्रकार किया है—

(1) अभिनवगुप्त का मत—

"काव्यालोक" में सर्वप्रथम अभिनवगुप्त का मत विस्तार से निरूपित किय गया है। उनके अनुसार रस का लक्षण है—

समूहाऽऽलम्बनावृत्तिस्फूर्त्तिश्चित्समवायिनी ॥ सू. 49 ॥

चित्समवायिनी समूहालम्बनावृत्ति की स्फूर्ति (प्रकाश) रस है। अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव समूह हैं और रत्यादि स्थायिभाव अन्तःकरण की वृत्ति है। स्थायीभाव रूप अन्तःकरण की वृत्ति का विभावादि समूहविषयक और आत्मा (चैतन्य) से समवायरूप से सम्बद्ध प्रकाश ही रस है।

इसके अनुसार रस की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—

(1) चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी भाव ही रस है।
(2) रत्यादि स्थायी भाव विशिष्ट चित् ही रस है।

इन दोनों ही रूपों में प्रकाशक तत्त्व एक मात्र चैतन्य ही है। चैतन्य का प्रकाश तभी हो सकता है जब उसका अज्ञानरूपी आवरण भंग हो जाता है।

स्थायी भाव प्रमाता के भीतर संस्काररूप में विद्यमान रहता है। लोक में जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वही काव्य में कवि के द्वारा और नाट्य में नट के द्वारा काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना से उपस्थापित किये जाने पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव शब्दों से कहे जाते हैं। उन विभावादि के द्वारा प्रमाता का अज्ञानरूपी आवरण दूर होने पर आत्मा का वह चिद्रूप अनावृत हो जाता है और तब (1) चिद्विशिष्ट रूप से अनुभूयमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस होता है अथवा (2) विभावादि की चर्वणा के समय स्थायिभाव के द्वारा उपस्थापित स्वरूपानन्दाकार वृत्ति वाले अन्तःकरण में रस का उदय होता है, अतः स्थायियुक्त भग्नावरण (जिसका अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो चुका है ऐसा) चित् ही रस है।

उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में रस को चित् और रत्यादि स्थायिभाव, इन दो अंशों से युक्त स्वीकार करना पड़ेगा। अतः रस के दो अंश हैं—चैतन्य और रत्यादि। चिदंश के कारण रस नित्य है और रत्यंश के कारण अनित्य।

रसास्वाद की अवस्था में प्राप्त होने वाली आनन्द की अनुभूति तथा ब्रह्मास्वाद में होने वाली आनन्द की अनुभूति में भिन्नता होती है।

रसास्वाद में आनन्द की अनुभूति होती है, इस विषय में शंका नहीं होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में शब्द और प्रत्यक्ष ये दो प्रमाण हैं—(1) जिस प्रकार समाधि-अवस्था की आनन्दानुभूति में "सुखमात्यन्तिकम्" इत्यादि शब्द-प्रमाण है, उसी प्रकार इस विषय में "रसो वै सः" इत्यादि श्रुति-वाक्य प्रमाण हैं। (2) सहृदय व्यक्तियों को रस की साक्षात् अनुभूति होती है, अतः यह प्रत्यक्ष का विषय है।

अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के रससूत्र "विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" की व्याख्या है—

विभावादि के संयोग से अर्थात् व्यंग्यव्यंजकभावसम्बन्ध से चिदानन्दविशिष्ट रत्यादि स्थायिभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है। "निष्पत्ति" का अभिप्राय है—अपने रूप का प्रकाशन।[1]

(2) भट्टनायक का मत—

जब सहृदय काव्यात्मक शब्दों को सुनता है, तो सर्वप्रथम अभिधा के द्वारा पदार्थों की उपस्थिति होती है, जिससे काव्यार्थ समझा जाता है। तत्पश्चात् भावकत्व व्यापार से उन पदार्थों की रसानुकूल विशिष्ट धर्म के साथ उपस्थिति होती है और इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर शब्द के तृतीय व्यापार भोजकत्व या भोगीकृति से साधारणीकृत स्थायीभाव का रस रूप में भोग किया जाता है। अर्थात् विभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव का भोग ही रस है।[2]

यहाँ "भोग" से अभिप्राय है कि रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की प्राधान्येन स्थिति होने पर, प्रकाशमान आनन्दस्वरूप (चैतन्यात्मक) ज्ञान होना, जो लौकिक सुख से विलक्षण होता है।

भट्टनायक के अनुसार भरत के रस-सूत्र की व्याख्या होगी—

भावकत्व व्यापार से विभावादि का (संयोग) साधारणीकरण होने पर

---

1. विभावादीनां संयोगाद्व्यञ्जनाच्चिदानंदविशिष्टस्थाय्यात्मनः, स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दात्मनो वा रसस्य निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्।

-का.लो.-सू. 49 की वृत्ति

2. भट्टनायकस्तु अभिधया निवेदितानां पदार्थानां भावकत्वव्यापारेण रसानुकूलधर्मपुरस्कारेणोपस्थितिः। इत्थं च साधारणीकृतेषु विभावादिषु तृतीयव्यापारमहिम्ना तथाकृत एव स्थायी भुज्यते।

-का. लो. सू.-49 की वृत्ति

भोजकत्व व्यापार से (रस की निष्पत्ति) अर्थात् स्थायी भावों का रसरूप में भो
किया जाता है।[1]

नव्यमत—

नव्यमत का निरूपण करते हुए हरिप्रसाद ने लिखा है—

नव्यास्तु साक्षिभास्यालम्बनादिविषयकः स्थायी रसः

(सू. 49 की वृत्ति)

साक्षिभास्य अर्थात् आत्मा में भासित होने वाले आलम्बनादिविषय
रत्यादि स्थायिभाव ही रस है।

काव्य अथवा नाट्य में सहृदय को विभावादि का बोध हो
पर व्यंजनावृत्ति से यह ज्ञान होता है कि दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रतिवाला था
तत्पश्चात् पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप सहृदयत्वरूपी भावनाविशेषरूप दोष क
महिमा से सहृदय अपने आपको दुष्यन्त मानने लगता है, अर्थात् कल्पित दुष्यन्तत
से आच्छादित हो जाता है और मैं शकुन्तलाविषयक रति वाला हूँ, यह अ
करने लगता है।

इस प्रक्रिया में, अपने आपको दुष्यन्त मान लेना और अपने में शकुन्तला
विषयक रति को स्वीकार करना, ये दोनों ही अनिर्वचनीय हैं, क्योंकि यह सत
असत् विलक्षण हैं। सत् यह है नहीं और असत् होता तो प्रतीत ही नहीं होत
परन्तु कल्पित होने पर भी इसका ज्ञान होता है, अतः इसे अनिर्वचनीय कह
गया है।

जबतक भावनारूप दोष विद्यमान रहता है, तभी तक शकुन्तलादि रति क
रसरूप में प्रतीति होती है. अतः यह रस भावनारूप दोष का कार्य है और इ
भावनारूप दोष के नष्ट हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है।

शकुन्तलाविषयक रतिवाला मैं दुष्यन्त हूँ, इस रस-प्रतीति के पश्चात् ह
अलौकिक आह्लाद उत्पन्न होता है। रस और अलौकिक आह्लाद में भेद होने प
भी इनका भेद ज्ञात नहीं होता, अतः रस को सुखरूप कहा जाता है। रस क
व्यंग्य और वर्णनीय भी कहा गया है।

"काव्यालोक" में नव्यमत की समालोचना भी की गई है। नव्यमत में र
को अनिर्वचनीय कहा गया है। यहाँ इसी "अनिर्वचनीय" शब्द पर आक्षेप किय
गया है।

---

1. भावनाविशेषरूपाद्दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिर्वेति
-का. लो.-सू. 49 की वृ

अनिर्वचनीयता की समालोचना के साथ अन्य कतिपय शंकाएँ प्रस्तुत कर उनका समाधान किया गया है।

नव्यमत के अनुसार भरतमुनि के रससूत्र का अभिप्राय है—

भावनाविशेषरूपाद्दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिः।

(सू. 49 की वृत्ति)

विभावादि के संयोग से अर्थात् काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना-विशेषरूप दोष से अनिर्वचनीय दुष्यन्तविषयक रत्यादि स्थायिभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है।

हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" में अभिनवगुप्त, भट्टनायक तथा नव्यमत; इन तीन मतों की विवेचना की है। इन तीनों में से काव्यालोककार को कौन सा मत अभिप्रेत है, यद्यपि इसका उन्होंने स्पष्ट निर्देश नहीं दिया, तथापि अन्य स्थलों पर आये उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि उन्हें अभिनवगुप्त का मत ही स्वीकार्य है।

रस-भेद का कारण

यद्यपि चिदानन्दात्मा सभी रसों में व्याप्त है, परन्तु फिर भी रस-भेद बताये जाते हैं। इसका कारण शम आदि स्थायिभाव युक्त चित्तवृत्तियाँ ही हैं। इन नौ प्रकार की वृत्तियों के कारण ही रस-भेद होते हैं।

सभी रसों से आह्लाद-प्राप्ति—

काव्य में सभी रसों से आह्लाद की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु कुछ करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि ऐसे रस हैं, जो आह्लाद की वृत्ति के प्रतिकूल हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि इनसे आह्लाद-प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? इस प्रश्न के समाधान के लिए काव्यालोककार ने लिखा है कि लोकोत्तर आह्लादकार्थं विशिष्ट व्यंजना-व्यापारयुक्त काव्य-व्यापार की महिमा से उक्त करुण आदि रसों में भी सुख की ही प्रवृत्ति होती है, अतः सभी रसों से आह्लाद-प्राप्ति कही जाती है।

स्थायी भाव—

रति, हास, शोक, भय, क्रोध, उत्साह, घृणा, विस्मय और शम—ये स्थायी भाव हैं।

स्थायीभावों के परिपुष्ट होने पर ही विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति होती है। चित्त में संस्काररूप में स्थित ये स्थायीभाव विभावादि के साथ सम्बद्ध होने

पर रसरूप में प्राप्त होते हैं। रस से स्थायीभाव उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे घटावच्छिन्न आकाश से घट भिन्न होता है।

भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव—

चैतन्य से समवायरूप से सम्बन्वित होने पर अन्तःकरणवृत्ति की प्रथम विक्रिया का नाम भाव है।

भाव का विशेप भावन (वोधन) कराने के कारण विभाव कहे जाते हैं, जो आलम्वन और उद्दीपन रूप होते हैं। नायिका आदि का आलम्वन लेकर ही रस और भाव की उत्पत्ति होती है, अतः वह आलम्वन विभाव हैं। चन्द्रोदय आदि उस भाव को उद्दीप्त करते हैं, अतः उद्दीपन विभाव हैं।

काव्य और नाटक में आलम्वन और उद्दीपन कारण से उत्पन्न हुए स्थायी भाव को वाह्यरूप में प्रकाशित करने वाले अश्रुपात आदि अनुभाव होते हैं।

निर्वेद, ग्लानि आदि 33 व्यभिचारी भाव हैं, जो स्थायी भावों के साथ-साथ आविर्भाव और तिरोभाव रूप में स्थित होते हैं।

ये विभावादि ही मिलकर रस की अभिव्यक्ति के कारण होते हैं। जव तक रसाभिव्यक्ति नहीं होती तभी तक विभावादि का भान रहता है, रसविशेप से युक्त होने पर विभावादि का भान नहीं होता। एक विशिष्ट रस के साथ एक विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव की कार्यकारणता नहीं हो सकती।

रस-भेद—

शृंगार, हास्य, करुण, भयानक, रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्‌भुत, तथा शान्त इन नौ रसों का लक्षण तथा उदाहरण-सहित संक्षिप्त विवेचन "काव्यालोक" में किया गया है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक रस के सम्वन्ध में विवेचन होता रहा है। "नाट्‌यशास्त्र" में कथित भरत का प्रसिद्ध रससूत्र है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।[1]

भरतमुनि के इस रससूत्र को सभी आचार्यो ने स्वीकार किया। परन्तु इसकी अलग-अलग व्याख्या करने के कारण भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन हुआ। "नाट्‌यशास्त्र" की टीका "अभिनवभारती" के अन्तर्गत अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्ती भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा सांख्यसिद्धान्तानुसारी मतों का खण्डन करते

1. ना. शा.—६, पृ. 272

हुए स्वमत प्रस्तुत किया ।[1] ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को व्यंग्य और काव्य को व्यंजक मानते हुए काव्य से व्यंजनावृत्ति के द्वारा ही रसादि की प्रतीति स्वीकार की। परन्तु दशरूपककार धनंजय ने काव्य-शब्दों द्वारा अभिधा से ही रस की प्रतीति का निरूपण किया ।[2] महिमभट्ट ने न्यायमतानुसार विवेचन करते हुए अनुमान के द्वारा रसादि की प्रतीति मानी ।[3] मम्मट ने "काव्यप्रकाश" के चतुर्थ उल्लास में भरतप्रणीत "नाट्यशास्त्र" के व्याख्याकार भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के रस-सम्बन्धी विचारों को संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया । विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त के मम्मट-प्रतिपादित रस-स्वरूप को ही विस्तार से सरल रूप में प्रस्तुत किया है ।[4] पंडितराज जगन्नाथ ने "रसगंगाधर" में रस-सम्बन्धी ग्यारह मतों का उल्लेख किया ।

"काव्यालोक" में निरूपित रस-विवेचन पर "रसगंगाधर" का प्रभाव परिलक्षित होता है । "रसगंगाधर" में उल्लिखित ग्यारह मतों में से "काव्यालोक" में केवल प्रथम तीन अभिनवगुप्त, भट्टनायक तथा नव्यमत का निरूपण किया गया है । रसगंगाधरकार ने अभिनवगुप्त के मत का निरूपण करते हुए मम्मट द्वारा कथित पंक्ति—"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है । उनके अनुसार अज्ञानरूपी आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव रस है । "रसो वै श्रुतिः" के अनुरोध से चैतन्य के विषयीभूत रत्यादि को रस नहीं कहना चाहिये, अपितु रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिये ।[5] "काव्यालोक" में भी अभिनवगुप्त के मत का निरूपण इसी के समान किया गया है । शेष दो भट्टनायक तथा नव्यमत के विवेचन में भी "रसगंगाधर" के सदृश शैली का प्रयोग करते हुए बहुत कुछ उन्हीं वाक्यों अथवा वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है । नव्य-मत के अन्तर्गत "काव्यालोक" में "रस की अनिर्वचनीयता" के सम्बन्ध में समालोचना भी की गई है, जो "रसगंगाधर" में वर्णित

---

1. अ. भा.–पृ. 442-83
2. द. रू.–पृ. 4, 37
3. व्यक्ति.–पृ. 79
4. सा. द.–3, 1-16
5. इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टा रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः । —रस.–1, पृ. 96-7

नहीं है। परन्तु सामान्यत: "काव्यालोक" के रस-विवेचन में पूर्ववर्ती मतों का ही प्रतिपादन किया गया है।

(9) नायक-नायिका-भेद

"काव्यालोक" में रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद का निरूपण किया गया है।

नायक-भेद :

सर्वप्रथम नायक के चार भेद बताये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित।[1]

क्षमाप्रधान धीरोदात्त नायक होता है, जैसे–युधिष्ठिर। गर्व और अहंकार प्रधान धीरोद्धत होता है, जैसे–भीमसेन। मृदु और कलावान् धीरललित होता है, जैसे–वत्सराज उदयन। अन्य सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त होता है, जैसे–माधव।

दक्ष, धृष्ट, अनुकूल और शठ, इन चार भेदों में विभक्त होकर धीरोदात्त आदि चार नायकों के 16 भेद हो जाते हैं।

नायक-नायिका-भेद प्रमुखत: नाट्यशास्त्र का विषय है, तथापि कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी इसका वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम भरत-प्रणीत "नाट्यशास्त्र" में इस विषय पर विवेचन किया गया है। भरत ने प्रकृति के आधार पर नायक के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। शील के आधार पर चार भेद हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त। नारी के प्रति रति-सम्बन्धी तथा अन्य व्यवहार के आधार पर पाँच भेद हैं—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और सम्प्रवृद्ध।[2] रुद्रट ने नायिका के प्रति नायक के प्रेम-व्यवहार के आधार पर नायक के चार भेद बताये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ, और धृष्ट।[3] धनंजय ने "दशरूपक" में धीरोदात्तादि चार भेद करके प्रेम की अवस्था के आधार पर अन्य चार नायक बताये हैं—दक्षिण. शठ, धृष्ट और

---

1. उदात्तोद्धतनामानौ प्रशान्तललितौ पुनः।
   आलम्बनं रसस्यैते धीराद्यास्तत्र नायकाः॥ —का. लो.–सू. 61
2. ना. शा.–23, 52-57; 24, 1-3
3. रु. काव्या.–12, 9

अनुकूल। इस प्रकार 16 प्रकार के नायक होते हैं।[1] विश्वनाथ ने इन 16 प्रकार के नायकों के उत्तम, मध्यम और अधम, ये तीन भेद और बताकर नायक के 48 भेद किये हैं।[2]

स्पष्ट है कि "काव्यालोक" में हरिप्रसाद ने नायक-भेद विवेचन में पूर्वोक्त विवरण को ही संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। विशेषतः "साहित्यदर्पण" और "दशरूपक" के अनुसार ही निरूपण किया गया है।

नायिका-भेद :

"काव्यालोक" के अनुसार सर्वप्रथम तीन प्रकार की नायिका हैं—स्वकीया परकीया और साधारण स्त्री। इनमें से स्वकीया नायिका के कुल 13 भेद हैं। प्रथम स्वकीया नायिका के तीन प्रकार हैं–मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मध्या और प्रगल्भा नायिका के पुनः धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद से छह भेद हो जाते हैं। इन छह भेदों के पुनः दो-दो भेद होते हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार मुग्धा का 1 भेद, मध्या के 6 भेद और प्रगल्भा के 6 भेद, कुल 13 भेद स्वकीया के हो जाते हैं। परकीया नायिका के 2 भेद हैं—परोढा और कन्या। साधारण स्त्री का 1 भेद मिलाकर कुल षोडश प्रकार की नायिकाएँ होती हैं।

अवस्था-भेद से नायिका के आठ भेद हैं-(1) स्वाधीनभर्तृका, (2) खण्डिता, (3) अभिसारिका, (4) कलहान्तरिता, (5) विप्रलब्धा, (6) प्रोषितभर्तृका, (7) वासकसज्जा और (8) विरहोत्कण्ठिता।

पूर्वोक्त सोलह नायिका अवस्था–भेद से आठ प्रकार की होने पर कुल $16 \times 8 = 128$ नायिका-भेद होते हैं।[3]

भरत ने "नाटयशास्त्र"[4] में भिन्न-भिन्न आधार पर नायिका-भेद कियेहैं—

(1) प्रकृति के आधार पर—उत्तमा, अधमा और मध्यमा।

(2) नायिका के 12 भेद—सर्वप्रथम चार भेद–दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका। दिव्या और नृपपत्नी के 4-4 भेद-धीरा, ललिता उदात्ता और निभृता। कुलस्त्री के दो भेद—उदात्ता और निभृता गणिका के दो भेद-उदात्ता और ललिता।

1. द. रू.–2, 3, 6
2. सा. द.–3, 31, 35; 38
3. का. लो.- सू.—64-71
4. ना. शा.-24, तथा 7-9; 22. 144-5 तथा 203-4.

(3) आचरण के आधार पर 3 भेद—बाह्या, आभ्यन्तरा और बाह्याभ्यन्तरा। कुलीना नायिका आभ्यंतरा होती है, बाह्या वेश्या होती है और इन दोनों की मिश्र प्रकृति से निर्मित बाह्याभ्यंतरा यद्यपि वेश्यांगना होती है, पर आचरण नितान्त पवित्र होता है।

(4) कामावस्था पर आधारित आठ भेद—वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका।

रुद्रट ने "काव्यालंकार"[1] में नायिका-भेद निरूपण किया है, जो प्रायः दशरूपककार के सदृश है। "दशरूपक"[2] में धनंजय ने पूर्व आचार्यों द्वारा निरूपित नायिका-भेद को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने नायिका के कुल 16 भेद माने हैं। सर्वप्रथम तीन प्रकार की नायिका हैं—स्वकीया, अन्या और साधारण स्त्री। प्रथम स्वकीया के तीन भेद मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा हैं। मुग्धा और प्रगल्भा के धीरा, धीराधीरा और अधीरा-इन तीनों भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा रूप होने पर प्रत्येक के 6-6 भेद हो जाते हैं। इस प्रकार स्वकीया के 13 भेद हैं। अन्या के दो भेद कन्या और ऊढा हैं। साधारण स्त्री का एक भेद मिलाकर कुल नायिका के षोडश-भेद हो जाते हैं। अवस्था भेद से आठ प्रकार हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका।

"साहित्यदर्पण"[3] में विश्वनाथ ने दशरूपक के सदृश नायिका के 16 भेद बताकर, अवस्था भेद से आठ प्रकार मानकर $16 \times 8 = 128$ भेद दिये हैं। इनके उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद होने पर $128 \times 3 = 384$ भेद बताये हैं।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में प्रायः दशरूपककार के नायिका-भेद स्वीकार किये गये हैं। "काव्यालोक" का विवेचन भी "दशरूपक" पर ही आधारित प्रतीत होता है, इसमें कोई नवीन बात न होकर पूर्ववर्ती विवेचन की ही पुनरुक्ति मात्र है।

(10) दोष

"काव्यालोक" के चतुर्थ प्रकाश में दोष-निरूपण किया गया है—

---

1. रु. काव्या.-12, 16-7 तथा 28-30.
2. द. रु.-2,15-27
3. सा. द.-3,56-87

अपकर्षः प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ ।। सू. 82 ।।

प्रधान (रस) का अपकर्ष अथवा आह्लाद का क्षय जिससे होता है, वह दोष है।

दोष के विषय में हरिप्रसाद ने दो बातें बतायीं—(1) दोष रस के अवरोधक हैं और (2) दोष से 'आह्लादक्षति" होती है।

भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक आचार्यों ने दोष-निरूपण किया। ध्वनि-पूर्ववर्त्ती तथा ध्वनि-परवर्त्ती आचार्यों की दोष-विषयक धारणाओं में अन्तर परिलक्षित होता है। ध्वनि-पूर्ववर्त्ती भरत, भामह, दण्डी और वामन ने दोष के बाह्य वस्तुगत अर्थात् शब्दार्थगत रूप पर बल दिया।

भामह ने दोष का सामान्य लक्षण नहीं दिया, केवल यह बताया कि कवि को काव्य में एक भी दोषयुक्त शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये। दोषयुक्त काव्य कुपुत्र के सदृश निन्दनीय होता है। कवि नहीं होने पर मनुष्य धर्म, व्याधि अथवा दण्ड का पात्र होता है, परन्तु विद्वानों ने कुकवित्व को साक्षात् मृत्यु के समान कहा है।[1]

दण्डी का कहना है कि विद्वानों को काव्य में छोटे से छोटे दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सुन्दर शरीर भी श्वेतकुष्ठ के दाग से घृणा उत्पन्न करता है।[2]

सर्वप्रथम वामन ने काव्यशास्त्र के एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में दोषों का वर्णन किया। उनके अनुसार गुण से विपर्यय (विपरीत) स्वरूप वाले दोष होते हैं।[3]

ध्वनि की स्थापना हो जाने पर काव्य का सौन्दर्य बाह्य वस्तुगत न रहकर आत्मगत हो गया, अतएव दोष-स्वरूप में भी परिवर्तन आ गया। अब दोष मुख्यतः आत्मगत (रस से सम्बद्ध) और उसके आश्रय से गौणरूप से शब्द और अर्थगत माने गए। आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम रस के अपकर्ष और अनपकर्ष के आधार पर नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था की तथा रस-दोषों की गणना की।[4]

---

1. सर्वथा पदमप्येकं............मनीषिणः।—भा. काव्या.—1, 11, 12
2. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
   स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ —काव्या.—1,7
3. गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।—काव्या. सू.—2,1, 1
4. ध्वन्या. 2, 11; 3, 19.

आनन्दवर्द्धन की धारणाओं को मम्मट ने स्पष्टरूप में प्रस्तुत किया—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।।[1]

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसे दोष कहते हैं। यहाँ मुख्यार्थ का अभिप्राय रस है, अतः रस के अपकर्षजनक कारण को दोष कहते हैं। रस का आश्रय वाच्यार्थ है, अतः वाच्य का अपकर्षकारक भी दोष माना जाता है। रस और वाच्यार्थ की प्रतीति शब्द, वर्ण और रचना की सहायता से होती है, अतः इनमें भी दोष हो सकते हैं।

मम्मट के समान ही विश्वनाथ का कथन है कि रस के अपकर्षक दोष कहलाते हैं।[2]

अलंकारवादी जयदेव ने शब्द और अर्थ में दोषों की स्थिति स्वीकार की-जिसके द्वारा मन में उद्वेग उत्पन्न होता है और काव्य की रमणीयता नष्ट होती है, वह दोष होता है। यह दोष शब्द और अर्थ में रहता है।[3]

काव्यालोककार हरिप्रसाद के दोष-लक्षण में "रस का अवरोध" तथा "आह्लादक्षति" बताया गया है। हरिप्रसाद ने ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्य भरत, भामह, दण्डी तथा वामन की दोष-विषयक धारणाओं को नहीं अपनाया। ध्वनि-परवर्ती आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ के समान उन्होंने भी प्रधान (रस) का अपकर्ष जिससे होता है, उसे दोष कहा। इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों से हरिप्रसाद का दोष-लक्षण समानता रखता है।

काव्यालोककार ने अपनी "दोष" की परिभाषा में एक नवीनता का भी समावेश किया। उन्होंने "आह्लादक्षति"—जिससे आह्लाद का क्षय होता है उसे भी दोष बताया। काव्य का प्रमुख प्रयोजन आह्लाद-प्राप्ति है, परन्तु जब उसमें जिससे बाधा उत्पन्न हो जाती है, वह भी दोष होता है। अतएव हरिप्रसाद ने रस के अपकर्ष तथा आह्लादक्षति दोनों को दोष कहा। काव्यशास्त्रीय परम्परा में किसी भी आचार्य ने "आह्लादक्षति" को दोष नहीं कहा। इस प्रकार हरिप्रसाद ने ध्वनि-परवर्त्ती विद्वानों के दोष-लक्षण को स्वीकारते हुए उसमें नवीनता का भी समाहार किया।

---

1. का. प्र,—7, 49
2. रसापकर्षका दोषाः ।—सा. द.–7,1
3. स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता ।
   शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ।।—चन्द्रा.–1,2

(10) दोष-भेद

"काव्यालोक" में छह प्रकार के दोष बताये गये हैं—पद-दोष, वाक्य-दोष, पदांश-दोष, समासगत-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष।

पद-दोष के 16 भेदों को उदाहरण सहित स्पष्ट किया गया है। पदांशदोष तथा समासगत दोष का उल्लेख करते हुए वाक्यगत दोष का वर्णन किया है। पद-दोषों में से च्युतसंस्कार, असमर्थ तथा निरर्थक, इन तीन पद-दोषों को छोड़कर शेष दोष वाक्यगत भी होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य 20 वाक्यगत-दोष, 23 प्रकार के अर्थदोष तथा 13 प्रकार के रसदोष और दोषों की अनित्यता (दोषांकुश) का निरूपण भी किया गया है।

काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने दोष-वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। परन्तु व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण मम्मट के "काव्यप्रकाश" में किया गया है। "काव्यालोक" में हरिप्रसाद ने मम्मट को आधार मानकर ही अपना विवेचन किया है। दोष-भेद तथा दोषों की अनित्यता का निरूपण "काव्यप्रकाश" से प्रभावित परिलक्षित होता है।

(11) गुण

गुण के विषय में "काव्यालोक" में कहा गया है—

विशेषाधायकस्तेन गुणः शौर्यादिवत्ततः।
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मः सर्वत्र धर्मिणः ॥सू.98॥

शौर्य आदि के समान विशेषाधायक (विशेषता पैदा करने वाले) धर्म गुण हैं, जो सर्वत्र अलौकिक आह्लादरूप धर्मी (काव्य) के धर्म हैं।

गुण-निरूपण का प्रारम्भ करते हुए भी "काव्यालोक" में विशिष्ट शब्द के धर्म को गुण बताया गया।[1] अलौकिक आह्लाद से युक्त विशिष्ट शब्द है, जिसे काव्य कहा जाता है। अतः काव्य का धर्म गुण है जो शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहता है—

शब्दार्थरसरचनागतत्वेन काव्यधर्मत्वं गुणत्वम्। (सू. 97 की वृत्ति)

अर्थात् शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाले काव्य के धर्म गुण हैं।

1. विशिष्टशब्दधर्माणां गुणानामथ निर्णयः-का. लो. सू.-97

इस प्रकार गुण के विषय में हरिप्रसाद ने दो बातें बतायीं— (1) गुण शौर्य आदि के समान विशेषाधायक धर्म है और (2) गुण शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाले अलौकिक आह्लादरूप धर्मी (काव्य) के धर्म हैं।

गुण के विषय में उन्होंने मूलग्रन्थ "काव्यप्रकाश," नवीन आलोचक "रस-गंगाधर" आदि तथा अपने गुरु के मतों का उल्लेख किया है।

"काव्यप्रकाश" का मत है कि गुण काव्य के धर्म नहीं हैं, अपितु रस के धर्म हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के ही धर्म होते हैं, आकार (शरीर) के नहीं। परन्तु शरीर में शौर्य आदि गुणों की स्थिति उपचार से मानी जाती है, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं तथा योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णों के आश्रित रहने वाले नहीं हैं।

नवीन आलोचक रसगंगाधरकार के मतानुसार गुण रस के धर्म नहीं हैं। जिस प्रकार आत्मा निर्गुण होने से उसमें गुण नहीं रहता, उसी प्रकार रस में भी माधुर्य आदि गुण नहीं रह सकते। विभिन्न रसों में द्रुति आदि जो विभिन्न चित्तवृत्तियाँ हैं, वही चित्तवृत्तियाँ गुण हैं। अर्थात् द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ प्रयोजकता सम्बन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। रस में रहने वाली द्रुत्यादि प्रयोजकता अदृष्ट, काल आदि से विलक्षण (उसमें न रहने वाली), शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाली है। अतः जिस प्रकार रस गुणों के प्रयोजक हैं, उसी प्रकार शब्द, अर्थ और रचना भी। अतः प्रयोजकता सम्बन्ध से वे गुण उनमें रहते ही हैं।

हरिप्रसाद के गुरु का मत है कि गुण रस के धर्म नहीं हैं। द्रुति, दीप्ति और विकास, ये तीनों चित्तवृत्तियाँ क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वाद से उत्पन्न होती हैं, अतः गुण उन चित्तवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले या उनके जनक हैं। वे चित्तवृत्तियाँ गुणों से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि गुण उन चित्तवृत्तियों का प्रयोजन नहीं है और गुण उन चित्तवृत्तियों को उत्पन्न करने वाले नहीं हैं, क्योंकि रस के रूप में उन चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति नहीं होती। समुचित वर्णों से ही तीनों गुण व्यंजित होते हैं। अलौकिक आह्लाद से युक्त विशिष्ट शब्द में काव्य का प्रयोग होता है और शब्दार्थ की शोभा के द्वारा आह्लादरूपी धर्मी के धर्म ही गुण हैं।

इन तीनों मतों का उल्लेख करने के पश्चात् हरिप्रसाद ने अपना मत बताते हुए "विशेषाधायकस्तेन" इत्यादि पंक्तियाँ लिखकर इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है। इन मतों का अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि मम्मट के समान गुण को रस का धर्म हरिप्रसाद ने नहीं माना। मम्मट ने "काव्यप्रकाश" में लिखा है—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।[1]

आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत अंगी रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं ।

यहाँ मम्मट ने गुणों को रस के धर्म बताया है तथा गुण को उत्कर्षहेतु और काव्य में अपरिहार्य माना है । इन दोनों बातों को काव्यालोककार ने नहीं माना । उन्होंने गुणों को रस का धर्म नहीं, अपितु आह्लादरूपी धर्मी (काव्य) के धर्म (अर्थात् विशिष्ट शब्द के धर्म) माना तथा गुणों को विशेषाधायक बताया है ।

"रसगंगाधर" के गुण-विवेचन में मम्मट के मत का खण्डन मात्र किया गया है । अनेक तर्क-वितर्कों के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादित करना चाहा कि गुण रस के धर्म नहीं, अपितु उसके कार्य हैं । पण्डितराज ने रस को गुणों का प्रयोजक माना है, उसी प्रकार शब्द, अर्थ और रचना भी गुणों के प्रयोजक हैं । अतः रस के समान प्रयोजकता सम्बन्ध से गुण शब्द, अर्थ, रचना आदि में भी रहते हैं ।[2] हरिप्रसाद ने इस प्रकार के विवाद में न उलझते हुए इतना ही लिख दिया है कि शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाले काव्य के धर्म गुण हैं ।

हरिप्रसाद ने तृतीय मत अपने गुरु का दिया और उसे स्वीकार किया । जिसके अनुसार गुण शौर्य आदि के समान विशेषाधायक तत्त्व है तथा अलौकिक आह्लादरूपी धर्मी के धर्म हैं ।

काव्यशास्त्रीय परम्परा में अन्य विद्वानों ने भी गुण के विषय में अपने मत दिये हैं । वामन ने गुण का स्पष्ट लक्षण दिया—"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः" ।[3] शब्द और अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाते हैं । गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, क्योंकि उनके बिना काव्य में शोभा की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।[4]

---

1. का. प्र.-8, 66
2. प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः । तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः, इति तु मादृशाः । रस —1, पृ. 228
3. काव्य. सू.-3, 1, 1
4. पूर्वे नित्याः । पूर्वे गुणाः नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।
   -काव्या. सू.-3, 1, 3

आनन्दवर्धन से पूर्व आचार्य गुण को काव्य का धर्म मानते थे। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने इसे रस का आश्रित धर्म स्वीकार किया—जो प्रधानभूत (रस) अंगी के आश्रित रहते हैं वे गुण कहे जाते हैं।[1] विश्वनाथ ने भी इसी तत्त्व को स्वीकार किया।[2]

गुण-परिभाषा में काव्यालोककार ने पूर्व विद्वानों के कुछ मतों को स्वीकार करते हुए भी नवीनता की उद्भावना की। वामन ने गुण को शब्दार्थ का धर्म माना। आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने रस का धर्म बताया। हरिप्रसाद ने शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाले आह्लाद रूपी धर्मी के धर्म को गुण बताया। वामन ने गुण को शोभाधायक कहा, मम्मट ने उत्कर्षाधायक हरिप्रसाद ने गुण को विशेषाधायक बताया। इस प्रकार सभी मतों का समावेश करते हुए हरिप्रसाद ने गुण की नयी परिभाषा दी है।

गुण–भेद

"काव्यालोक" में मम्मटोक्त तीन गुण तथा वामन द्वारा बताये गये दस गुणों का निरूपण किया गया है।

मम्मट के द्वारा कथित गुण तीन हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य।

चित्त के द्रवीभाव का कारण आह्लादस्वरूप माधुर्य गुण हैं, जो सामान्यतः सम्भोग श्रृंगार में रहता है, परन्तु करुण, विप्रलम्भ श्रृंगार तथा शान्त रस में में उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक होता है।

चित्त के विस्तारभूत दीप्ति का हेतु ओज गुण है, जो सामान्यरूप से वीर-रस में रहता है, परन्तु वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः अधिक चमत्कारजनक होता है।

स्वच्छ वस्त्र में पानी के सदृश चित्त में सहसा व्याप्त होने वाला धर्मविशेष प्रसादगुण होता है, जो सभी रसों में रहता है।[3]

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। –ध्वन्या. 2, 6
2. रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। —सा. द. 8, 1
3. तत्र द्रुतिकारणमाह्लादकं माधुर्यं श्रृंगारवृत्ति सातिशयं चेत् करुणविप्रलम्भशान्तेषु। विस्ताररूपदीप्तिजनकत्वमोजः वीरवृत्ति सातिशयं चेत् वीभत्सरौद्रयोः। स्वच्छजलवच्चित्तव्यापको धर्मविशेषः प्रसादः सर्वरसवृत्ती।
–का. लो. सू.-90 की वृत्ति

"काव्यालोक" में वामनोक्त दस गुण–श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता या विकटता, ओज, कान्ति और समाधि का वर्णन भी किया गया है।

वामन[1] ने दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का विवेचन किया। इन शब्द-गुणों तथा अर्थगुणों के नाम एक ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। "काव्या-लोक" में शब्द-गुण के पश्चात् अर्थ-गुण का विवेचन न करके शब्द-गुण के साथ ही अर्थ-गुण भी बता दिये हैं। कहीं-कहीं शब्दगुण और अर्थगुण की भिन्न-भिन्न परिभाषा नहीं दी है। इस प्रकार "काव्यालोक" में मम्मट और वामन, दोनों के अनुसार गुणभेद का विवेचन किया गया, स्वमत नहीं दिया गया है।

मम्मट[2] ने वामनोक्त दस गुणों का खण्डन किया है। वामन के दस गुणों में से कुछ का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसादरूप तीन गुणों में किया है, कुछ को दोषाभाव रूप कहा है और कुछ कहीं पर गुण न होकर दोषरूप हो जाते हैं, अतः तीन ही गुण माने जा सकते हैं। "काव्यप्रकाश" में कथित इस प्रकरण को हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" में भी उद्धृत किया।[3] परन्तु काव्या-लोककार को वामन का मत स्वीकार है अथवा मम्मट का, इस विषय में उन्होंने कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। परन्तु "काव्यप्रकाश" को "मूलग्रन्थ" कहने से सम्भवतः मम्मटोक्त मत ही उन्हें मान्य है।

गुणों की व्यंजक पांच वृत्तियां—

"काव्यालोक" में पाँच प्रकार की वृत्तियाँ बताती गयी हैं-मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा।[4] गुण में वर्ण और पदघटना विशेष होने पर ये पाँच वृत्तियाँ होती हैं।

"काव्यालोक" के विवेचन से प्रतीत होता है कि ये वृत्तियाँ गुणों की व्यंजक हैं। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि कौन सी वृत्ति किस गुण की व्यंजक है। विवेचन

---

1. काव्या. सू.-3, 1-2
2. का. प्र.-8, 72
3. एवं केषांचिद्दोषाभावरूपत्वं केषांचिदुक्तगुणेष्वंतर्भाव इति न पृथग्गुण-कल्पिनेति मूलग्रंथाभिप्रायः।-का. लो.-सू. 104 की वृत्ति
4. अथ गुणविशेषे वर्णघटनाविशेषः मधुरः प्रौढपरुषौ ललितो भद्र इत्यपि ॥सू. 105॥

के अन्त में केवल इतना लिखा है कि गुणों में मधुर आदि रचना-विशेष यथानुसार जानना चाहिये।

रुद्रट ने अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा, इन पाँच वृत्तियों का निरूपण किया है।[1] इन पाँचों वृत्तियों के नाम तथा लक्षण[2] में "काव्यालोक" से समानता है। अतः इस विवेचन में हरिप्रसाद रुद्रट से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

रीति

"काव्यालोक" में रीतियों का संक्षेप में निरूपण किया गया है। रीति गुणों की सहचारिणी होती है। समास के भेद से अर्थात् समासरहित और समासयुक्त होने पर रीति होती है।[3] वैदर्भी, पांचाली, लाटी और गौड़ी ये चार रीतियाँ बतायी गयी हैं।

समासरहित वैदर्भी रीति होती है। इसमें क्रियापदों का उपसर्ग के साथ योग व्याघात उत्पन्न नहीं करता। दो या तीन समस्तपद होने पर पांचाली रीति होती है। पाँच या सात समासयुक्त पद होने पर लाटी रीति होती है और अनेक समस्तपद होने पर गौड़ी रीति होती है।

गुण, वृत्ति और रीति—

"काव्यालोक" में गुण-निरूपण में मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ तथा वैदर्भी, पांचाली, लाटी और गौड़ी—ये चार रीतियाँ बतायी गयी हैं। गुण–विशेष में वर्ण तथा पदघटना विशेष होने पर वृत्तियाँ होती हैं। रीति गुण की सहचारिणी है तथा समास के भेद से होती है। इस प्रकार गुण, वृत्ति और रीति अलग-अलग माने गये हैं।

काव्यशास्त्र में रीति और गुण के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विवेचन किया गया है।

काव्यशास्त्र में वामन की परिभाषा "विशिष्टपदरचना–रूप रीति"[4]

---

1. मधुरा प्रौढ़ा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पंच।
   वर्णानां नानात्वादस्यति यथार्थनामफलाः॥ —रु. काव्या.–2, 19
2. रु. काव्या.–2, 20, 31
3. रीतिः समासभेदेन सापि तत्सहचारिणी॥ सू. 106॥
4. विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। —काव्या. सू.–1, 2, 7-8

सर्वमान्य रही । वामन ने शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्मों के रूप में गुणों को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्ध माना । परन्तु आनन्दवर्धन आदि परवर्ती आचार्यों के अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है, जो गुण के द्वारा रसदशा तक पहुँचाने में साधनरूप से सहायक होती है ।[1] काव्यालोककार ने इस विषय पर विचार नहीं किया । उन्होंने वृत्ति तथा रीति की परिभाषा नहीं दी, केवल इतना बताया कि गुण-विशेष में वर्ण और पदघटना विशेष होने पर पदवृत्तियाँ होती हैं तथा समास के भेद से रीति होती हैं, जो गुण की सहचारिणी है ।

"काव्यालोक" के प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने वृत्ति और रीति को अलग-अलग माना है । काव्यशास्त्रीय अन्य आचार्यों ने इस प्रकार का भेद नहीं किया । मार्ग, वृत्ति, रीति, संघटना तथा शैली शब्द प्रायः समानार्थक हैं । एक ही पदार्थ को भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलग-अलग नाम दिया । वर्णों के आधार पर विभाजन करके उद्भट ने तीन वृत्तियाँ बतायीं—उपनागरिका, परुषा और कोमला ।[2] इन्हीं वृत्तियों को वामन ने तीन रीतियों के रूप में, कुन्तक और दण्डी ने मार्ग के रूप में तथा आनंदवर्धन ने संघटना के रूप में वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी ये तीन वृत्तियाँ बतायीं । आनन्दवर्धन ने समास के आधार पर रीतियों का भेद किया ।[3] मम्मट ने वर्णों के आधार पर वृत्तियाँ बताकर उपनागरिका को वैदर्भी, परुषा को गौड़ी और ग्राम्या को पांचाली बताया ।[4] विश्वनाथ ने वर्ण तथा समास दोनों के आधार पर लाटी रीति भी स्वीकार करते हुए चार रीतियाँ कहीं ।[5] परन्तु काव्यालोककार ने उपर्युक्त समस्त विवरण से भिन्न अपना मत दिया । उन्होंने वृत्तियों और रीतियों का अलग-अलग विवेचन किया । रुद्रट ने अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत जो पाँच वृत्तियाँ बतायीं, उनको हरिप्रसाद ने गुण-व्यंजक के रूप में स्वीकार किया । रीतियों को गुण की सहचारिणी बताया, परन्तु केवल समास के आधार पर उनका भेद किया । इस प्रकार वृत्तियों और रीतियों का इस रूप में विभाजन अन्य आचार्यों से अलग अपनी विशेषता रखना है ।

---

1. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
   रसान्................................ ।। ध्वन्या.–3, 6
2. का. सा. स.–6, 8, 10
3. ध्वन्या.–3, 5
4. का. प्र.–9, 80-1
5. सा. द.–9, 2-5

(12) अलंकार

अलकार काव्य के आह्लाद का हेतु होता है और काव्य में संयोगवृत्ति से विद्यमान रहता है। जैसे तिलक आदि स्त्रियों की सौन्दर्य-वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि ही उसकी (अलंकार की) गति है—

संयोगवृत्त्यालंकारः काव्यस्याह्लादकारणम् ।
तिलकादिरिव स्त्रीणां शब्दार्थे चोन्मिषद्गतिः ।। सू. 107 ।।

उक्त लक्षणानुसार काव्यालोककार ने अलंकार के सम्बन्ध में तीन बातें कहीं—(1) अलंकार काव्य के आह्लाद का कारण है। (2) अलंकार काव्य में संयोग सम्बन्ध से स्थित रहते हैं और (3) इससे शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि होती है।

भामह ने अलंकार को काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व मानते हुए कहा कि जिस प्रकार कामिनी का सुन्दर मुख भी आभूषण के विना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार अलंकारों के विना काव्य की शोभा नहीं होती।[1]

दण्डी के अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहा जाता है।[2] इस परिभाषा के अनुसार उन्होंने उपमा आदि अलंकारों के अतिरिक्त अन्य सभी शोभाकारक धर्मों को भी अलंकार कहा।

वामन ने उपमादि अलंकारों को काव्यशोभा का हेतु वताया।[3]

आनन्दवर्धन ने पूर्ववर्ती आचार्यों से कुछ भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अब तक आचार्यों ने अलंकार को काव्य का शोभाकारक अथवा शोभा की वृद्धि करने वाला बताया था। आनन्दवर्धन ने काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले अलंकारों का प्रयोग रस के उपकारक के रूप में ही स्वीकार किया। आनन्दवर्धन के अनुसार जो काव्य के अंग शब्द और अर्थ के आश्रित हैं—उनको कटक आदि के समान अलंकार कहते हैं।[4]

आनन्दवर्धन की इसी धारणा को स्वीकारते हुए मम्मट[5] तथा

---

1. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।। —भा. काव्या.–1, 13
2. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।। —काव्या.–2, 1
3. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः । —काव्या.–सू. 3, 1-2
4. अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत् । —ध्वन्या.–2, 6
5. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।। —का. प्र.–8, 67

विश्वनाथ[1] ने अलंकार के लक्षण दिये। उनके अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ रूप अंगों के द्वारा मुख्य रस के उपकारक हैं तथा शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं।

मम्मट तथा विश्वनाथ के समान काव्यालोककार हरिप्रसाद ने भी अलंकारों को काव्य का अस्थिर धर्म माना। परन्तु जहाँ मम्मट और विश्वनाथ ने अलंकार को शब्द और अर्थ के द्वारा मुख्य रस का उपकारक माना है, जहाँ हरिप्रसाद ने अलंकार को शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि करने वाला बताया है। भामह, दण्डी और वामन ने अलंकार को काव्य-शोभा का हेतु अथवा काव्य-शोभा की वृद्धि करने वाला बताया, परन्तु हरिप्रसाद ने अलंकार को शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि करने वाला बताया है। अलंकार के विषय में हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न एक नवीन बात कही कि अलंकार काव्य के आह्लाद का कारण है। हरिप्रसाद के अनुसार काव्य में आह्लाद का विशेष महत्त्व है और अलंकार उस आह्लाद का कारण है, जो संयोग सम्बन्ध से काव्य में विद्यमान रहता है। इस कारण अलंकार-लक्षण में हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती मतों को अंशतः स्वीकार करते हुए भी नवीनता का समावेश किया है।

गुण और अलंकार—

काव्यालोककार गुण और अलंकारों में भेद मानते हैं। गुण शौर्य आदि के समान विशेषाधायक धर्म हैं, जो आह्लादरूपी धर्मी के धर्म हैं।[2] अलंकार काव्य-आह्लाद के कारण हैं, जो संयोग सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं और स्त्रियों के तिलकादि के समान शब्द और अर्थ की सौंदर्यवृद्धि करते हैं।[3] गुण और अलंकार दोनों पदों में रहते हैं परन्तु—"पदसमवेताः गुणाः भवन्ति अलंकारास्तु पदानां संयोगेन भवन्ति।"[4] गुण पदों में समवेत होते हैं (अर्थात् समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होते हैं) और अलंकार पदों में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं।

गुण और अलंकार के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र में तीन प्रमुख मत हैं—(1) भट्टोद्भट, (2) वामन और (3) आनन्दवर्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ

---

1. शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ —सा. द.–10,1
2. विशेषाधायकस्तेन गुणः शौर्यादिवत्सतः।
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मः सर्वत्र धर्मिणः॥—का. लो.–सू. 98
3. संयोगवृत्त्यालंकारः काव्यस्याह्लादकारणम्।
तिलकादिरिव स्त्रीणां शब्दार्थे चोन्मिषद्गतिः॥ —का. लो.–सू. 107
4. का. लो.–सू. 107, वृत्ति पर मू. पा. टि.

का मत। हरिप्रसाद ने "काव्यालोक" में भट्टोद्भट[1] के अभेदवादी मत को स्वीकार नहीं किया। गुणों को समवाय सम्बन्ध से तथा अलंकारों को संयोग सम्बन्ध से स्थिर मानकर उन्होंने भी वामन,[2] मम्मट[3] और विश्वनाथ[4] के समान गुणों को अपरिहार्य तथा अलंकार को अस्थिर धर्म स्वीकार किया। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ भिन्नता भी परिलक्षित होती है। वामन ने गुणों को काव्य-शोभा का जनकत्व तथा अलंकार को उस शोभा के अतिशय का हेतु बताया। हरिप्रसाद ने वामन के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। आनन्दवर्धन[5], मम्मट और विश्वनाथ ने गुणों को रस का धर्म और अलंकार को शब्दार्थ द्वारा रस का उपकारक माना। परन्तु हरिप्रसाद ने गुण और अलंकार दोनों को ही पद में स्थित माना है। गुण पद के साथ समवेत रहते हैं और अलंकार पद में संयोग सम्बन्ध से स्थित रहते हैं। इस प्रकार मम्मट आदि आचार्यों ने रस के आधार पर गुण-अलंकार का भेद किया, परन्तु हरिप्रसाद ने पद के साथ उसके सम्बन्ध के आधार पर भेद स्पष्ट किया।

अलंकारों की संख्या, भेद तथा वर्गीकरण—

"काव्यालोक" के षष्ठ व सप्तम प्रकाश में क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन किया गया है।

शब्दालंकार शब्दविशेष की महिमा से, संयोगवृत्ति से ही काव्यास्वाद के

---

1. समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः। —का. प्र. 8,–पृ.-384
2. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।
   तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः॥
   पूर्वे नित्याः।—काव्य. सू-3, 1, 1-3
3. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
   उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥—का. प्र.-8, 66-7
4. रसस्यागित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः।
   शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ —सा. द.—10, 1
5. तमर्थमवलम्बन्ते येऽगिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्॥—ध्वन्या.-2, 6

हेतु कहे जाते हैं।[1] श्लेष-लक्षण में शब्दालंकार के लिये "शब्दभूषण" शब्द का प्रयोग भी किया गया है।[2]

"काव्यालोक" में निरूपित पाँच शब्दालंकार हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रक। इन सभी अलंकारों का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित लक्षण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। "सरस्वतीकण्ठाभरण" में भोजराज द्वारा निरूपित 24 शब्दालंकारों का भी उदाहरणसहित विवेचन यहाँ किया गया है। परन्तु ये 24 शब्दालंकार उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। इनमें से कुछ का "काव्यालोक" में कथित पाँच शब्दालंकारों में तथा कुछ का अर्थालंकारों में अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ संकीर्ण के सदृश प्रतीत होते हैं।[3] इस प्रकार पाँच ही शब्दालंकार स्वीकार किये गये।

"काव्यालोक" में निरूपित अर्थालंकार 70 हैं। यद्यपि पाण्डुलिपि में इसकी संख्या 71 दी गई है। प्रायः सभी अलंकारों के अन्त में संख्या का निर्देश किया गया है। इकतालीसवें अलंकार का विवेचन प्रारम्भ करते हुए शृंखलामूलक अलंकारों का उल्लेख है, जिनमें कारणमाला तथा एकावली अलंकारों का वर्णन है। परन्तु अन्त में संख्या का परिगणन करते हुए सम्भवतः प्रतिलिपिकार की भूल से शृंखला को अलग अलंकार मान लिया गया है।[4] "काव्यालोक" में निरूपित 70 अर्थालंकार हैं—(1) उपमा, (2) उपमेयोपमा, (3) अनन्वय, (4) असम, (5) उदाहरण, (6) स्मरण, (7) रूपक, (8) परिणाम (9) सन्देह, (10) भ्रान्तिमान्, (11) उल्लेख, (12) अपह्नुति, (13) उत्प्रेक्षा, (14) अतिशयोक्ति, (15) तुल्ययोगिता, (16) दीपक, (17) प्रतिवस्तूपमा, (18) दृष्टान्त, (19) निदर्शना, (20) व्यतिरेक (21) सहोक्ति, (22) विनोक्ति, (23) समासोक्ति, (24) परिकर, (25) श्लेष, (26) अप्रस्तुतप्रशंसा, (27) पर्यायोक्ति, (28) व्याजस्तुति, (29) आक्षेप, (30) विरोध, (31) विभावना, (32) विशेषोक्ति,

---

1. एते शब्दालंकाराः शब्दविशेषमहिम्ना संयोगवृत्त्यैव काव्यास्वादहेतवः इत्याहुः। —का. लो.-सू. 119 की वृत्ति (षष्ठ प्रकाश के अन्तिम प्रकरण में)
2. का. लो.—सू. 118
3. अत्र केचिदुक्तशब्दालंकारेषु केचिदर्थचमत्कारप्रधानार्थालंकारेषु केचित्तु काव्यवैचित्रीमात्रहेतव इति परस्परं संकीर्णा इव लक्ष्यन्ते।
   —का. लो.-सू. 119 की वृत्ति (षष्ठ प्रकाश के अन्तिम प्रकरण में)
4. का. लो.-सू. 171, वृत्ति की मू. पा. टि.

(33) असंगति, (34) सम, (35) असम, (36) अधिक, (37) विचित्र, (38) अन्योन्य, (39) विशेष, (40) व्याघात, (41) कारणमाला, (42) एकावली, (43) सार, (44) काव्यलिंग, (45) अर्थान्तरन्यास, (46) अनुमान (47) यथासंख्य, (48) पर्याय, (49) परिवृत्ति, (50) परिसंख्या, (51) अर्थापत्ति, (52) विकल्प, (53) समुच्चय, (54) समाधि, (55) प्रत्यनीक, (56) प्रतीप, (57) मीलित, (58) सामान्य, (59) तद्गुण (60) अतद्गुण, (61) सूक्ष्म, (62) व्याजोक्ति, (63) वक्रोक्ति, (64) स्वाभावोक्ति, (65) भाविक (66) प्रौढोक्ति, (67) लेश, (68) उदात्त, (69) संसृष्टि और (70) संकर।

पाण्डुलिपि के प्रारम्भ में "अर्थालंकारनिरूपण" लिखा होने से ही स्पष्ट है कि इसमें अर्थालंकारों का भेदोपभेद तथा उदाहरणसहित विस्तार से वर्णन किया गया है। अर्थालंकारों को प्रारम्भ में औपम्य, अतिशय, श्लेष और वास्तव, इन चार वर्गों में विभाजित किया गया है। परन्तु इस वर्गीकरण के अनुसार अर्थालंकारों का निरूपण नहीं किया गया।

संस्कृत काव्यशास्त्र में अनेक आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन किया है। "काव्यालोक" के अलंकार-विवेचन पर प्रमुखतः रुद्रट के "काव्यालंकार", मम्मट के "काव्यप्रकाश" तथा पण्डितराज जगन्नाथ के "रसगंगाधर" का प्रभाव लक्षित होता है। हरिप्रसाद से पूर्व विद्वानों ने अलंकारों के विषय में जो कुछ भी विवेचन किया था, उसका पुनः अवलोकन करते हुए हरिप्रसाद ने अलंकारों के सम्बन्ध में एक निश्चत मत देने का प्रयत्न किया है। जिस आचार्य का मत अलंकारविशेष में उन्हें उचित प्रतीत हुआ, उसे ही यहाँ प्रस्तुत कर दिया गया है। अतः उनका यह विवेचन अनेक आचार्यों से प्रभावित है। शब्दालंकारों का आधार रुद्रट का "काव्यालंकार" तथा मम्मट का "काव्यप्रकाश" है। अर्थालंकारों का प्रमुख आधार "रसगंगाधर" है, परन्तु कहीं-कहीं भिन्नता भी है। दोनों में अलंकार-संख्या समान होते हुए भी 8 अलंकार भिन्न हैं। अर्थालंकार का लक्षण, उदाहरण तथा शास्त्रीय विवेचन प्रमुखतः "रसगंगाधर" को आधार बनाकर किया गया है। कुछ स्थलों पर, यथा-भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, समासोक्ति, विरोध, काव्यलिंग, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि तथा संकर अलंकार में "काव्यप्रकाश" को आधार बनाया गया। स्वल्परूप में, यथा—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में "कुवलयानन्द" का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। अतः इस प्रसंग में किसी नवीनता का प्रस्तुतीकरण नहीं हो सका। केवल इतनी ही नवीनता है कि पूर्ववर्ती ग्रन्थों के विस्तृत एवं शास्त्रीय गूढ़ विवेचन को सरलता से प्रस्तुत किया गया है।

3–काव्यालोक का महत्त्व

पूर्व-विवेचन से स्वतः स्पष्ट है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ-परम्परा में "काव्यालोक" का विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ में पूर्व-निरूपित काव्यशास्त्रीय विषयों पर पुनर्विचार किया गया। पूर्व मतों को स्वीकार करते हुए अथवा तर्कसम्मत आलोचना करते हुए उन्हीं काव्यांगों का नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय-निरूपण में एक नवीनता परिलक्षित होती है और वह नवीनता है—"लोकोत्तराह् लाद" अथवा "चमत्कार" का विवेचन। सम्पूर्ण ग्रन्थ में इसी "अलौकिक आह् लाद" या "चमत्कार" को पुनः-पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। काव्य-लक्षण[1] में "लोकोत्तर आह् लाद" को विशिष्ट महत्त्व दिया गया। "लोकोत्तरता" का अभिप्राय है—सुखातिशय का कारण चमत्कार–विशेष[2]। अतः इस विशिष्ट चमत्कार से युक्त आह्लाद को उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द को काव्य कहा गया है।

काव्य-प्रयोजन[3] के अन्तर्गत "परमाह् लाद" को स्वीकार किया गया और वही परमाह् लाद "सकलप्रयोजनमौलिभूत" है। "काव्य-हेतु"[4] में भी काव्य को चमत्कारात्मक कहा गया है। "चमत्कार" को ही काव्य की आत्मा[5] माना, जो सुखातिशय का कारण है। ध्वनि-विवेचन[6] में भी ध्वनि को परमाह् लाद का

1. लोकोत्तराह् लादकार्थः शब्दः काव्यम् ।-का. लो.-सू. 7
2. लोकोत्तरत्वं च सुखातिशयकारणं चमत्कारविशेषः ।-का. लो.-सू.7 की वृत्ति
3. काव्यस्य परमाह् लादकीर्त्यादिफलयोगिनः ।
   हरिप्रसादविदुषा मीमांसा कापि तन्यते ।।-का. लो.-सू 1
4. सबीजस्य कवेस्तत्र सरसप्रतिमांकुरः ।
   कारणं वपुषस्तस्य चमत्कारपरात्मनः ।।-का. लो. —सू 4
   चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थः । का. लो. सू 4 की वृत्ति
5. रस आत्मा इति परे आचार्य्या ऊचुः । स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य ।
   —का. लो.-सू. 5 की मू. पा. टि.
   तत्सुखातिशयकारणं चमत्कार एव काव्यप्राणा इति सिद्धम् ।-का. लो.-सू. 6 की वृत्ति
6. शब्दस्थानविलासोत्थः परमाह् लादकारणम् ।
   अर्थरूपपरामर्शवेद्यः कश्चिद् ध्वनिर्बुधाः ।।-का. लो.-सू. 29

कारण कहा है। विलक्षण चमत्कारातिशय को प्रकट करने के कारण ध्वनि से परमाह्लाद की प्राप्ति होती है।

रस-निरूपण[1] में भी, सभी रसों से आह्लाद-प्राप्ति का विवेचन करते हुए हरिप्रसाद ने यही लिखा है कि करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रस आह्लाद प्राप्त कराने वाली वृत्ति के प्रतिकूल हैं, तथापि वहाँ भी लोकोत्तराह्लादकार्थ विशिष्ट काव्य-व्यापार की ही महिमा होती है जिससे उक्त रसों में चारुत्व का अनुसंधान होता है।

काव्य में दोष[2] भी वही हैं, जो रस के अपकर्षक हैं अथवा आह्लाद का क्षय करते हैं। गुण-विवेचन[3] में भी काव्य को "आह्लादरूपी धर्मी" कहा है। अलंकारों[4] को काव्य-आह्लाद का हेतु कहा है।

इस प्रकार प्रत्येक काव्यांग का विवेचन करते हुए "अलौकिक आह्लाद" अथवा "चमत्कार" का उल्लेख अवश्य किया गया है। पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी "अलौकिक आह्लाद" का महत्त्व आचार्यों ने स्वीकार किया, परन्तु हरिप्रसाद के समान नहीं। ऐसा प्रतीत होता है मानो इसी को स्थापित करने के लिए "काव्यालोक" की रचना की गई, अतः किसी भी विषय का वर्णन करते हुए यथासम्भव पुनः-पुनः इसका प्रतिपादन किया गया है।

"काव्यालोक" में काव्यशास्त्र के सभी तत्त्वों को सरलता से समझाने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ-रचना का प्रमुख उद्देश्य अलंकारों का विवेचन करना है। अलंकारों का क्षेत्र विशाल समुद्र के सदृश होने के कारण इसे पार करना कठिन प्रतीत होता है। इस पाण्डुलिपि के प्रतिलिपिकार चोक्षचन्द्र का यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि यदि कोई व्यक्ति अलंकाररूपी विशाल समुद्र को पार करना चाहता है तो उसे कंठ से काव्यालोकरूपी जहाज का आश्रय लेना

---

1. अत्र करुणरौद्रवीभत्सभयानकादीनामनुभाववृत्त्याह्लादप्रतिकूलत्वेऽपि लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टकाव्यव्यापारमहिम्ना चारुत्वमनुसंधेयम्।
—का. लो.–सू. 50 की वृत्ति
2. अपकर्षः प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ। —का. लो.–सू. 88
3. विशेषाधायकस्तेन गुणः शौर्यादिवत्सतः।
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मः सर्वत्र धर्मिणः॥ —का. लो.–सू. 98
4. संयोगवृत्त्यालंकारः काव्यस्याह्लादकारणम्॥ —का. लो.–सू. 107

चाहिये ।[1] चोक्षचन्द्र के इस कथन से काव्यशास्त्रीय परम्परा में "काव्यालोक" के अलंकार–निरूपण का महत्त्व स्वतः परिलक्षित हो जाता है । इसी प्रकार अन्य विषयों के विवेचन से भी यही प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार प्रत्येक विषय को सरलता से यहाँ स्पष्ट करना चाहता है ।

"काव्यालोक" में वर्णित सभी विषय ऐसे हैं, जिनका वर्णन पूर्व में अनेक आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है । अनेक स्थलों पर "काव्यप्रकाश" अथवा "रसगंगाधर" के आधार पर विवेचन किया गया है, कहीं-कहीं अन्य आचार्यों के मतों को भी प्रस्तुत किया गया है । इस ग्रन्थ में प्रत्येक काव्यांग के विवेचन में विभिन्न मतों का पुनः अवलोकन करते हुए एक निश्चित मत को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । किसी भी आचार्य का मत उचित प्रतीत होने पर उसे स्वीकार किया गया और अन्य मतों की तर्क-सम्मत आलोचना की गई । इस रूप में इस कृति को एक शोध-ग्रन्थ के समान स्वीकार किया जा सकता है । स्वयं कृतिकार के शब्दों में ही यह ग्रन्थ "माधुकरी-भिक्षा" के समान है । पूर्ववर्ती ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, वही इसमें प्रस्तुत किया गया है । हरिप्रसाद ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों से काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का संचय करते हुए, मधुमक्खी के सदृश नवीन मधु को "काव्यालोक" के रूप में प्रस्तुत किया है ।[2] अतएव मधु के सदृश ही "काव्यालोक" का वैशिष्ट्य स्वीकरणीय है ।

---

1. अलंकाराम्बुधेः पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि ।
   काव्यालोकप्रवहणं तदाश्रयत कंठतः ॥ —का. लो. पुष्पिका
2. इयं माधुकरीभिक्षा सुमनोभ्यः समाहृता ।
   वालानां तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते ॥
   प्राचीनैर्यदिहोदितं बहुविधैर्ग्रन्थैस्तदत्राहृतम् ।
   संक्षेपेण न किंचिदन्यदुदितं गर्वेण तद्वन्मया ॥ —का. लो.–पुष्पिका

ओम्

श्री गणेशाय नमः

श्री हरिप्रसादकृतः

काव्यालोकः

प्रथमः प्रकाशः

अभिधेयकथनपुर स्सरं सप्रयोजनं शास्त्रारम्भं प्रतिजानीते—

काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्यादिफलयोगिनः ।
हरिप्रसादविदुषा[1] मीमांसा कापि तन्यते ।। सू. 1 ।।

निपुणवर्णनारूपकविकर्मणः कापीत्येकदेशमात्रकथनं, मीमांसा लक्षणविचारः, परमाह्लाद[2] इति सकलप्रयोजनमौलिभूतं तदर्थकपुरुषार्थ-साधनप्रवृत्तेः, आदिपदाद्धावकादीनामिव धनं मयूरादीनामिवानर्थनिवृत्तिरित्यादि धनानर्थनिवृत्तिव्यवहारज्ञानादिकं संगृह्यते ।

ग्रन्थकार (अभिधेय) कथनीय या वर्णनीय विषय के पूर्व प्रयोजन-सहित शास्त्र के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा करता है—

काव्य के प्रयोजन—

हरिप्रसाद नामक विद्वान् के द्वारा परमाह्लाद, कीर्ति आदि फल से युक्त काव्य की कोई नवीन (प्रस्तुत) मीमांसा (विवेचना) की जा रही है ।। सू. 1 ।।

काव्य का अर्थ है–निपुणवर्णना–रूप कविकर्म । "काऽपि" अर्थात् एकदेश-मात्र कथन । "मीमांसा" का अर्थ है—लक्षण–विचार । "परमाह्लाद" काव्य-प्रयोजनों का शिरोमणि है, क्योंकि पुरुषार्थ-चतुष्टय के साधन की प्रवृति भी काव्य में परमाह्लाद के लिये ही होती है । "आदि" पद द्वारा (कीर्ति.. के साथ ही) धावक आदि के लिये धन, मयूर आदि कवियों की अनर्थ-निवृत्ति इत्यादि धन-लाभ, अनर्थ-निवारण, व्यवहार-ज्ञान आदि (मम्मटोक्त) प्रयोजनों का ग्रहण होता है ।

---

1. हरिप्रसादेन नवेत्यपि पाठः (मू. पा. टि.) 2. ० ल्हाद

कापि दृग्व्यंजनावृत्तिर्येन[1] याति रसात्मताम् ।
सद्यः श्रवणसंस्कारैस्तदिदं काव्यमुच्यते ।। सू. 2 ।।

श्रवणजन्यसुखानुभूततत्तदर्थविषयैः काव्येन सद्य एव विगलितवेद्यान्तरानन्दमहिम्ना दृशो[2] व्यंजनावृत्तिः काव्यचमत्कारातिशयसूचनव्यापारविशेषः रसात्मतां स्वस्यान्यस्य च प्राप्नोति, तत् एवं विचारितं [1 ब] काव्यं अत उच्यत इ∆त्यर्थः दृशोरिति समासे तु विधेयांशतिरोधाने तद्विषये साक्षाद्व्यंजनावृत्तिप्राकट्येन रसात्मतां गच्छति । अत्र रसः काव्यचमत्कारातिशयरूप आस्वादः ।

शास्त्रकान्तारखिन्नाया भारत्याः सुखहेतवे ।
काव्यकल्पतरुच्छाया वेधसैव प्रकाश्यते ।। सू. 3 ।।

अत्र कविरेव वेधाः, भारत्येव भारती, शास्त्रमेव कान्तारस्तत्र परिभ्रमणमेव खेदः, काव्यमेव कल्पतरुः ।

काव्य का स्वरूप—

श्रवणमात्र से श्रुति-संस्कारों के द्वारा तत्काल ही जिसके द्वारा कोई अनिर्वचनीया, (चमत्कृत) नेत्रों द्वारा व्यंजित होने वाली (दृक्) व्यंजनावृत्ति रसात्मता (रसरूपता) में परिणत हो जाती है—उसे काव्य कहा जाता है । (निरुक्त पद्धति से इस लक्षण के अन्तर्गत "काव्य" पद में "काऽपि व्यंजनावृत्तिः" के आद्य अक्षरों का ग्रहण किये जाने की प्रतीति होती है ।) ।। सू. 2 ।।

श्रवणजन्य सुख से अनुभूत विभिन्न विषयों द्वारा तत्काल ही (सुनने के साथ ही) अन्य ज्ञान-विषयों को नष्ट करने की महिमा वाले काव्य के द्वारा नेत्र से प्रकट होने वाली, काव्य के अतिशय चमत्कार को सूचित करने वाली, विशिष्ट व्यापाररूपा व्यंजनावृत्ति जब स्वयं वक्ता और अन्य श्रोता दोनों की रसात्मता में परिणत हो जाती है—उसे ही विद्वानों ने विचार करके काव्य की संज्ञा दी है। "दोनों नेत्रों की" (व्यंजनावृत्ति)—ऐसा समास विग्रह करने पर तो विधेयांश का तिरोधान हो जाने पर "दृशोः"—इस उद्देश्यांश के विषय में व्यंजनावृति के साक्षात् (प्रत्यक्ष) प्रकट होने के कारण (नेत्रों तक से चमत्कृति के अतिशय की अभिव्यक्ति दिखाई देने पर) व्यंजनावृत्ति रसरूप में परिणत हो जाती है । यहाँ रस काव्य-चमत्कार का अतिशयरूप आस्वाद है ।

---

1. काव्येन (मू. पा. टि.) 2. नेत्रात् (मू. पा. टि.)

शास्त्ररूपी विशाल जंगल से खिन्न हुई वाणी के सुख के हेतु, कवि रूपी स्रष्टा के द्वारा काव्य-रूपी कल्पवृक्ष की छाया प्रकाशित की जाती है ।। सू. 3 ।।

यहाँ कवि ही स्रष्टा (वेधाः) है, भारती ही भारती है (भाषा ही उसकी वाणी है), शास्त्र ही विशाल जंगल है, उसमें परिभ्रमण करना ही खेद है तथा काव्य ही कल्पवृक्ष है ।

सबीजस्य कवेस्तत्र[1] सरसप्रतिभाङ्कुरः ।
कारणं वपुषस्तस्य[2] चमत्कारपरात्मनः ।। सू. 4 ।।

[2अ] तत्र प्रथमं काव्यवपुषः कारणं सबीजस्य कवेः सरसप्रतिभाङ्कुरः । एतेन द्वये कवयः सम्भवन्ति अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्चेति वामनः । तत्र सतृणाभ्यवहारिणः कवय एव न भवन्ति । सबीज इत्येव तल्लक्ष्म । प्राक्तनसंस्कार-विशेषो बीजं यं विना निर्मातृत्वस्वादकताविरहः । तदेवं काव्यस्य कीर्त्याह्लादाद्यनेकप्रयोजनवतो देवता-प्रसादात् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां वा घटनानुकूलशब्दार्थोप-स्थितिरेव कारणं नवनवोल्लेखशालिन्याः प्रज्ञाया एव प्रतिभात्वात् चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थः ।

काव्य का हेतु—

इस काव्य में बीजसहित कवि का सरस प्रतिभारूपी अंकुर ही, अतिशय चमत्कारात्मक उस काव्य के शरीर का कारण है ।। सू. 4 ।।

इस काव्य में बीजसहित कवि का सरस प्रतिभा रूपी अंकुर ही काव्य-शरीर का प्रथम कारण है । इससे दो प्रकार के कवि उत्पन्न होते हैं—"अरोचकी" (विवेकी) तथा "सतृणाभ्यवहारी" (अविवेकी)-यह वामन का कथन है । इसमें "सतृणाभ्यवहारी"(अविवेकी)कवि ही नहीं होते । सबीज ही कवि का लक्षण है । पहले से रहने वाला संस्कार-विशेष बीज है, जिसके बिना काव्य के निर्मातृत्व की स्वादकता नहीं हो सकती । वह बीज ही कीर्त्ति, आह्लाद आदि अनेक प्रयोजनों से युक्त काव्य का कारण है, जिसमें देवताओं की प्रसन्नता से अथवा (लोक-व्यवहार, शास्त्र, काव्य, इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न) व्युत्पत्ति और पुनः-पुनः काव्य-शिक्षा के अभ्यास से काव्य-संघटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति होती है । नवनवोन्मेष (उल्लेख)—शालिनी प्रज्ञा (बुद्धि) को ही प्रतिभा कहा जाता है । उस प्रतिभा से उत्पन्न काव्य की श्रेष्ठ आत्मा चमत्कार ही है, यही अभिप्राय है ।

---

1. काव्ये (मू. पा. टि.)
2. सरसा या प्रतिभा स एवाङ्कुरः तस्य काव्यस्य वपुषः कारणम् (मू. पा. टि.)

शब्दः शरीरं काव्यस्य घटनावयवस्थितिः ।
हारादिवदलङ्कारा रस[1] आत्मा परे जगुः ।। सू. 5 ।।

तथाहुःशब्दार्थौ शरीरं ध्वनिरसवः आत्मा रसः माधुर्य्याद्यागुणाः उपमादयोऽलङ्काराः रीतिरवयवसंस्थानं यदि दोषः श्रवणकटुतादिरेव नान्य इति । "काव्यं श्रुतमर्थो नावगत" इति शब्द एव लोकप्रतीतिपर्यवसानात् शरीरे पुरुषव्यपदेशवत् शब्द एव काव्यव्यवहारस्य न्याय्यत्वादिह शब्दः शरीरं काव्यस्येत्युक्तम् ।

भाव्यमाने[2] चमत्कारः सुखातिशयकारणम् ।
वस्त्वलङ्काररूपोऽपि काव्यस्यात्मा मतं मतम् ।। सू. 6 ।।

[2ब] न खलु रस एव काव्यस्यात्मा ध्वनिरेवासवः "कोह्येवं नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यती" त्येवंविधस्य रसं विनापि निरात्मत्वं वक्तुं शक्नुयात् ।

विरहपाण्डुकपोलमुखेन्दुना क्व समतामुपयास्यति शारदः[3] ।
[4]अयमधिज्यगुणेन मनोभुवा सममुदेति स जन्मकरः[5] स्मृतः ।। 1 ।।

एवंविधस्य वा निष्प्राणत्वं वदेत् । तत्सुखातिशयकारणं चमत्कार एव काव्य-प्राणा इति सिद्धम् ।

काव्य की आत्मा—

अन्य विद्वानों का कहना है कि काव्य का शरीर शब्द है, संघटना शब्द के अवयवरूप में स्थित होती है, अलंकार हार आदि के समान हैं और रस आत्मा है ।। सू. 5 ।।

(अन्य आचार्यों के मतानुसार ही रस आत्मा है, स्वमतानुसार तो काव्य की आत्मा चमत्कार ही है ।)

---

1. रस आत्मा इति परे आचार्य्या ऊचुः । स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य (मू. पा. टि.)
2. भाव्यमाने विचार्य्यमाणे काव्ये । (मू. पा. टि.)
3. चन्द्रः (मू. पा. टि.)
4. तव मुखेन्दुः (मू. पा. टि.)
5. शारदश्चन्द्रो मनोभुवो जन्मकरः, चन्द्रं दृष्ट्वा काम उत्पद्यते इत्यर्थः । (मू. पा. टि.)

जैसा कि कहा गया है शब्द और अर्थ (काव्य का) शरीर है, ध्वनि प्राण है, आत्मा रस है, माधुर्य गुण हैं, उपमा आदि अलंकार हैं, रीति अवयव-संस्थान (अंग) रूप हैं, यदि दोष है तो श्रवणकटुता आदि ही है, अन्य नहीं। "काव्य को सुना, अर्थ ज्ञात न हो सका", इस प्रकार के प्रयोग मे "शब्द" ही लोक-प्रतीति द्वारा निश्चय कराने वाला होता है, अतः शरीर में पुरुष नाम के व्यवहार के समान शब्द में ही काव्य का व्यवहार न्यायोचित होने से यहाँ शब्द ही काव्य का शरीर है, यह कहा गया है। (अर्थात् जैसे पुरुष के शरीर को देखकर उसे ही पुरुष कहा जाता है, उसी प्रकार शब्द के लिये ही काव्य शब्द का प्रयोग होता है।)

विचार्यमाण काव्य में चमत्कार सुखातिशय का कारण है। वस्तु और अलङ्कार रूप भी काव्य के आत्मारूप माने जाते हैं, यह भी मेरा अभिमत है।
॥ सू. 6 ॥

न तो रस ही काव्य की आत्मा है और न ध्वनि ही प्राण है। (यदि रस को काव्य की आत्मा कहा जाएगा तो) "कोऽह्येवं नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति" (कौन है यह ? तनिक धीमे स्वर से बोल। हृदय में स्थित मेरा प्राणेश्वर कहीं सुन लेगा।) —इत्यादि इस प्रकार के काव्य में रस नहीं होने से इसे आत्मत्व से रहित कहा जायेगा।

(ध्वनि को काव्य का प्राण कहने पर—)

विरह के कारण पाण्डुवर्णयुक्त कपोलवाले मुखरूपी चन्द्रमा से, (शरद् ऋतु का) चन्द्रमा किस प्रकार समता प्राप्त कर सकता है ? यह (तुम्हारा मुखचन्द्र) तो धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने वाले मनोभव (कामदेव) के साथ उदित होता है और वह (शरद् का) चन्द्र तो कामदेव का जन्मदाता कहा गया है। (शारद चन्द्रमा को देखकर काम उत्पन्न होता है—यह आशय है।)॥ 1 ॥

इस प्रकार के पद्य में (ध्वनि नहीं होने से इसमें) निष्प्राणत्व कहा जाने लगेगा। इसलिए सुखातिशयकारण (अत्यधिक सुख का कारण) चमत्कार ही काव्य का प्राण है, यह सिद्ध हुआ।

अथैवं निर्दिष्टस्वरूपस्य काव्यस्य लक्षणमुच्यते—

लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम् ॥ सू. 7 ॥
सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठमेव[1] काव्यत्वमित्यर्थः।

---

1. ० निष्टमेव

अत्र केचित् शब्दशक्तिमूले[1] ऽर्थस्य विशेषणत्वेनार्थविशिष्ट-शब्दस्य तथार्थव्यञ्जना[2]ऽर्थालंकारे[3] तु तद्विशिष्टार्थस्येत्युभयनिष्ठ[4] काव्य-मित्याहुः ।

तदेतन्नातिचारु लक्ष्यस्य द्वित्वापत्तेः । तथाहि "विरहपाण्डु-कपोले" त्यत्र शारद इति शब्दशक्तिमूले व्यतिरेके च काव्यद्वयस्य लक्ष्यतायां वाक्यार्थघटकशरीरस्य भिन्नताया निर्मूलत्वात् न चोभय-निष्ठत्वं[5] नियन्तुं शक्यते ।

[3अ] रागश्चक्षुषि ऽ नाधरे मृदुलता चित्ते परं नोरसि
क्रीडाकाननविभ्रमश्रमसहान्यङ्गानि किं चिन्त्यते ।
[6]यन्माध्वीमधुमुग्धलुब्धमधुपं व्यक्तीकृतस्वाशयं
तत्कान्ताकुचपत्रवल्लिरचनापुष्पायितं ते वचः ।। 2 ।।

इत्यादौ शब्दविशिष्ठार्थस्यैव काव्यत्वं शब्द एव ध्वन्यर्थ-विशिष्टताप्रतीतेः । यत्तु श्रवणद्वारासुखविशेषसाधनं वाक्यं काव्यमिति, तत्तुच्छं "पुत्रस्ते जातो", "धनं ते दास्यामी" त्यादेरपि तत्त्वापत्तेः ।

काव्य का लक्षण—

अब निर्दिष्टस्वरूप (जिसका स्वरूप पहले वर्णित किया जा चुका है, ऐसे) काव्य का लक्षण कहते हैं—

लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य है ।। सू. 7 ।।

सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठ ही काव्यत्व है, यह अभिप्राय है ।

यहाँ कुछ लोग (मम्मटादि) कहते हैं—"रामोऽस्मि सर्वं सहे" (मैं राम हूँ, सब सहता हूँ) इत्यादि शब्दशक्तिमूलध्वनि में विरहातिशयसहनरूप अर्थ की विशेषणता होने से अर्थविशिष्ट शब्द को (काव्य कहते हैं) और "अयमायातः कालः" (यह समय आ गया है—इस वाक्य में काल-गुण की विशेषता से भविष्य में होने वाली अपनी विशिष्ट अवस्था की व्यञ्जना रूप) अर्थव्यञ्जना एवं "प्रिये त्वदाननतुल्यश्चन्द्रः" (प्रिये ! तुम्हारे मुख के समान चन्द्रमा है") ऐसे आह्लादादि

---

1. ध्वनौ "रामोऽस्मि सर्वं सह" इत्यादौ विरहातिशयसहनरूपस्य (मू. पा. टि.)
2. "अयमायातः काल" इति कालगुणविशेषेण भविष्यत्स्वावस्थाविशेष-व्यक्तिः। (मू. पा. टि.)
3. "प्रिये त्वदाननतुल्यश्चन्द्र" इत्यत्राह्लादादि गुणव्यक्तिः । (मू. पा. टि.)
4. ० निष्टं 5. ० निष्टत्वं 6. यन्माधवी ०

गुण की अभिव्यक्ति होने से अर्थालङ्कार में विशिष्ट अर्थ को (काव्य कहते हैं), इस प्रकार उभयनिष्ठ (शब्द और अर्थ दोनों में ही) काव्य कहा जाता है। (अर्थात् शब्द—शक्तिमूलक ध्वनिप्रधान काव्य में शब्द की प्रधानता—मुख्य विशेषता और अर्थ की विशेषणता और अर्थशक्तिमूलक ध्वनिप्रधान काव्य में—अर्थालंकारों में अर्थ की मुख्य विशेष्यता और शब्द की विशेषणता होने से काव्य न केवल शब्दनिष्ठ अथवा न केवल अर्थनिष्ठ अपितु शब्दार्थोभयनिष्ठ है—ऐसा मम्मटादि कहते हैं।)

यह अधिक सुन्दर मत नहीं है, क्योंकि इससे लक्ष्य अर्थात् काव्य के दो प्रकार के होने की आपत्ति उपस्थित होती है। जैसे "विरहपाण्डुकपोल" इत्यादि उपर्युक्त श्लोक में "शारदः" इस शब्दशक्तिमूलक ध्वनि तथा व्यतिरेकालङ्कार में दो प्रकार के काव्य की लक्ष्यता की आपत्ति आने पर वाक्य और अर्थरूपी घटक शरीरों की भिन्नता की निर्मूलता होने के कारण काव्य की उभयनिष्ठता का नियमन नहीं किया जा सकता। (अर्थात् काव्य उभयनिष्ठ है—ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।)

(नायक के प्रति खण्डिता नायिका का कथन—) नेत्रों में रक्तिमता है, अधरों पर नहीं। चित्त में अत्यधिक मृदुलता है, किन्तु वक्षः स्थल पर नहीं। क्रीडा रूपी कानन में भ्रमण करने के श्रम को (ही) सहन करने वाले तुम्हारे अंग हैं। (फिर) क्या चिन्ता है ? माध्वीलता के मधुरस पर मुग्ध लोभी (प्राप्ति के इच्छुक) मधुप (भ्रमर) के समान अपने आशय को व्यक्त करने वाला जो तुम्हारा वचन है वह कामिनी के स्तनयुगल पर बनी लतारचना के लिए पुष्प के समान हो गया है ॥ 2 ॥

इत्यादि श्लोक में शब्दविशिष्ट अर्थ के ही काव्यत्व होने से शब्द ही ध्वन्यर्थ-विशेष को प्रतीत कराने वाला होता है। यदि श्रवण द्वारा विशेष सुख के साधन रूप वाक्य को काव्य कहा जाये, तब तो "पुत्रस्ते जातः" (तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है), "वनं ते दास्यामि" (तुमको धन दूंगा) इत्यादि तुच्छ वाक्यों में भी काव्यत्व मानना होगा।

यदपि अदोषौ शब्दार्थौ सगुणौ क्वचिदनलङ्कृती काव्यम्। तत्र सर्वथा दोषरहितयोरेव काव्यत्वे "न्यक्कारो ह्ययमेव मे[1]" इत्यत्र विधेया-

1. न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक् शक्रजिता प्रबोधितवता किं कुंभकर्णेन वा
*स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठ*नवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

इति। अत्र भुजनिष्ठं वृथोच्छूनत्वं विधेयं तस्य च समासेन पिहितत्वात् अविमर्पः असम्बन्वः अविमृष्टविधेयांशो नाम दोपः। (मू. पा. टि.)
* स्वर्ग ०  ० लुण्टन ० × ० निष्टं

विमर्शदोषेऽपि ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यत्वादव्याप्तिः[1] एकान्तसम्भवश्च। "कुरङ्गनयने" त्यस्य निर्दोषशब्दार्थगुणालंकारवत्त्वेन काव्यत्वापत्तिश्च। "सगुणावि"ति विशेषणानुपपत्तिश्च। तेषां[2] रसान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन स्वयमेवोक्तत्वात्काव्यधर्म्मत्वानुपपत्तेः। "क्वचिदनलङ्कृती" त्य]3a]—स्योदाहरणे "यः कौमारहरः स एव हि वर"[3] इत्यत्र विभावना[4] विशेषोक्ति[5]मूलसन्देहसङ्करालङ्कारस्य हरो वर इति शब्दालङ्कारस्य च स्फुटप्रतीतेर्नालङ्कारतेति वक्तुमशक्यत्वात्।

मम्मट के काव्य-लक्षण पर आक्षेप—

आचार्य मम्मट ने दोष-रहित, गुणों से युक्त, कहीं कहीं अलंकार से रहित शब्द और अर्थ को काव्य कहा है (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि)। वहाँ पर सर्वथा दोष-रहित शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहने पर "न्यक्कारो ह्ययमेव मे" इत्यादि श्लोक में विधेयाविमर्शदोष होने पर भी, ध्वनि होने से उत्तम काव्य माने जाने के कारण अव्याप्ति दोष (जो लक्षण अपने अभीष्ट उदाहरणों में भी घटित न हो) आ जाता है और सर्वथा दोषरहित काव्य असम्भव है। (विधेय का प्रधानरूप से निर्देश न करने पर विधेयाविमर्श दोष होता है। प्रस्तुत श्लोक में भुजनिष्ठ वृथोच्छूनता विधेय है और उस विधेय के वाचक "वृथा" शब्द को समास के अन्तर्गत रखा गया है। अतः वृथात्व में उपसर्जनता-अप्रधानता लक्षित होने से यहाँ अविमृष्टविधेयांश-विधेयाविमर्श नामक दोष है।) "कुरङ्गनयना" (हरिणी के समान नेत्रवाली) इत्यादि वाक्यों में भी दोषरहित शब्दार्थ, गुण और अलंकार से युक्त होने के कारण, इन वाक्यों में भी काव्य कहा जाने लगेगा। "सगुणौ" यह विशेषण भी युक्तियुक्त (उपपन्न) नहीं

---

1. ० व्यप्तिः
2. गुणानाम् (मू. पा. टि.)
3. यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
   स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
   सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
   रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥
4. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। (मू. पा. टि.)
5. सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः। (मू. पा. टि.)

है। गुण तो रस के अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अनुविधायी (अनुगमन करने वाले) हैं (अर्थात् रस हो तो गुण भी रहते हैं, रस न हो तो गुण भी नहीं रहते), अतः स्वयं गुण का ही कथन करने से काव्यधर्मत्व की उपपत्ति नहीं होती (अर्थात् गुण तो रस के धर्म हैं काव्य के नहीं, अतः काव्य में उनकी स्थिति नहीं होती)। "क्वचिदनलङ्कृती" (कहीं कहीं अलङ्कार रहित भी) इसके उदाहरण "यः कौमारहरः स एव हि वरः" इत्यादि में विभावनाविशेषोक्तिमूल संदेहसंकर अलङ्कार तथा "हरो वरः" इसमें शब्दालङ्कार की स्फुट प्रतीति होती है, अतः यहां अलङ्कार नहीं है, यह कथन कैसे किया जा सकता है ?

यच्च—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"

इति तदपि न। "गोपीभिः सह विहरति हरिरि"त्यादि वाक्यस्य काव्यत्वापत्तेः नदीवेगकपिनिपतनबाल[1]विलसितादिमहाकविवर्णनसंरम्भस्य व्याकुलतापत्तेश्च।

एतेन—

"रीतिरात्मा काव्यस्य"

इति वामनोक्तमपि न साधीयः रीतेर्बाह्यगुणत्वात्।

तस्मात्साधूक्तम्—लोकोत्तराह्लाद[2]कार्थविशिष्टशब्दः काव्यमिति। लोकोत्तरत्वं च सुखातिशयकारणं चमत्कारविशेषः।

विश्वनाथ के काव्य-लक्षण पर आक्षेप—

आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—

"रसात्मक वाक्य काव्य है।"

यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि तब तो "गोपीभिः सह विहरति हरिः" इत्यादि वाक्यों को भी काव्य कहना होगा और नदी-वेग, बन्दर-निपतन, बालक्रीड़ाएँ आदि महाकवि द्वारा किये जाने वाले वर्णनों की परम्परा में काव्यता बाधित हो जायेगी।

वामन पर आक्षेप—

इसी प्रकार

"काव्य की आत्मा रीति है।"

वामन का यह कथन भी रीति के बाह्यगुण होने के कारण ग्राह्य (उचित) नहीं है।

इसलिए उचित ही कहा गया है कि लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाले अर्थ से विशिष्ट शब्द काव्य है। लोकोत्तरत्व का अभिप्राय है सुखातिशय

---

1. ० वाल ०
2. ० ल्हा ०

का कारण चमत्कार-विशेष (अत्यधिक सुख को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट चमत्कार ही लोकोत्तरत्व है)।

स च त्रिधा ।।सू.8।।

तत् शब्दः स्वरूपपरामशर्थिः ।

तदुक्तम्—

सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्[1] ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भवः ।
नादो[2] बिन्दुश्च बीज[3] च स एव त्रिविधो मतः
भिद्यमानात्पराद्बिन्दो[4] उभयात्मा[5] रवोऽ[6]भवत् ।।

स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दब्र[7]ह्माभवत्परमिति ।

भिद्यमानादित्यान्तरस्फोटकथन[8] तथा च जन्मान्धमूलबधिरा[9]–[4अ] णाΔमन्तः स्वपरामर्शात्तत्सिद्धिः ।

वैयाकरणास्तु बहिःस्फोटं मन्यन्ते। तथाहि श्रूयमाणानुपूर्व्वीविशिष्ट-वर्णानामेव वाचकता । कर् कार् कुर् प्रभृतीनां ऋषभो वृषभो वृष इत्यादाविव वाचकता न वेति विप्रतिपत्तौ वर्णव्यत्यासादिना[10]नुपूर्व्वीभंग-स्यौत्सर्गिकत्वात् पूर्वं केनचित्क्वचिच्छक्तिग्रहे केन कस्य स्मारणमित्यत्र विनिगमनाविरहात् प्रयोगसमवायिनां सर्वेषामेव वर्णानां तथैव वाचकता, न धात्वाद्युपस्थापकानामिति वर्णस्फोटः ।

---

1. मूर्त्तानिन्दात् (मू. पा. टि.)
2. घोषः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्ट इत्युक्तेः (मू. पा. टि.)
3. प्रणवः सर्नवर्णप्रभवत्वात् (मू. पा. टि.)
4. त्रिवृत्प्रणवात् (मू. पा. टि.)
5. ध्वनिवर्णरूपः (मू. पा. टि.)
6. शब्दः (मू. पा. टि.)
7. 0 ब्र 0
8. प्राणवायुप्रेरणयाभिव्यक्तिरन्यथा नाभिव्यक्तिरित्यभिभक्त्या शब्दार्थमयः आन्तरः स्फोटः (मू. पा. टि.)
9. जातान्धमूकबधिरस्यान्तः स्वीयपरामृशि ।
स्ववाक्शब्दार्थयोर्बोध आन्तरः स्फोट एव सः ।। इति (मू. पा. टि.)
10. वैपरीत्येन (मू. पा. टि.)

शब्द का स्वरूप—

वह (शब्द) तीन प्रकार का है ।।सू.8।।

यहाँ 'तत्' का अभिप्राय है–'शब्द' । उसी शब्द का स्वरूप अब बताया जा रहा है । यह कहा गया है—

सत्, चित् और आनन्द के घनी, सम्पूर्ण (मूर्तानन्द रूप) परमेश्वर से "शक्ति" उत्पन्न हुई । उसके बाद "नाद" और उससे "बिन्दु" का समुद्भव हुआ । नाद, बिन्दु और बीज (सर्ववर्णों का प्रभवरूप प्रणव)—इन तीनों रूपों से वह (परमेश्वर) त्रिविध माना गया है । उस पर रूप (त्रिवृत् प्रणव रूप) बिन्दु के भिद्यमान होने पर दो प्रकार का (उभयात्मा) अर्थात् ध्वनि और वर्णरूप रव (शब्द) उत्पन्न हुआ ।

वह रव (शब्द) श्रुति सम्पन्न होकर शब्दब्रह्म बन गया ।

स्फोट—

"भिद्यमान होने पर" इस शब्द से "आन्तर स्फोट" का कथन अभिप्रेत हैं । जन्मान्ध, मूक एवं बधिर लोगों द्वारा अपने अन्तःकरण के भीतर आत्म-परामर्श के माध्यम से उसकी (आन्तर स्फोट की) सिद्धि होती है । (प्राणवायु की प्रेरणा से शब्द की अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा अभिव्यक्ति नहीं होती–इस नियम से होने वाली अभिव्यक्ति से मनुष्य के भीतर जो शब्दार्थमय स्फोट होता है, उसे अन्तर स्फोट कहते हैं । जन्मान्ध, गूंगे और बहरे लोगों के भीतर ही स्वीय परामर्श करने वाले अन्तःकरण में अपनी स्वयं की वाणी के शब्दार्थों का जो बोध होता है, वही आन्तर स्फोट कहलाता है ।

वैयाकरण तो बाह्य (बहिः) स्फोट मानते हैं । उनके मत में सुने जा रहे वर्णों के पूर्वापर क्रम विशिष्ट वर्णों की ही वाचकता होती है । "कर् कार् कुर्" इत्यादि (निरर्थक पदों) की "ऋषभ वृषभ वृष" इत्यादि (सार्थक पदों) की तरह वाचकता होती है या नहीं, यह विप्रतिपत्ति(बाधा) उपस्थित होने पर वर्ण की विपरीतता से आनुपूर्वीभंग की औत्सर्गिकता (सामान्य नियम) के कारण पहले किसी के द्वारा कहीं पर शक्तिग्रहण करने पर किसके द्वारा किसका स्मरण कराया जा रहा है, इस तर्कयुक्ति के अभाव में प्रयोग के समवायी सभी वर्णों की वैसी ही वाचकता होगी, न कि धातु आदि के उपस्थापक वर्णों की यह वर्ण स्फोट कहलाता है । (भाव यह है कि वर्णावयव-विभागरहित अखण्डवर्ण ही वर्ण-स्फोट कहलाता है । वह नित्य है ।)

एवं "हरिणा हरये रामात्" इत्यादौ परिनिष्ठिते रूपेंऽशविभागा-भावाद्द्रव्यकरणादिवाचकताया नियन्तुमशक्यत्वात् सम्पूर्णं हरिणेत्यादि पदमेव करणत्वादि-विशिष्टवाचकमिति पदस्फोटः ।

दधीदं हरेऽव कृष्णैहि रक्षैनमित्यादावपि विनिगमनाविरहतौल्याद्वाक्यमेव विशिष्टार्थे शक्तमिति वाक्यस्फोटः।

पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाऽभिव्यक्ततत्तत्संस्कारसहकृतचरमरसवर्णसंस्कार-निष्ठपदजन्यैक पदार्थप्रत्यायकता। तथैव चरमपदसंस्कारनिष्ठवा-[4ब] क्यजन्यैक/वाक्यार्थप्रत्यायकतेति पदवाक्योर्विवेक इति गौडाः।

एवं पदाभिव्यङ्ग्यो वाक्याभिव्यङ्ग्यो वाऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो वाह्य इति। चकारः प्रागुक्त विशिष्टार्थबोधकः। तादृशस्य पदवाक्यादि-रूपस्य काव्यत्वाभावात् लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टस्य तु काव्यत्वमप्रत्यूहम् एतेन पदवाक्यस्वरूपमुक्तम्। तथाहि पद्यते गम्यतेऽर्थो अनेनेति साधुपदम्। साधुत्वं च अनादिवृत्तिप्रमाप्रयोज्यार्थप्रतिपादकत्वम्। वृत्तिभ्रमेणार्थप्रत्या-यकत्वमसाधुत्वम्। विशिष्टैकार्थप्रतिपादकनिराकांक्षपदसमूहो वाक्यम्। एकार्थत्वं भिन्नप्रतीतिविषयानेकमुख्यविशेष्यराहित्यमिति गागाभट्टः।

इसी प्रकार "हरिणा हरये रामात्" इत्यादि परिनिष्ठित (सुनिश्चित) स्वरूप में अंश का विभाग नहीं होने से द्रव्य, करण आदि की वाचकता को रोकने में असमर्थ होता है, अतः सम्पूर्ण "हरिणा" आदि पद ही करणत्वादि विशिष्ट-वाचक होता है, यही पदस्फोट है।

'दधीदम्' (यह दही है), 'हरेऽव' (हे हरे! रक्षा करो), 'कृष्णैहि' (कृष्ण! आओ), 'रक्षैनम्' (इसकी रक्षा करो), इत्यादि में भी विनिगमना (तर्क) के अभाव की तुल्यता से वाक्य ही विशिष्ट अर्थ में समर्थ है, यह वाक्य-स्फोट है।

पूर्व-पूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त, उस उस संस्कार से सहकृत अन्तिम वर्ण से संस्कारनिष्ठ पदजन्य एक पदार्थ की प्रतीति होती है (पूर्व-पूर्व वर्णों के उच्चारण से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को ग्रहण करने वाली, एक मानसिक पद के अर्थ की प्रतीति होती है, उसी को पद-स्फोट कहते हैं)। उसी प्रकार अन्तिम पद के संस्कार से युक्त वाक्य से उत्पन्न एक वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार पद तथा वाक्य का ज्ञान होता है, यह गौड़ों का मत है।

इस प्रकार पदाभिव्यङ्ग्य अथवा वाक्याभिव्यङ्ग्य अखण्ड व्यक्ति-स्फोट बाह्य है। इसलिये ("स च त्रिधा" में प्रयुक्त) "चकार" पूर्व-कथित विशिष्टार्थ का बोधक है। उस प्रकार के पदवाक्यादि रूप में काव्यत्व का अभाव होता है, अतएव लोकोत्तराह्लादकार्थ विशिष्ट में ही काव्यत्व है यह निर्विवाद है। इससे पदवाक्य का स्वरूप कहा गया है जैसे "पद्यते गम्यतेऽर्थो अनेनेति साधुपदम्"

(जिसके द्वारा अर्थ जाना जाता है, वह साधुपद होता है)। अनादिवृत्ति (अभिधा शक्ति) से होने वाले प्रमा(यथार्थ ज्ञान) से प्रयोज्य (लभ्य) अर्थ का प्रतिपादकत्व ही साधुत्व है। वृत्ति(शक्ति) के भ्रम से अर्थ की प्रतीति कराना ही असाधुत्व है। विशिष्ट एकार्थ के प्रतिपादक अपने आप में निराकांक्ष (सार्थक किन्तु स्वतंत्र) पदों का समूह वाक्य है। और एकार्थत्व है–भिन्न प्रतीत विषयों के अनेक मुख्य विशेष्यों का न होना। (एक मुख्य विशेष्य-कर्ता का होना साधुवाक्य का लक्षण है।) यह नागाभट्ट का कथन है।

त्रिधेति–

वाचकलाक्षणिक व्यंजकभेदात्।

धत्ते सङ्केतमत्राद्यः।

पदपदार्थयोः शाब्दबोधानुकूलः सम्बन्धः सङ्केतः। घटादित्वबोधे घटादिसङ्केतो घटत्वादिबोधकः। तथाहि घटमानयेति प्रयोजितस्य कम्बुग्रीवादिमत् व्यक्तिविशेषानयनव्यापारेणाऽगृहीतसङ्केतो[1] घटशब्दस्य तादृग्व्यक्तिविशेषे शक्तिम [5अ] ऽवधारयति। ततश्च पटमानयेत्युक्ते तदानयनव्यापारेण तद्विजातीयव्यक्तिविशेषे पदशब्दशक्तिरितिप्रतिपद्यते। पुनर्घटान्तरं पटान्तरं चानयेत्युक्ते पूर्वानीतविलक्षणौ घटपटावानयति मध्यमवृद्धे बालः संशेते न घटपटशब्दौ व्यक्तिविशेषविषयसङ्केतौ, यत एतौ विलक्षणौ। तेनास्ति कश्चिदसाधारणोधर्म्मः[2] यद्वशादनुगताकारावगाहिज्ञानं जन्यते इति जातावेव सङ्केतमवधारयति।

शब्द के तीन भेद–

("स च त्रिधा" में प्रयुक्त) "त्रिधा" का अभिप्राय है-वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक भेद से शब्द तीन प्रकार का है।

इसमें से प्रथम (अर्थात् वाचक पद) संकेत को धारण करता है (अर्थात् सङ्केतित अर्थ को धारण करने वाला प्रथम वाचक शब्द होता है)।

संकेत—

पद और पदार्थ में शब्द और उसके बोध के अनुकूल होने वाला सम्बन्ध संकेत है। घटादित्व के बोध में घटादि का संकेत घटत्वादि का बोध कराने वाला होता है। जैसे-(वृद्ध व्यक्ति द्वारा) "घट ले आओ" इस प्रकार कहने पर (मध्यम वृद्ध द्वारा

---

1. बालः (मू. पा. टि.)
2. तद्भिन्नभिन्नाधिकरणवर्त्तित्वमसाधारणत्वं यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। (मू. पा. टि.)

लाये गये) कम्बुग्रीवादियुक्त व्यक्तिविशेष के लाये जाने के व्यापार से, इस संकेत को (पहले से) ग्रहण न किया हुआ बालक घटशब्द से उस प्रकार के व्यक्तिविशेष में शक्ति को धारण करता है। उसके पश्चात् "पट ले आओ" इस प्रकार कहे जाने पर, उसके लाये जाने के व्यापार से, उस (घट) से भिन्न जाति के व्यक्ति-विशेष में पट शब्द की शक्ति (संकेतग्रह) होती है, इस बात को जानता है। पुनः "अन्य घट को और अन्य पट को ले आओ" इस प्रकार कहे जाने पर (मध्यमवृद्ध) पहले लाये हुए घट और पट से भिन्न (विलक्षण) घट और पट को लाता है, तब बालक संशय करता है कि घट और पट शब्द व्यक्तिविशेष संकेत के विषय नहीं हैं, क्योंकि ये इन दोनों (घट और पट) से भिन्न (विलक्षण) हैं। अतः कोई असाधारण धर्म है जिसके कारण अनुगताकारावगाहिज्ञान (शब्दानुगामी आकार को उत्पन्न करने वाला ज्ञान) उत्पन्न होता है। (उससे भिन्न भिन्न अधिकरणों में रहने का भाव ही असाधारणत्व है। जैसे सास्नादिमान् होना ही गौ है।) अतः समझा जाता है कि जाति में ही संकेतग्रह होता है।

रूढयौगादिना त्रिधा॥ सू.9 ॥

रूढो यौगिको योगरूढश्च। रूढः केवलसमुदायशक्तिः, यथा मंडपं वृक्षः। यौगिकः केवलावयवशक्तिः. यथा भ्रांतिः। समुदाया-वयवशक्तिसंकीर्णस्तृतीयः, यथा पङ्कजादयः, पङ्कजनि डप्रत्ययैः पङ्कजनिकर्त्रभिधायकेन योगेन रूढ्या पद्मोपस्थितेः।

अत्रेदमवधेयं प्रकृतिशक्तिः प्रकृत्यर्थपरा, संख्याकारकत्वोपरक्तप्रकृ-त्यर्थपरा प्रत्ययशक्तिः, संख्याकर्तृकर्मभावोपरक्तमानादिकालपरा [5ब] तिङ्शक्तिः। उपसर्गास्तु धात्वर्थभेदकाः अभिहारः, आहारः, समभिव्याहारः, उणादिप्रत्यये न योगो, रूढ एव। समासशक्तिर्बहुव्री-हेरन्यपदार्थे उभयपदप्रधाना कर्मधारयस्य, उत्तरपदप्रधाना तत्पुरुषस्य, अव्ययांशेऽव्ययीभावस्य नञर्थप्रधाना नञ्, प्रत्येकपदप्रधाना द्वन्द्वस्य, एकशेषे तु लक्षणैव वाचकस्यापि समासवद्भावे लाक्षणिकत्वात्। यथा कैवर्त्तवाचके धीवरे धियावर इति सुबुद्धिप्रत्यय[1] इति।

वाचक शब्द के प्रकार

रूढयौगादि (रूढयौगिक और योगरूढ) भेद से वाचक शब्द तीन प्रकार का होता है॥सू.9॥

---

1. प्रतीतिः (मू. पा. टि.)

(वाचक शब्द तीन प्रकार का है—) रूढ़, यौगिक और योगरूढ़। रूढ़शब्द केवल समुदायशक्ति (परम्परागत) से युक्त होता है, जैसे मंडप शब्द या वृक्ष शब्द। यौगिक शब्द केवल अवयव-शक्ति (शब्दों की व्युत्पत्ति से युक्त होता) है, जैसे–भ्रान्ति शब्द (भ्रम्-वाचक भ्रमु धातु से "क्तिन्" प्रत्यय होने पर भ्रम-अर्थ का बोधक है)। समुदाय और अवयव शक्ति से मिलकर (रूढ़-परम्परागत और यौगिक—शब्दव्युत्पत्ति के अनुरूप, इन दोनों से मिलकर) बना तीसरा संकीर्ण भेद है, जैसे पङ्कज आदि शब्द। "पङ्क" शब्दपूर्वक "जन्" धातु से "ड" प्रत्यय लगाकर, पङ्क में उत्पन्न होने वाले कर्तृपद का वाचक होने के कारण योग और रूढ़ि से पङ्कज (पद्म, कमल) अर्थ उपस्थित होता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि (प्रकृति-प्रत्यय में) प्रकृति की शक्ति प्रकृति की अर्थपरक होती है। प्रत्ययशक्ति संख्या और कारकत्व से उपरक्त (सम्बद्ध) प्रकृति की अर्थपरक होती है और तिङ् शक्ति संख्या, कर्ता, कर्म (सकर्मक) और भाव (अकर्मक) से उपरक्त वर्तमान आदि कालपरक होती है। उपसर्ग तो धातु के अर्थ का भेदन करने वाले हैं, जैसे—अभिहार, आहार और समभिव्याहार शब्दों में भिन्न-भिन्न उपसर्गों के कारण अलग-अलग अर्थों का बोध होता है। उणादिप्रत्ययान्त शब्द यौगिक (धातुज या व्युत्पन्न) नहीं होते, वे रूढ (अव्युत्पन्न) ही होते हैं। समासशक्ति बहुव्रीहि की अन्य पदार्थ में, कर्मधारय की उभयपद-प्रधान, तत्पुरुष की उत्तरपदप्रधान, अव्ययीभाव की (उसके पूर्व अंश) अव्यय में, नञ् समास में नञर्थप्रधान और द्वन्द्व की समासशक्ति प्रत्येक पदप्रधान होती है। एकशेष में लक्षणा ही होती है क्योंकि वाचक शब्द भी समासवद् भाव में (समासयुक्त हो जाने पर) लाक्षणिक हो जाता है। जैसे–कैवर्त (केवट) के वाचक धीवर शब्द में "धिया वरः" (बुद्धि से श्रेष्ठ) व्युत्पत्ति से सुबुद्धि की प्रतीति होती है।

अभिधाशक्तिरेतस्या[1]भिधेयः। स चतुर्विधः जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यम्।
॥ सू० 10 ॥

अभिधा पदार्थान्तरं संकेतग्राह्यमिति कश्चित्।

शक्यान्तरानन्तरितः शब्दस्यार्थगतोऽर्थस्य वा शब्दगतः सम्बन्धविशेष-एवाभिधा।

यस्य[2] यस्मिन्वेयं सोभिधेयः। तत्र गोत्वं जातिः। व्यक्तेरानन्त्या-

1. वाचकस्य (मू. पा. टि.)
2. शब्दस्यार्थेऽर्थस्य वा शब्दे (मू. पा. टि.)

द्व्यभिचाराच्च[1] जातिरेव शब्दार्थ: । अतएव सास्नादिमान् धर्मो गौर्न[2] गौर्नागौर्गोजातिसंवद्धः एव गौः । शुक्लत्वादिसामान्य[3]संवद्धः शुक्लादिरेव गुणः, एवं चलनाद्या क्रिया, डित्थादि द्रव्यम् ।

तत्र वक्त्रा स्वेच्छया चरमवर्णाभिव्यङ्ग्योऽखंडस्फोट एव शब्द- [6अ] प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन सन्निवेशितो धर्मविशेष इति यावत् जातिरेव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् ।

व्यक्त्याश्रितो जातिस्तादृशसूत्राच्च जात्याकृतिव्यक्तय: पदार्थ इति मतान्तरम् ।

अघटव्यावर्त्तको घट इत्यतद्व्यावृत्तिरेवेति सौगताः ।

अभिधा शक्ति—

अभिधा शक्ति वाचक शब्द का अभिधेय है। वह अभिधेय जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य भेद से चार प्रकार का होता है ॥ सू. 10 ॥

अभिधा पदार्थान्तर (स्वतन्त्र या भिन्न पदार्थ) है, जिसका संकेत द्वारा ग्रहण होता है, यह किसी का (वैयाकरण तथा मीमांसक का) मत है। (नैयायिक ईश्वरेच्छा-रूप संकेत को अभिधा वृत्ति या शक्ति कहते हैं। परन्तु मीमांसक तथा वैयाकरण कुछ भिन्न दृष्टिकोण के साथ शक्ति को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, जो संकेत अर्थात् ईश्वर-इच्छा रूप नहीं है, अपितु संकेत-ग्राह्य है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध को वैयाकरण अभिधा कहते हैं। इसे वाच्य-वाचक-भाव कहा जाता है। यही पदार्थान्तर है।)

अभिहित (शब्दार्थ) से सम्बद्ध समीपवर्ती शब्द का अर्थगत (अर्थ में रहने वाला) अथवा अर्थ का शब्दगत (शब्द में रहने वाला) कोई सम्बन्धविशेष ही अभिधा कहलाता है।

---

1. आनन्त्यादिति सर्वासां व्यक्तीनामनुपस्थितेः सामान्यलक्षणानङ्गीकृतेरिति भावः। व्यभिचारादिति असंकेतितव्यक्तावपि प्रतीतिदर्शनाद्व्यभिचार इत्यर्थः। (मू. पा. टि.)
2. गौर्गोपदोद्देश्यो धर्म्मी। स्वरूपेणोपाधिरहितव्यक्तिमात्रेण न गौर्न गोव्यवहारहेतुः। तदा घटोपि गौः स्यात्स्वरूपाविशेषात्। नाप्यगौः। न गोभेदव्यवहारप्रयोजकः। तदा गौरप्यगौः स्यात्। व्यवहारप्रयोजकमाह गोजातीति (मू. पा. टि.)
3. जाति (मू. पा. टि.)

संकेतग्रह का विषय—

जिसको या जिसमें (शब्द की अर्थ में अथवा अर्थ की शब्द में) यह (अभिधा) होती है, वह अभिधेय है। इसमें गोत्व जाति ही अभिधेय है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष आ जाने के कारण जाति ही शब्दार्थ है। (आनन्त्य-दोष का अभिप्राय है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत-ग्रह होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, यह एक सामान्य नियम है। अतः व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर व्यक्तिविशेष की ही उपस्थिति होगी। इस सामान्य लक्षण को अंगीकार किये बिना सभी व्यक्तियों की उपस्थिति नहीं हो सकती। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग शक्तिग्रह मानने पर अनन्त-शक्तियों की कल्पना करनी होगी, यही आनन्त्य दोष है। व्यभिचार-दोष का अभिप्राय है कि यदि दो-चार व्यक्तियों में संकेतग्रह मानकर शेष का बोध बिना संकेतग्रह के ही मान लिया जाये तो असंकेतित व्यक्ति में भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी, जिससे नियम का उल्लंघन होगा।) अतएव सास्नादिमान् धर्मी गौ (उपाधिरहित व्यक्तिमात्र स्वरूप से) न गौ होती है, न अगौ, अपितु गोजाति से सम्बद्ध होने से ही गौ कहलाती है। (गौ पद द्वारा उद्देश्यधर्मी ही गौ है। अपने स्वरूप से उपाधिरहित व्यक्तिमात्र से न गौ है, न गोव्यवहार का हेतु है। स्वरूप-विशेष न होने पर तो घट भी गौ माना जाता है। "नाप्यगौ" का अभिप्राय है कि गौ शब्द उससे भिन्न वस्तुओं के भेद का व्यवहार-प्रयोजक नहीं है, अतः गौ भी अगौ हो जायेगी। अतः गोजाति ही व्यवहार-प्रयोजक है।) शुक्लत्वादि सामान्य (जाति) से सम्बद्ध ही शुक्ल आदि गुण होते हैं। इसी प्रकार चलनादि क्रिया है। डित्थ आदि द्रव्य होते हैं।

वहाँ वक्ता की स्वेच्छा से (स्फोट की प्रक्रिया के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णानुभव-जनितसंस्कारसहकृत) चरम (अन्तिम) वर्ण (के श्रवण) से अभिव्यङ्ग्य (बिना क्रम के बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाला) अखण्ड-स्फोट ही शब्द का प्रवृत्ति-निमित्तत्व होता है, अतः शब्द में सन्निवेशित धर्मविशेषरूप जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानना चाहिये।

जाति व्यक्ति के आश्रित (व्यक्ति में रहने वाली)है, (व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः—न्यायसूत्र) इस सूत्र के आधार पर जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होता है, यह अन्य (नैयायिकों का) मत है।

अघट का व्यावर्तक ही घट है, अतः अतद्व्यावृत्ति (अपोह) ही शब्द का अर्थ है, यह बौद्धों का मत है। (बौद्धों के मत में समस्त पदार्थ क्षणिक हैं। वे लोग "सामान्य" जैसे नित्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार अनुगत

प्रतीति का कारण "अपोह" है। "अपोह" शब्द का अर्थ है—"अतद्-व्यावृत्ति" या "तद्भिन्नभिन्नत्व", प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सभी वस्तुओं से भिन्न है, अत: उसमें "घट: घट:" यह सामान्य प्रतीति होती है। यह "अपोह"—"अतद्-व्यावृत्ति" ही शब्द का अर्थ है।)

लक्षणारोपिता क्रिया ॥ सू. 11 ॥

तदुक्तम्—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया ॥ इति ॥

सा च शक्यतावच्छेदकधर्म्मभिन्नधर्म्मावच्छिन्नबोधजनिका पुरुषेच्छा, शक्यार्थसम्बद्धप्रतिपादिका शब्दवृत्तिर्वा। यथा—"गङ्गायां घोष:"।

शुद्धा गौणी च सा ॥सू. 12 ॥

सा लक्षणा शुद्धा गौणी च द्विधा। सादृशान्यशक्यसम्बन्धरूपा शुद्धा यथोक्ता। स्वशक्येन सह नियमरूपा व्याप्तिरित्ययुक्तम्, "कुन्ता: प्रविशन्ति" "मञ्चा: क्रोशन्ती" त्यादौ लक्षणाप्रयोगात्। सादृश्यात्मशक्यसम्बन्धरूपा गौणी। यथा—"मुखं चन्द्र इव"। प्रोक्ते ते चोपादानलक्षणे। ते शुद्धा गौणी च।

तत्र उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा ॥ सू. 13 ॥

सारोपाध्यवसाने च प्रत्येकं द्विविधे ॥ सू. 14 ॥

[6ब] गौणी सारोपा साध्यवΛसाना चेति द्विधा।

लक्षणा—

शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है ॥ सू. 11 ॥

इसलिए (काव्यप्रकाशकार का) कथन है—

मुख्यार्थ का बाध होने पर, मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन-विशेष से जिस शब्द-शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, शब्द का वह आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है।

वह लक्षणा अभिहित (शब्दार्थ के) परिचायक धर्म से भिन्न धर्म-विशेष का ज्ञान उत्पन्न करने वाली व्यक्ति की इच्छा है। अथवा शक्यार्थ (अभिहितार्थ) से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शब्दवृत्ति है। जैसे—"गङ्गाया घोष:" (गङ्गा के ऊपर घोष-अहीरों की बस्ती है)।

लक्षणा के शुद्धा और गौणी दो भेद—

वह (लक्षणा) शुद्धा तथा गौणी (भेद से दो प्रकार की) होती है ॥ सू. 12 ॥

वह लक्षणा दो प्रकार की है—शुद्धा और गौणी। वाच्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न समीप्य आदि रूप सम्बन्ध होने पर शुद्धा लक्षणा होती है, जैसा कि मम्मटादि ने कहा है। अपने अभिधेयार्थ-मुख्यार्थ (शक्य) के साथ नियम-रूपा व्याप्ति—जो कहा जाता है, वह अयुक्त है। "कुन्ताः प्रविशन्ति" (भाले घुस रहे हैं) और "मञ्चाः क्रोशन्ति" (मञ्च चिल्लाते हैं) इत्यादि वाक्यों में (शुद्धा) लक्षणा का प्रयोग हुआ है। सादृश्यपरक अभिधेय (शक्य) से सम्बन्ध होने पर गौणी लक्षणा होती है। जैसे "मुखं चन्द्र इव" (मुख चन्द्रमा के समान है)। इन कहे गये उदाहरणों में ("कुन्ताः प्रविशन्ति" और "मञ्चाः क्रोशन्ति" उदाहरण) शुद्धा के भेद उपादान लक्षणा के हैं और ("मुखं चन्द्र इव" उदाहरण) गौणी लक्षणा का है।

शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की कही गयी है—(1) उपादान लक्षणा और (2) लक्षण-लक्षणा ॥ सू. *13* ॥

(शुद्धा और गौणी दोनों में से) प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—(1) सारोपा और (2) साध्यवसाना ॥ सू. 14 ॥

गौणी लक्षणा सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से दो प्रकार की ही है। (शुद्धा लक्षणा के चार भेद हो जाते हैं—(1) उपादान लक्षणा (2) लक्षण-लक्षणा, (3) सारोपा लक्षणा और (4) साध्यवसाना लक्षणा।)

तत्र स्वार्थं पराक्षेपवती उपादानलक्षणा। यथा—"यष्टयः प्रविशन्ति"।

परार्थं स्वार्थवत्यपरा[1]। यथा—"गङ्गायां घोषः"।
अनिगीर्णविषया[2] सारोपा। यथा—"गौर्वाहीकः"।
निगीर्णविषया साध्यवसाना। यथा—"गौरयम्"।

कार्यकारणभावसम्ब[3]न्धपूर्वकमारोपाध्यवसानं क्वचित्, यथा—"आयुर्घृतम्", "आयुरेवेदम्"। क्वचित्तादर्थ्यादपि, यथा इन्द्रार्था स्थूणा "इन्द्रः"। स्वस्वामिभावसम्ब[4]न्धात्, यथा—राज्ञः पुरुषो "राजा"। अवयवावयविभावसम्बन्धात्, यथा "अग्रहस्तः"[5]। तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा "तक्षा"।

---

1. लक्षणलक्षणा (मू. पा. टि.)
2. समानाधिकरण्येन विषयिविषयनिर्देशवती (मू. पा. टि.)
3. ० म्व ० 4. ० म्व ०
5. निगीर्णविषयायां हस्त इति (मू. पा. टि.)

शुद्धा उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा—

अपने अर्थ (अन्वय) की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करने वाली उपादान लक्षणा है। जैसे—"यष्टयः प्रविशन्ति"–"लकड़ियाँ प्रवेश कर रही हैं"। (यष्टियाँ अचेतन होने से प्रवेश-क्रिया सम्भव नहीं है, अतः इस क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त यष्टिधारी पुरुषों का आक्षेप किया जाता है, अतः उपादान लक्षणा है।)

दूसरे पदों के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर देने वाली दूसरी लक्षण-लक्षणा है। जैसे—"गङ्गायां घोषः" "गङ्गा के ऊपर घोष है।" (इस वाक्य में प्रयुक्त हुए घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए गङ्गा शब्द अपने जल-प्रवाहरूप मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है, अतः लक्षण-लक्षणा है।)

गौणी सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा—

अनिगीर्णविषया-विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा आरोप-विषय (उपमेय) जहाँ निगीर्ण नहीं किया गया है, अर्थात् जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) और आरोप (विषय, उपमेय) का शब्दशः समानाधिकरण्य से निर्देश किया जाता है, वह सारोपा लक्षणा होती है। जैसे—"गौर्वाहीकः" "वाहीक देश का वासी पुरुष गौ है"। (यहाँ गौ आरोप्यमाण और वाहीक आरोपविषय हैं। इस वाक्य में दोनों का समानाधिकरण्य से शब्दशः प्रतिपादन किया गया है, अतः सारोपा लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने से यहाँ गौणी लक्षणा है।)

निगीर्ण-विषया-विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा आरोप-विषय (उपमेय) का निगीर्ण किये जाने पर साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे—"गौरयम्"—"यह गौ है"। (यहाँ आरोपविषय वाहीक का शब्दशः कथन नहीं है। आरोप्यमाण गौ के द्वारा उसका निगीर्ण कर लिया गया है अतः साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलक होने से यहाँ भी गौणी लक्षणा है।)

शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा—

कहीं पर कार्य-कारणभाव-सम्बन्धपूर्वक आरोप और अध्यवसान होते हैं। जैसे—"आयुर्घृतम्"—"घी आयु है", "आयुरेवेदम्"—"यह (घी) आयु ही है"। ('आयुर्घृतम्" में आरोप्यमाण आयु और आरोप-विषय घृत दोनों शब्दतः उपात्त होने से शुद्धा-सारोपा है और "आयुरेवेदम्" में आरोप-विषय घृत के शब्दतः उपात्त नहीं होने से शुद्धा सारोपा है।) यह लक्षणा कहीं "तादर्थ्य" (उसके लिए होने) से (अन्य के लिये अन्य के वाचक शब्द के प्रयोग से) होती है।

जैसे—(यज्ञ में) इन्द्र (पूजन के लिए बनायी गयी) स्थूणा भी "इन्द्र" कहलाती है। कहीं "स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध" से (अन्य शब्द का प्रयोग होता है), जैसे—राजा का (विशेष कृपापात्र) पुरुष भी "राजा" कहा जाता है। कहीं अवयवावयविभाव सम्बन्ध से (औपचारिक शब्द का प्रयोग होता है), जैसे—"अग्रहस्तः"—हाथ के केवल आगे के भाग के लिए हाथ शब्द का प्रयोग होता है। और कहीं तात्कर्म्य सम्बन्ध (उस कर्म के करने के कारण) से (औपचारिक प्रयोग द्वारा) होता है। जैसे—(बढ़ई का काम करने वाले) अतक्षा (बढ़ई से भिन्न ब्राह्मण आदि के लिये) "तक्षा" (बढ़ई) शब्द का प्रयोग होता है।

पुनः—

अव्यङ्ग्या सा भवेद्रूढौ सव्यङ्ग्या तु प्रयोजने ।।सू. 15 ।।

समस्ता[1]ऽपि रूढेः प्रयोजनाद्वा। तत्र रूढौ अव्यङ्ग्या, यथा—"कर्म्मणि कुशलः[2]" दक्षे रूढः। प्रयोजने तु व्यङ्ग्यस्य गूढत्वाऽगूढत्वाभ्यां द्विधा। तत्र गूढव्यङ्ग्या यथा—

कृतमज्जनं सुधायामुत्कीर्णं शारदेन्दुकान्तिभ्यः।
विकसित[3]हसितं वालावदनं मदकारि मदनस्य ॥ 3 ॥

[7अ] अत्र कृतमज्जनोत्कीर्णविकसि[4]तानां व्यङ्ग्य गूढम्।
अगूढव्यङ्ग्या यथा—

अवधूतालककुसुमं हुङ्कृतिपर्यस्तवेल्लितदृगन्तम्।
सुरतक्रीडितमवलाः पठन्ति झटिति स्मरादेव ॥ 4 ॥

अत्र पठन्तीत्यगूढम्।

एवं लाक्षणिको वृत्त्या तात्पर्यानुपपत्तिजः ॥ सू. 16 ॥

वृत्त्या लक्षणया, तात्पर्यानुपपत्तिरन्वयानुपपत्तिर्वा लक्षणावीजम्।

रूढि लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा—

पुनः—

वह (लक्षणा) रूढ़ि (गतभेद) में व्यङ्ग्य से रहित और प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्य-सहित होती है ॥ सू. 15 ॥

सभी लक्षणा रूढ़ि अथवा प्रयोजन से होती है। रूढ़िगत लक्षणा व्यङ्ग्य से रहित होती है। जैसे—"कर्मणि कुशलः" (अर्थात् चित्रकर्म आदि किसी विशेष) "काम में कुशल है", (यहाँ कुशल शब्द) दक्ष-रूप अर्थ में रूढ है। (कुशलः की

---

1. लक्षणा (मू. पा. टि.) 2. ननु कुशं लातीति योगरूढ़िः (मू. पा. टि.)
3. ० शि ० 4. ० शि ०

योग-रूढि है—ननु कुशं लाति इति)। व्यङ्ग्य के गूढ (दुर्ज्ञेय, सहृदयैकगम्य) और अगूढ़ (स्पष्ट, सर्वजनसंवेद्य) होने से प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है। यहाँ गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण है—

अमृत में स्नान किया हुआ, शरद ऋतु के चन्द्रमा की कान्तियों से विकसित हास्य-युक्त बाला का मुख कामदेव के भी मद को उत्पन्न करने वाला है ।। 3 ।।

यहाँ कृत-मज्जन, उत्कीर्ण और विकसित पदों का व्यङ्ग्य गूढ है। अगूढ-व्यङ्ग्य जैसे—

अबलाएँ ऐसी सुरत-क्रीड़ा कामदेव से शीघ्र ही पढ़ लेती हैं, जिसमें अलकों में गुँथे कुसुम हिलकर बिखरते हैं तथा मधुर हुंकृतियों से नेत्रों के कोर चंचल हो उठते हैं ।। 4 ।।

यहाँ "पठन्ति" (पढ़ लेती हैं) पद अगूढ है।

इस प्रकार लक्षणावृत्ति के द्वारा "तात्पर्यानुपपत्ति" से उत्पन्न होने वाला शब्द लाक्षणिक है (अर्थात् "तात्पर्यानुपपत्ति" लक्षणा का बीज है और लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है) ।। सू. 16 ।।

यहाँ वृत्ति से तात्पर्य है—लक्षणावृत्ति। "तात्पर्यानुपपत्ति" अथवा "अन्वयानुपपत्ति" लक्षणा का बीज है।

व्यञ्जनामाह—

वृत्तिद्वयविरामोत्था रसाद्युद्बोधनक्षमा।
व्यञ्जना ।। सू. 17 ।।
नलिने पश्य शयानं भ्रमरीयुगम् ।।

वृत्तिद्वयं चाभिधालक्षणाख्यम्। तत्र प्रयोजनप्रतिपत्तये लक्षणा-प्रयोगेऽपि यद्व्यापारं विना न तत्प्रतीतिः सा च सा[1] वृत्तिः।

न हि तटादौ पावनत्वादि[2] प्रतीतावपि तत्र गङ्गादिशब्दसङ्केता-ऽभावादभिधाव्यापारः। तथा लक्षणाबीजस्याभावाल्लक्षणाव्यापारः नास्ति।

तथा च गङ्गाशब्दः प्रवाह एव सबाधो, न तटे। तच्च[3] न मुख्योऽर्थः, नापि बाधा, न च तयोर्लक्षणीयैः पावनत्वाद्यैः सम्बन्धः। प्रयोजने लक्ष्ये-

---

1. व्यञ्जना (मू. पा. टि.)
   अभिधा
2. शैत्य (मू. पा. टि.)
3. तटम् (मू. पा. टि.)

ऽपि न प्रयोजनान्तरम्। गङ्गाशब्दस्तटमिव न च प्रयोजनं प्रतिपादयितुमीष्टे येन स्यात्।

[7व] नापि विशिष्टलक्षणाव्यापारः ज्ञानविषयफलयोरन्यत्वात्। अन्यथा व्यञ्जनाव्यापारगम्ये प्रयोजने प्रयोजनवतीलक्षणैव नोपात्ता स्यात्। अतएव—

सङ्कुचन्त्येव वाक्शक्तिः क्वचिदर्थसमर्थिका ॥ सू. 18 ॥

क्रीडितं व्रीडितं काले हारि हा हरिणीदृशः ॥

व्यञ्जना-वृत्ति—

व्यञ्जना-वृत्ति का लक्षण कहते हैं—

वृत्तिद्वय (अभिधावृत्ति अथवा लक्षणावृत्ति) के विराम पर उत्पन्न होने वाली व्यञ्जनावृत्ति रसादि का उद्बोधन करने में समर्थ होती है ॥ सू. 17 ॥ जैसे—कमल पर सोते हुए भ्रमरीयुगल को देखो।

वृत्तिद्वय हैं–अभिधा और लक्षणा नाम की दो वृत्तियां। लक्षणा के प्रयोग में भी प्रयोजन की सिद्धि के लिए जिस (व्यञ्जना) व्यापार के विना उस (प्रयोजन) की प्रतीति नहीं हो सकती, वह वृत्ति व्यञ्जना-वृत्ति ही होती है।

लक्षणामूला ध्वनि में प्रयोजन-प्रतीति के लिए व्यञ्जना की अपरिहार्यता—

("गङ्गायां घोषः" में) तट आदि में शैत्यपावनत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है फिर भी वहाँ गङ्गादि शब्दों का संकेतग्रह नहीं होने से अभिधाव्यापार (अभिधा के द्वारा उसका ज्ञान) नहीं है। उसी प्रकार लक्षणा के बीज का अभाव होने से लक्षणा-व्यापार भी नहीं है।

जैसे ("गङ्गायां घोषः" इस उदाहरण में गङ्गा जलप्रवाह स्वरूपा है और उस जलप्रवाह पर घोष नहीं रह सकता अतः घोष का आधार बनने के लिए) गङ्गा शब्द जलप्रवाहरूप अर्थ में ही बाधित होता है। ("गङ्गातटे घोषः" कहने पर तट पर घोष रहता है अतः) तट अर्थ में बाधित नहीं होता।

(गङ्गाशब्द से तटरूप अर्थ की प्रतीति होने के पश्चात् शैत्यपावनत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है। यदि शैत्यपावनत्वादि धर्मों को लक्ष्यार्थ माना जाये तो उससे पूर्व उपस्थित होने वाला तटरूप अर्थ मुख्यार्थ होना चाहिये) पर तट (गङ्गा शब्द का लक्ष्यार्थ है) मुख्यार्थ नहीं। (यदि तट को मुख्यार्थ मान भी लिया जाये तो लक्षणा होने के पूर्व उसका बाध होना चाहिये पर यहाँ) उसका बाध भी नहीं होता (क्योंकि तट पर घोष रहता ही है)।

(लक्षणा का द्वितीय हेतु है कि लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध होना चाहिये। शैत्य-पावनत्वादि को लक्ष्यार्थ माना जाये तो तट मुख्यार्थ होगा पर)

उन दोनों (तट तथा घोष) का लक्षणीय पावनत्वादि से सम्बन्ध नहीं है (शैत्य-पावनत्वादि का सम्बन्ध तो जलप्रवाह से है)।

(लक्षणा का तृतीय हेतु है—रूढि अथवा प्रयोजन। रूढि से शैत्यपावनत्वादि का बोध नहीं हो सकता। यदि शैत्य-पावनत्वादि) प्रयोजन को लक्ष्यार्थ माना जाये (तो उसमें अन्य प्रयोजन मानना होगा पर यहाँ) तो कोई अन्य प्रयोजन नहीं माना जा सकता।

और गङ्गा शब्द तट के समान प्रयोजन का प्रतिपादन करने में असमर्थ (स्खलद्गति) भी नहीं है। (गङ्गा शब्द मुख्यार्थबाध आदि से तट का बोध कराते हैं। अतः वह तटरूप अर्थ के बोधन में स्खलद्गति हैं, पर मुख्यार्थबाध आदि के बिना ही गङ्गाशब्द शैत्यादि के प्रतिपादन में समर्थ है। पर तट प्रयोजन का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है। अतः लक्षणा के हेतु नहीं होने से प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता)।

(एक अन्य विचार है कि लक्षणा केवल तट का नहीं, अपितु शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन-विशिष्ट तट का बोध कराती है, अतः प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणामूलाव्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है। परन्तु) यह विशिष्टलक्षणाव्यापार उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल भिन्न-भिन्न होता है। (यहाँ लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और उसका फल शैत्यपावनत्व आदि का बोध है, अतः ये तट और शैत्यादि भिन्न-भिन्न होने से विशिष्ट में लक्षणा नहीं हो सकती।) विशिष्ट लक्षणा मानने पर व्यञ्जना-व्यापार से गम्य प्रयोजनवाली प्रयोजनवती लक्षणा ही स्वीकृत नहीं होगी। अतएव—

वाक्शक्ति (अभिधा आदि शक्ति के) शान्त हो जाने पर (अपना-अपना कार्य कर लेने से क्षीण-सामर्थ्य हो जाने पर) किसी अन्य अर्थ का बोध कराने वाली व्यञ्जनाशक्ति होती है॥ सू. 18॥

जैसे– हा! (आज याद आता है कि) मृगलोचनी की (विभ्रम) क्रीड़ा और व्रीडा (सम्भोग) काल में कितनी मनोहारिणी थी।

शब्दशक्तिमूलध्वनौ प्राकरणिके नियन्त्रितमप्राकृतेऽलङ्कारादौ अभिधामूलव्यञ्जनयैव। हरिणीदृशः[1] सादृश्याभिव्यञ्जितहरिणीदृशः हा इति स्मरणालङ्कारव्यङ्ग्यप्रतीतिः। पुनः स एव—

शब्दः प्रचण्डतामेत्य परिणाममनोहरः।
क्वचित्सुखाय सर्वेषामपराह्णे दिनं यथा॥ सू. 19॥

---

1. मृगीनेत्रस्य (मू. पा. टि.)

वाच्यवैचित्र्यं प्रदर्श्यापि परिणाममनोहरो व्यञ्जनायैव । एकस्यैवाह्नः परिणामरमणीयता सुकुमारबुद्धीनां[1] सौकुमार्य्यप्रदर्शनेन शब्दोऽप्यलङ्कारादिना परिणम्याह्लादकारणम्[2] । परिणतिरिवाह्नः सुखायेति वाच्ये अपराह्णे दिनं यथेति पदानां इवार्थपरिणामेन दिवसपरिणतिर्लक्ष्या सौकुमार्यं पुनरुक्तवृत्त्यैव लक्षणाविरामे ।

अभिधामूला शब्दशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता—

शब्दशक्तिमूलध्वनि (अभिधामूल शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि) में (अनेकार्थक शब्द) प्रकरण आदि वशात् (एकार्थ में) नियन्त्रित हो जाने पर (वस्तुध्वनि में) अप्राकृत (अन्य अर्थ की प्रतीति) तथा (अलङ्कार ध्वनि में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेयभाव आदि) अलङ्कार भी अभिधामूला व्यञ्जना से ही बोधित हो सकता है । "हरिणी के समान नेत्रों वाली" इस पद में सादृश्य से अभिव्यञ्जित "मृगनयनी" सुन्दरी की ओर "हा" इस पद से स्मरणालङ्काररूप व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है ।

पुनः वही (अभिधामूला व्यञ्जना)—

कहीं-कहीं शब्द प्रचण्डता को प्राप्त करके भी यदि परिणाम (परिणति) में मनोहर हो तो सभी के लिए उसी प्रकार सुखद होता है जैसे अन्तिम प्रहर में दिन सभी के सुख के लिए होता है ।। सू. 19 ।।

वाच्य-वैचित्र्य का प्रदर्शन होने पर भी शब्द व्यञ्जना के द्वारा ही परिणाम (अर्थ) में मनोहर होता है । एक ही दिन की परिणाम में रमणीयता (की तरह) सुकुमार बुद्धिवालों के लिए सुकुमारता (मनोहरता) के प्रदर्शन से शब्द भी अलङ्कार आदि के द्वारा परिणमित होकर आह्लाद का कारण होता है । दिन की परिणति (अन्तिम प्रहर की वेला) सुखकारी है, (कारिका में) इस प्रकार कहने पर "जैसे अपराह्ण में दिन" इन पदों की तरह अर्थपरिणाम द्वारा दिवस-परिणति लक्षित होती है । सुकुमारता भी पुनः उसी व्यञ्जना वृत्ति से ही लक्षणा का विराम (अर्थात् प्रयोजन सिद्ध) होने पर लक्षित होती है ।

अलक्षितोऽपि शब्देन लक्ष्यतेऽर्थः क्वचिद्यथा ।। सू. 20 ।।
(8 अ) स्वाभावकुटिलैः कान्ता मनो गृह्णाति वीक्षितैः ।।

कुटिलत्वं वीक्षितानां मनोग्रहणेन ततश्च निजेतरमनोग्रहणसामान्यं

---

1. ० वुद्धीनां 2. ० ल्हादकारणम्

विनैव स्वभावकुटिलपदादुपस्थाप्यमान तदाक्षिप्ताशयत्वं[1] न लक्षणा-विषयः ।

अर्थान्तरस्मृतेः शब्दः क्वचिद्याति परार्थताम् ।
देशकालादिवैशिष्ट्ये यथोदेति दिवाकरः ।। सू. 21 ।।

शब्दस्यार्थान्तरस्मृतेः परार्थता देशवैशिष्ट्ये कालवैशिष्टयेवा नाभिधालक्षणयोर्विषयः । कालवैशिष्ट्यमुदाहरति "यथोदेति दिवा-करः" । देशवैशिष्ट्ये यथा—

स्मरणात् कालियाराते[2]र्विषज्वालेव ताम्यति ।
अपनीतापि कालिन्दीकूले कालियकालिमा ।। 5 ।।

कहीं पर शब्द के द्वारा अलक्षित अर्थ भी लक्षित होता है ।। सू. 20 ।।

जैसे—कान्ता स्वभाव से कुटिल दृष्टिपातों के द्वारा मन को आकर्षित करती है ।

दृष्टिपातों की कुटिलता देखने वालों के मनोग्रहण से और तब अपने से भिन्न (दूसरे के) सामान्य मनोग्रहण (मन को आकर्षित करने) के बिना ही "स्व-भाव-कुटिल" पद से उपस्थित होने वाली उस (कुटिलता) से आक्षिप्त आशय (भाव) लक्षणा का विषय नहीं है (फिर भी लक्षित होता है) ।

अन्य अर्थ की स्मृति से (एक अर्थ में प्रसिद्ध) शब्द कहीं पर देशकालादि के वैशिष्ट्य से दूसरे अर्थ को प्राप्त (द्योतित) करता है ।। सू. 21 ।।

जैसे-'उदेति दिवाकरः" (सूर्य उग रहा है) ।

एक अर्थ में प्रसिद्ध शब्द के द्वारा देश के वैशिष्ट्य से अथवा काल के वैशिष्ट्य से लक्षित अन्य (दूसरा) अर्थ अभिधा और लक्षणा का विषय नहीं है । काल-वैशिष्ट्य का उदाहरण जैसे-"उदेति दिवाकरः' (सूर्य उग रहा है) । देशवैशिष्ट्य का उदाहरण जैसे—

कालिन्दी (यमुना) के तट से कालिय (नामक सर्प) की कालिमा (कालापन) दूर हो गई है फिर भी कालिय नामक सर्प का दमन करने वाले कृष्ण के स्मरण से मानो विष की ज्वाला पीड़ा उत्पन्न कर रही है (दुःखी कर रही है) ।। 5 ।।

उदाहरति-"नलिने पश्ये"ति । अत्र तिर्यक्[3]शयनव्यञ्जितविजनत्वोद्-

---

1. तयाक्षिप्ताशयत्वम् (मू. पा. टि.)
2. कृष्णस्य (मू. पा. टि.)
1. पशु (मू. पा. टि.)

दीपितो रसादिर्नान्यव्यापारगम्यः। न हि रसादिपदेन शृङ्गारादिपदेन वा रसोऽभिधीयते विभावानुभावाद्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यरूपत्वात्।
अतएव—

व्यक्तोऽपि व्यक्तिमेत्यन्यां शब्दः शक्तिद्वये यथा ॥ सू. 22 ॥

निष्कम्पिनि वने पश्य वलाका रमतेम्बुनि ॥

[8 व] अत्र वनस्य निष्कम्पत्वेन विजनत्वं, ततश्च विभक्त्या विहाराधारत्वप्रतीतिः। वलाकाजलकेलिविलोकनव्याजेन नायके समुद्भाव्यमानरसस्तादृक् शब्दमहिम्ना व्यक्त्यन्तरोद्गाररूप इति।

रसादि की प्रतीति के लिए व्यञ्जना अनिवार्य

(अन्य) उदाहरण देते हैं—"नलिने पश्य" (कमल पर देखो), यहाँ पर पशुशयन से व्यञ्जित विजनत्व (एकान्त) से उद्दीपित रसादि (व्यञ्जना के अतिरिक्त) अन्य व्यापार से गम्य नहीं है। रसादि पद से अथवा शृङ्गारादि पद से रस अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि विभावानुभावादि के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से उसकी (रस की) प्रतीति व्यङ्ग्यरूप में होती है।

अतएव—
शक्तिद्वय (अभिधाशक्ति और लक्षणा शक्ति) होने पर भी अभिव्यक्त हुआ शब्द अन्य (अर्थ की) अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है ॥ सू. 22 ॥

जैसे—देखो! निष्कम्प वन में जल में वलाका (वगुलिया) रमणकर रही है।

यहाँ वन की निष्कम्पता से (स्थान का) जनरहित होना (व्यञ्जना से सूचित होता है) और तब "वने" में सप्तमी विभक्ति के द्वारा विहार के आधारत्व की (यह स्थान विहार के योग्य है, यह) प्रतीति होती है। वलाका की जलकेलि को देखने के वहाने से नायक में उत्पन्न होता हुआ रस, इस प्रकार की शब्दमहिमा के द्वारा दूसरी अभिव्यक्ति का उद्गाररूप है।
किं चाहुः—

वोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्य्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविपयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्य ः॥

अयमर्थः वाच्यलक्ष्यार्थयोः[1] पदतदर्थमात्रवेदनचतुरैः सहृदयैरेव वोद्धृभेदः। क्वचिद्वाच्ये विधिरूपे निपेधरूपः क्वचिच्च निपेधे विधिरूपः। यथा—

उत्कम्पिनी तनुलता हारहारिपयोधरा[2]।
गतासि सरसीः स्नातुं न गतास्यवमान्तिकम् ॥ 6 ॥

---

1. वाच्यलिगार्थयोः
2. हारेण हारिणौ पयोधरौ यस्याः (मू. पा. टि.)

अत्र गतासि न गतासीति ।

तत्तद्बोधृभेदाद्वाच्यैकत्वेऽपि "गतोऽस्तमर्क" इत्यादौ संख्याभेदः ।

प्रतीतिमात्राच्चमत्कारकरणाच्च कार्य्यभेदः ।

केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेदः ।

पूर्वपश्चाद्भावेन कालभेदः ।

शब्दघटनात्वेनाश्रयभेदः ।

विषयभेदाच्च प्रतीयमानव्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्नाभिधालक्षणयोर्विषयः ।

अभिधावृत्ति से व्यञ्जना का भेद—

"साहित्यदर्पण" में कहा गया है—

बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यङ्ग्य, अभिधेय (वाच्यार्थ) से भिन्न है ।

1. बोद्धाभेद—यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के पद और पदार्थ मात्र का ज्ञान रखने वाले निपुण सहृदयों द्वारा जाना जाता है, अतः बोद्धा के भेद से व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है ।

2. स्वरूप भेद—कहीं पर वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर (व्यङ्ग्यार्थ) निषेध रूप होता है और कहीं पर (वाच्यार्थ के) निषेधरूप होने पर (व्यङ्ग्यार्थ) विधिरूप होता है, जैसे—

(दूती के प्रति नायिका का कथन–) हार के कारण मनोहारी पयोधरों वाली तुम्हारी तनुलता काँप रही है । तुम सरोवर में स्नान करने गयी थीं, उस अधम (नायक) के पास नहीं ।।6।।

यहाँ पर "सरोवर में स्नान करने गयी थी, उस अधम के पास नहीं" (इस निषेधरूप वाच्यार्थ से "तुम उस अधम के पास अवश्य गयी थीं," यह विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त हो रहा है, अतः स्वरूप-भेद है) ।

3. संख्याभेद—वाच्यार्थ सभी ज्ञाताओं के प्रति एक रूप होने पर भी "गतोऽस्तमर्कः" "सूर्य छिप गया है" इत्यादि में (प्रकरण, वक्ता, बोद्धा आदि की सहायता से भिन्न-भिन्न स्थलों पर अनन्त प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है । अतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की) संख्या में भेद होता है ।

4. कार्य-भेद—वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है और व्यङ्ग्यार्थ से चत्मकार उत्पन्न होता है, अतः दोनों में कार्य-भेद है ।

5. प्रतीति-भेद—वाच्यार्थ से केवल वस्तुरूप की प्रतीति होती है और व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार की, अतः दोनों की प्रतीति में भी भिन्नता है ।

6. काल-भेद—वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यङ्ग्य अर्थ वाद में, अतः दोनों में काल का भी भेद है।

7. आश्रय-भेद—वाच्य केवल शब्दों में आश्रित रहता है, परन्तु व्यङ्ग्य (शब्द में, शब्द के किसी एक देश में, अर्थ में, वर्ण में अथवा) घटना में भी रह सकता है अतः दोनों के आश्रय में भी भिन्नता है।

8. विषय-भेद—और विषय का भेद होने से प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा नहीं हो सकती।

व्यञ्जनानङ्गीकारे "काव्यं रसयती" त्यादौ रसप्रतीतेरानुभविकायाः (9अ) शाब्दत्व व्याकोपश्च। नापि तात्पर्यार्थः[1] तद्वृत्तेः संसर्गमात्रोपक्षीणत्वात्

तथाहि-यत्पदं यत्पदार्थेन यादृशान्वयवोधजनकं तस्य तेन समभिव्याहारात् एकपदार्थे पदार्थान्तरसंसर्गात्[2] पदजन्यपदार्थोपस्थितेरपदार्थोऽपि वाक्यर्थतया तात्पर्यार्थे इत्याभिहितान्वयवादः[3]। अन्वितस्यैव पदार्थस्याभिधानादन्वित एव इत्यन्विताभिधानपक्षः[4] उभयत्रापि घटकर्मकानयनादिस्वरूप एव विशेषवपुद्दूरे पुनस्तत्प्रययानन्तरमर्थान्तरप्रतीतौ तु व्यञ्जनयैव निर्वाहः।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद में व्यञ्जना—

व्यञ्जना को अङ्गीकार (स्वीकार) नहीं करने पर "काव्य का आस्वाद करता है"—इत्यादि वाक्य में अनुभवसिद्ध रस-प्रतीति में वाधा आती है, क्योंकि "शब्द ही काव्य है"—यह विचार वाधित होता है (काव्य के शाब्दत्व में व्याकोप उत्पन्न होता है)। यहाँ तात्पर्याख्या भी नहीं है, क्योंकि (मीमांसकों का मत है कि) तात्पर्याख्या वृत्ति तो पदार्थों के संसर्गमात्र से ही उपक्षीण हो जाती है।

(तात्पर्यार्थ-प्रसंग में मीमांसकों के मत दो मत हैं—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद।) जैसे कि जो पद, जिस पद द्वारा जिस प्रकार के अन्वयवोध का जनक होता है, उसका उसके द्वारा समभिव्याहार होने से, एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के संसर्ग से पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होने से, अपदार्थ भी वाक्य का अर्थ होने के कारण तात्पर्यार्थ होता है, यह अभिहितान्वयवाद (मीमांसकों का

1. आकांक्षायोग्यतासन्निधिभिः प्रतिपाद्या तात्पर्यार्थवृत्तिः (मू. पा. टि.)
2. ० आत्
3. मीमांसकानां मतम् (मू. पा. टि)
4. वेदन्तिनां मतमिदम् (मू. पा, टि.)

मत) है। अन्वित पदार्थो का ही अभिधान (अभिधा द्वारा बोध) होने से अन्वित ही (अर्थ अभिधा से उपस्थित) तात्पर्यार्थ होता है, यह अन्विताभिधानवादियों (वेदान्तियों) का मत है। दोनों ही स्थानों पर घटकर्म का आनयनादि स्वरूप ही विशेष-वपु वाक्यार्थ होता है। पुनः उसकी प्रतीति के पश्चात् (उपस्थित होने वाले) अर्थान्तर (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रतीति उससे नहीं हो सकती, उस अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना को ही स्वीकार करना पड़ेगा।

सा च द्विधा—

शाब्द्यनेकार्थशब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते[1] ।

संयोगाद्यै रवाच्यार्थ ॥सू.23॥

सवज्रो वृत्रहा यथा ॥

तत्र संयोगे "सवज्रो वृत्रहा"। आद्यै रित्युपलक्षणम्। वियोगे "अवज्रो वृत्रहा"। साहचर्ये "रामकृष्णौ" रामो बलदेवः। विरोधे "रामार्जुनौ" रामो भार्गवः अर्जुनः कार्त्तवीर्यः। अर्थे "स्थाणुं वन्दे" स्थाणुः शिवः। प्रकरणे "सर्वं जानाति देवः" देवो भवान्। लिङ्गे "कुपितो मकरध्वजः" [9ब] मकरध्वजः कामः। अन्यसन्निधौ "देवः पुरारातिः" देवः शिवः। सामर्थ्ये "मधुना मत्तः पिकः" मधुर्वसन्तः। औचिती "प्रमत्ता मधुना"[2] वधूः। देशे "व्रजेऽसौ परमेश्वरः "असौ नन्दः। काले "चित्रभानुर्विभाति" अत्र दिनेऽर्कः निशि वह्निः। व्यक्तौ "भाति रथाङ्गम्" नपुंसकव्यक्त्या चक्रम्। स्वरो वेद एव।

व्यञ्जना के भेद—

वह (व्यञ्जना) दो प्रकार की है।

शाब्दी व्यञ्जना—

संयोग आदि के द्वारा जहाँ अनेकार्थक शब्द के वाचकत्व (किसी एक अर्थ) में नियन्त्रित होने जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ (व्यञ्जना से) प्रतीत होता है, वह शाब्दी (अभिधामूला) व्यञ्जना कहलाती है ॥सू. 23॥

जैसे—"वज्र सहित वृत्रनाशक" (इन्द्र)।

---

1. ०न्तृते
2. मद्येन (सू. पा. टि,)

"वज्र सहित वृत्रहा", यहाँ संयोग से (वृत्रहा शब्द इन्द्र अर्थ में नियन्त्रित होता है)। "आदि" पद उपलक्षण है (अर्थात् संयोग के साथ-साथ अन्य का भी बोधक है)। "वज्ररहित वृत्रहा" यहाँ वियोग के कारण (वृत्रहा शब्द इन्द्र अर्थ में नियन्त्रित होता है। "रामकृष्ण" (इस प्रयोग में) साहचर्य के कारण "राम" शब्द बलदेव अर्थ में (नियन्त्रित होता है)। "रामार्जुनौ" में विरोध के कारण "राम" शब्द परशुराम तथा "अर्जुन" कार्त्तवीर्य अर्जुन (अर्थ में नियन्त्रित होता) है। "स्थाणु को प्रणाम करता हूँ" यहाँ स्थाणु शब्द प्रयोजन रूप अर्थ के कारण शिव में नियन्त्रित होता है। "देव सब जानते हैं" यहाँ प्रकरण से देव शब्द "आप" अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता) है। "मकरध्वज कुपित हो रहा है" यहाँ लिङ्ग (अर्थात् कोपरूप चिह्न से) "मकरध्वज" पद का अर्थ कामदेव (में में नियन्त्रित हो जाता) है। "पुरारि देव" यहाँ (पुराराति देव) अन्य शब्द के सन्निधान के कारण (अनेकार्थक) "देव" शब्द शिव (अर्थ में नियन्त्रित होता हैं)। "कोयल मधु से मत्त हो रही है" (कोयल को मत्त करने की सामर्थ्य वसन्त में होने से) सामर्थ्य से "मधु" शब्द वसन्त (अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है)। "मधु (मद्य) से प्रमत्ता" यहाँ औचित्य के कारण प्रमत्ता शब्द वधू (अर्थ में नियन्त्रित होता है)। "व्रज में वह परमेश्वर है", यहाँ देश के कारण "असौ" पद नन्द अर्थ में (नियन्त्रित होता है)। "चित्रभानु चमक रहा है", यहाँ काल के कारण (अनेकार्थक) "चित्रभानु" शब्द दिन में सूर्य अर्थ में और रात्रि में अग्नि अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता) है। "रथाङ्ग सुशोभित हो रहा है" (पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग आदि रूप) व्यक्ति के कारण यहाँ नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त 'रथाङ्ग' शब्द चक्र अर्थ में नियन्त्रित है। वेद में ही स्वर अर्थ-विरोध का बोधक होता है।

आर्थी—

वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थस्यान्यार्थभाविनी ॥सू.24॥

नाधमस्यान्तिकं तस्य गता विक्रीडितुं जले ॥

अत्र तु प्रतिपाद्य दूतिवैशिष्ट्याद्रन्तुमिति व्यङ्ग्यम्।

आहुश्च—

वक्तृबोधव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययोः।

प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।

वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽर्थसंभवा।

पतिर्दूरे केलीसदनमिदमुन्मत्तमधुपं
वनं वात्या[1] मन्दं मदयति मनो मन्मथसखः ।
वसन्तप्रारंभे मलयमरुदालम्बितधनु-
र्मनोभूः किं कुर्म्मः कथय भवती नोत्तरयति ॥7॥

अत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालादिवैशिष्ट्यम् । अन्यसन्निधिवैशिष्ट्ये यथा "निष्कम्पिनि वने पश्ये"ति ।

आर्थी व्यञ्जना—

(व्यञ्जना वृत्ति दो प्रकार होती है—(1) शाब्दी व्यञ्जना और (2) आर्थी व्यञ्जना । शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद होते हैं-(1) अभिधामूला व्यञ्जना और (2) लक्षणामूला व्यञ्जना । शाब्दी व्यञ्जना के इन दोनों भेदों का निरूपण किया जा चुका है । अब आर्थी व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है–)

वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का व्यापार आर्थी व्यञ्जना कहा जाता है ॥सू.24॥

जैसे–तुम उस अधम के समीप नहीं, जल में स्नान करने गयी थीं ।

यहाँ प्रतिपाद्य (वर्णित) दूती के वैशिष्ट्य से "रमण करने के लिये" यह व्यङ्ग्य है ।

और कहते हैं—

(1) वक्ता, (2) बोद्धव्य, (3) वाक्य, (4) अन्यसन्निधि, (5) वाच्य, (6) प्रस्ताव, (7) देश, (8) काल, (9) काकु और (10) चेष्टादि के वैशिष्ट्य से जो अन्य अर्थ को बोधित कराती है, अर्थ से उत्पन्न वह "आर्थी व्यञ्जना" है ।

पति दूर है, इस (सुरभित) केली-सदन में उन्मत्त भ्रमर गुंजार कर रहे हैं । वायु (शीतल पवन) मन्द गति से वहकर वन को मद-पूरित कर रही है और मन्मथ का सखा (वसन्त) मन को मदोन्मत्त कर रहा है । वसन्त का प्रारम्भ होने पर कामदेव (मनोभव) ने भी मलय-पवन के धनुष को धारण कर लिया है । (हम तुम्हीं से पूछते हैं कि इस ऋतु में) हम क्या करें ? किन्तु आप तो कोई उत्तर ही नहीं देतीं ॥7॥

---

1. वाला

यहाँ वक्ता, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल आदि का वैशिष्ट्य है। अन्यसन्निधि के वैशिष्ट्य में (व्यञ्जना) का उदाहरण पूर्वोक्त "निष्कम्पिनि वने पश्य" इत्यादि है।

काकुवैशिष्ट्ये यथा—

[10अ] गुरु अण पसाअणाए वच्चइ वच्चे उ को ण्णु पडिऊलो।
अह घुम्मइ घणसमअम्मि किण आणामि णेहिज्ज ॥8॥[1]

अत्र नैष्यति न जानामीति वै[2]परीत्यार्थप्रत्यायकम्।

स्मितमुद्रितपाणिपङ्कजं विकसन्नीलविलोचनोत्पलम्।
अपसारितकुन्तलाननं निजसंकेतमियं[3] व्यवस्यति ॥9॥

अत्र सन्ध्यासङ्केतकालश्चेष्टया व्यज्यते।

एतेन वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानां शब्दानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मा लोकोत्तराह्लादको वैशिष्ट्येनार्थोऽपि व्याख्यातः। व्यञ्जकत्वं तु सर्वेषां समम्। तत्र वाच्यार्थस्य "पतिर्दूरे" इत्यत्र लक्ष्यार्थस्य "स्वभावकुटिलै-"रित्यत्र व्यङ्ग्यस्य 'निष्कम्पिनि वने पश्य' इत्यत्र।

काकु की विशिष्टता होने पर व्यञ्जना जैसे—

गुरुजनों को प्रसन्न करने के लिए जाते हो तो जाओ, कौन (आपसे) प्रतिकूल है? इस बरसती हुई वर्षा-ऋतु में क्या मैं नहीं जानती कि तुम नहीं आओगे ॥8॥

यहाँ पर "नैष्यति न जानामि"—यह विपरीत अर्थ (तुम अवश्य आओगे इस अर्थ) का बोध कराने वाला है।

(अपने) हस्तकमल को कुछ खिली और कुछ मुंदी हुयी मुद्रा में किये हुए नील नेत्र-कमल को विकसित करती हुई, मुख पर से घने बालों को हटाती हुई यह (बाला) अपने सङ्केत को बताती है ॥9॥

---

1. गुरुजनप्रसादनया व्रजसि व्रजस्व को नु प्रतिकूलः।
अथ घूर्णमाणघनसमये किं न जानामि नेष्यसि ॥
एष्यसीत्येवेत्यर्थः (मू. पा. टि.)
2. विप०
3. बाला (मू. पा. टि.)

यहाँ संध्या–समय संकेतकाल है–यह चेष्टा से व्यञ्जित होता है ।

इस प्रकार वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का वाच्यलक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मक लोकोत्तराह्लाद अर्थ भी विशिष्टता से वर्णित किया जा चुका है। सभी (शब्दों) की व्यञ्जकता समान ही है । यहाँ वाच्यार्थ का 'पतिर्दूरे' इत्यादि, लक्ष्यार्थ का 'स्वभावकुटिलैः' इत्यादि और व्यङ्ग्यार्थ का 'निष्कम्पिनि वने पश्य' इत्यादि उदाहरण है ।

तदेवं काव्यशरीरमभिधाय काव्यभेदानाह—

उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्ये ।।सू. 25।।

व्यङ्ग्यमेव ध्वनिस्तद्विशिष्टता चानतिशयिते वाच्ये । यथा—

आगताः स्म कुसुमावचयार्थं नन्दनन्दनविहारवनेऽस्मिन् ।
अम्बुदः स्फुरति सम्प्रति चित्ते भावि किं गुरुजनस्य न विद्मः ।।10।।

[10अ] अत्र वाच्यात् भावि श्रीकृष्णसङ्गस्थगनरूपव्यङ्ग्यस्य वैशिष्ट्या ʌ दुत्तमत्वम् ।
यथा वा—

प्रियपाणितलं दधार वाला हृदि मन्दं तदवादि सौरभेन ।
दरफुल्लसरोरुहां यदेतज्ज्वलनस्पर्शि विवोधयत् प्रियाक्षि ।।11।।

अत्र भाविविप्रलम्भः ध्वनिर्ध्वन्यन्तरोद्गारे सत्यमुमेवोत्तमोत्तमं भेदमामनन्ति। तथाहि ध्वनिस्तावत् प्रियपाणितलस्य हृदि मन्दं धारणेन भाविविप्रलम्भसम्भावनया सञ्जातसंज्वरप्रतीतिः प्रियस्य भवेत् । ततोऽपि चपलातिशयोक्त्या मन्दमिति क्रियाविशेषणेन च तस्यातिशयो ध्वन्यन्त-रोद्गारविश्रान्तः। पुनरपि दरफुल्लसरोरुहां सौरभेन तदवादीति भविष्यत्सूर्योदयकालीनवियोगव्यक्त्या विरहिण्याः पङ्कजसौरभं सन्ता-पायेति व्यक्तिः । पुनश्च ज्वलनस्पर्शीति पाणितलविशेषणेन वियोग-वह्न्याप्तिर्हृदयस्य व्यज्यते ततश्च झटित्यास्फालनक्रियाव्यक्तिः ।

काव्य के भेद—

इस प्रकार काव्य-शरीर को कहकर (अब) काव्य के भेदों का वर्णन करते हैं—

उत्तम-काव्य—

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम-काव्य होता है ।।सू.25।।

व्यङ्ग्य ही ध्वनि है और वाच्य के अनतिशयित (व्यङ्ग्य से अधिक चमत्कारयुक्त (न) होने पर ही उसकी (व्यङ्ग्य की) विशिष्टता होती है (अर्थात् वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के अधिक चमत्कारयुक्त होने पर उत्तम-काव्य होता है।) जैसे—

हम कृष्ण के इस क्रीडा-वन में कुसुम चुनने के लिए आई हैं। इस समय बादल गरज रहे हैं। गुरुजन के चित्त में आगे क्या होने वाला है, यह हम नहीं जानतीं ॥10॥

यहाँ वाच्य से श्रीकृष्ण के भावी सम्मिलन को छिपाने रूप व्यङ्ग्य की विशिष्टता होने से उत्तम काव्य है। अथवा जैसे—

बाला ने प्रिय के करतल को हृदय पर धीमे से धारण किया। तभी कुछ-कुछ प्रफुल्लित कमलों के सौरभ ने यह कहा कि हे प्रियाक्षि! यह हाथ अग्नि को स्पर्श करने वाला है ॥11॥

यहाँ भावीविप्रलम्भ ध्वनि में अन्य ध्वनि का उद्गार होने पर इसे (काव्य का) उत्तमोत्तम भेद कहा जाता है। क्योंकि ध्वनि तो यहाँ यह है कि प्रिय के पाणितल (हथेली) को हृदय पर धीरे से धारण करने से प्रिय को भावी (आगे होने वाली) विप्रलम्भ की सम्भावना से उत्पन्न हुए संज्वर की प्रतीति होनी चाहिए। उसके बाद भी चपलातिशयोक्ति से 'मन्दम्' इस क्रिया-विशेषण द्वारा उस (ध्वनि) का अतिशय अन्य ध्वनि के उद्गार में विश्रान्त हुआ। फिर "कुछ खिले हुए कमलों के सौरभ द्वारा वह कह दिया गया"—इस वाक्य से भविष्य में होने वाली सूर्योदयकालीन वियोग की अभिव्यक्ति से विरहिणी को कमल का सौरभ सन्ताप पहुँचायेगा, यह व्यञ्जित होता है। पुनः "ज्वलनस्पर्शी" इस "पाणितल के विशेषण" से "हृदय में वियोगाग्नि प्राप्त है" यह व्यञ्जित होता है और उसके पश्चात् 'शीघ्र ही दूर हटाने की' क्रिया व्यञ्जित होती है।

मध्यमे तच्च मध्यमम् ॥सू.26॥

मध्यमे ध्वनौ तच्च काव्यं व्यङ्ग्यचमत्काराऽसमानाधिकरणे वाच्य-चमत्कार इति यावत्। यथा—

[11अ] करकलितकदम्बकन्दुकस्य प्रथमनिरीक्षणलक्षिताननायाः।
प्रकटयति विवर्णतैव भावं तरुणमणेरुचितं ततस्तरुण्याः ॥12॥

अत्र विद्यमानोऽपि सुरतचातुरीपरिपोषितानुरागातिशयचमत्कार: सङ्केतगमनावलोकनवै[1]वर्ण्यरूपवाच्यचमत्कृतिजठरनिलीन: ।

अधमं नार्थवैचित्र्या किन्तु शब्दैकगोचरम् ।।सू.27।।

शब्दवैचित्रीमात्रगोचरमधमम् । अर्थचित्रशब्दचित्रयो–"विनिर्गत मानदमात्ममन्दिरात्,"[2] 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छे[3]'"त्यनयोस्तारतम्योपलब्धे: शब्दार्थयो: समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

मध्यम-काव्य—

(ध्वनि के) मध्यम होने पर वह मध्यम काव्य होता है ।।सू.26।।

ध्वनि के मध्यम होने पर व्यङ्ग्यचमत्कार और वाच्यचमत्कार के असमानाधिकरण होने पर (व्यङ्ग्यार्थ के वाच्य से अधिक चमत्कारी न होने पर) वाच्य चमत्कार के कारण ही वह मध्यम काव्य होता है । जैसे—

कदम्ब की सुन्दर गेंद हाथ में लिए हुए तरुणमणि (तरुणश्रेष्ठ) नायक को प्रथमबार देखकर लज्जित मुखवाली तरुणी (नायिका) के मुख की विवर्णता उसके उचित भाव को प्रकट कर रही है ।।12।।

यहाँ सुरतचातुरी से परिपोषित अनुरागातिशय का चमत्कार विद्यमान होकर भी सङ्केत, गमन, अवलोकन, वैवर्ण्यरूप वाच्य चमत्कार के जठर के भीतर छिप गया है ।

अधम-काव्य—

अर्थ की विचित्रता से नहीं (अपितु) शब्दमात्र से प्रकट होने वाला अधम-काव्य होता है ।।सू.27।।

शब्दों की विचित्रतामात्र दिखाना अधम काव्य है । (मम्मट के उदाहरण रूप में) अर्थचित्र और शब्दचित्र के 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' तथा 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ' इत्यादि श्लोक दिये हैं । इन दोनों उदाहरणों में तारतम्य उपलब्ध होने से शब्द और अर्थ का सम-प्राधान्य होने से ये मध्यम-काव्य के ही उदाहरण हैं ।

---

1. ० वै ०
2. विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
 ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती । -का. प्र.-1, 5
3. स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
 मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय व: ।
 भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
 द्रोहाद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।।–का. प्र.-1, 4.

तत्रार्थचित्रं यथा—

यदि भवति कथञ्चित्तावकीनो दृगन्तः
प्रसरदरुणरश्मिर्मध्यलोकावनीश[1] ।
प्रतिनिशमपमा[2]नोन्निद्ररक्ताक्षिपद्मै–
रपि रिपुभिरजस्रं वीक्ष्यते तन्न भानुः ॥13॥

शब्दचित्रं यथा—

खण्डिताखण्डलाऽखण्डपाखण्डोद्दण्डपाण्डवे ।
चण्डदोर्दण्डकोदण्डपण्डितोऽयमकुण्डलः[3] ॥14॥

समप्रधानं यथा—

सिन्दूरं रचयति रल्लके[4] वधूनां
काश्मीरद्रवमुपलिम्पति स्तनान्तः
लाक्षाभिः पदतलरञ्जनं तनोति
[11ब] प्रातस्त्यस्तपन[5] तवैव कान्तिपूरः ॥15॥

तदेवमुत्तममध्यमाधमभेदात्काव्यं त्रिविधम् । केचित्तु उत्तमोत्तमं अधमाधममपि भेदमिच्छन्ति । तदेतेष्वेवान्तर्गतमिति विविच्य नोक्तम् ।

वहाँ अर्थचित्र जैसे—

हे पृथ्वीपति ! कदाचित् आपके दृगन्त (नेत्रों के कोने) किसी प्रकार (क्रोध में) सूर्य की रश्मि को फैलाने वाले हो जाते हैं । अपमान के कारण जागते हुए लाल नेत्र-कमल वाले शत्रुओं के द्वारा, आपके दृगन्त भानु (सूर्य) नहीं होने पर भी प्रत्येक रात्रि को देखे जाते हैं ॥13॥

शब्दचित्र जैसे—

यह अकुण्डल (कृष्ण) आखण्डल (इन्द्र) के अखण्ड पाखण्ड को खण्डित करने वाले उद्दण्ड पाण्डव के लिए प्रचण्ड भुजखण्डों में धारण किये हुए कोदण्ड (धनुष) का पण्डित है ॥14॥

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. ० पयानो ०
3. कृष्णः (मू. पा. टि.)
4. सीमन्ते (मू. पा. टि.)
5. हे (मू. पा. टि.)

समप्रधान जैसे—

हे सूर्य ! तुम्हारी प्रातःकालीन कान्ति का समूह (रश्मिपुञ्ज ही) वधुओं की मांग में सिन्दूर लगाता है, उनके स्तनों के बीच में काश्मीरद्रव (केसर) का विलेपन करता है और लाक्षारस से उनके पदतलों (पैरों के तलों) को रञ्जित करता है ।।15।।

इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम भेद से काव्य तीन प्रकार का होता है । कुछ लोग उत्तमोत्तम और अधमाधम भेद भी मानते हैं । परन्तु ये भेद काव्य के इन्हीं भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिये उनका विवेचन यहाँ नहीं किया गया ।

काव्ये शक्तिरवस्थावदर्थो विश्वादिवन्मतः ।
व्यङ्ग्यस्तेषां त्रिरूपत्वं सूत्रात्मेव प्रकाशते ।।सू. 28।।

शक्तिरिति वृत्तित्रयोपलक्षणं, अवस्थाजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसंज्ञा, विश्वादिवत् विश्वतैजसप्राज्ञवत् । व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यंत्रिष्व[1]नुगुणचमत्कारात् एतेन काव्यप्राणानामानन्दसहोदरत्वं व्याख्यातम् ।

तदेवम्—

साधुशब्दार्थसन्दर्भगर्भा कस्यापि भारती
तदेवं रसतामेति युवतीव पदे पदे ।
अर्थसूत्रनिवद्धाया भावो मणिरिवोज्ज्वलः
शब्दमौक्तिकमालायाः कण्ठमाश्लिषतादयम् ।।16।।

इति श्रीमत्महामहिमकविपण्डितश्रीमाथुरमिश्रगङ्गेशात्मजहरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोके प्रथमः प्रकाशः ।।

काव्य में शक्ति अवस्था के समान है । अर्थ विश्वादिमत् माना गया है । व्यङ्ग्य उन्हीं का त्रिरूपत्व है जो सूत्रात्मरूप में प्रकाशित होता है ।।सू.28।।

शक्ति (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) तीनों वृत्तियों को उपलक्षित करती है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नाम वाली अवस्था है । विश्वादिवत् अर्थात् विश्व, तैजस और प्राज्ञ के समान । वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनों में व्यङ्ग्य का प्राधान्य अनुगुणचमत्कार के कारण होता है, इसी से काव्य-प्राणों (काव्यात्मा) का आनन्दसहोदरत्व कहा गया है ।

---

1. वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्येषु (मू. पा. टि.)

इसीलिये—

रमणीय शब्दार्थ की संरचना से युक्त किसी (कवि) की भारती (वाणी) इस प्रकार पद-पद पर युवति के समान रसात्मकता को प्राप्त होती है। अर्थसूत्र में बंधी हुई और शब्द–मुक्ताओं की माला (को धारण करने वाली इस युवती रूपी कविभारती) का मणि के समान यह उज्ज्वल भाव (सहृदयों के) कण्ठ का आलिङ्गन करे ॥16॥

श्रीमन्महामहिम कवि पण्डित मथुरा-निवासी गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा विरचित काव्यालोक का प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ॥1॥



द्वितीयः प्रकाशः

ध्वनि-निरूपणम

ध्वनिवैशिष्ट्येनोत्तमत्वं काव्यस्येत्युक्त प्राक्, ध्वनिस्तावत्प्राप्तावसरतया निर्णीयते—

शब्दस्थानविलासोत्थः परमाह्ला[1]दकारणम् ।
[12 अ] अर्थरूपपरामर्शवेद्यः कश्चिद् ध्वनिर्बुधाः ।। सू. 29 ।।

शब्दस्थानं शब्दाश्रय आकाशमुरजतन्तुकरतालमुखादिः, तद्विलासः प्रतिध्वनिसंयोगजसन्निवेशादिः, तदुत्थः । भयादिसाधारणोत्कर्णाकर्णनतरलप्रेक्षणपरामर्शप्रयोजनादिरूपः साधारणो ध्वनिः । असाधारणं पुनः सुललितसन्निवेशचारुणा शब्देन सन्निधापितचमत्कारातिशयः कश्चिदेव ध्वनिः । यथा अर्थरूपपरामर्शवेद्यो ध्वनिर्नाम, शाब्दश्चमत्कारातिशयः । न ह्यर्थस्य घटपटादिवत्प्रत्यक्षोपलब्धिरपितु तदात्मना अर्थरूपेण, तत्तिरोधाने यन्महिम्ना तस्यैव चारुसन्निवेशातिशयव्यक्तो भवति स चासौ ध्वनिः । कश्चित्तु तादृशशब्दचमत्कारसंवलितार्थचमत्कारगोचरीक्रियमाणो विलक्षणचमत्कारातिशयरूपः ।

ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम काव्य होता है, यह पहले कहा जा चुका है । जब अवसर प्राप्त होने पर ध्वनि पर विचार किया जा रहा है—
ध्वनि—

शब्दस्थान के विलास से उत्पन्न, परमाह्लाद का कारण, अर्थरूप परामर्श से वेद्य कोई ध्वनि है—ऐसा विद्वान् कहते हैं ।। सू. 29 ।।

शब्दस्थान अर्थात् शब्द का आश्रय— आकाश, मुरज (मृदंग), तन्तु (वाद्य), करताल, मुख आदि । उसके विलास हैं—प्रतिध्वनि के संयोग से उत्पन्न सन्निवेश आदि । ध्वनि उस (शब्दस्थान के विलास) से उत्पन्न है (अर्थात् आकाश में

---

1. ०ल्हा०

मुखादि के द्वारा उच्चारित का प्रतिध्वनि के साथ संयोग होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है।) भय आदि में साधारणतः कान ऊँचे करके श्रवण, चञ्चल नेत्रों से दर्शन, परामर्श, प्रयोजन आदि रूप वाली साधारण ध्वनि है। पुनः अच्छी प्रकार से स्थित सौन्दर्ययुक्त शब्द में उपस्थापित चमत्कारातिशय ही कोई असाधारण ध्वनि है। जैसे जो ध्वनि अर्थरूप परामर्श से वेद्य (जानी जाती) है, वह शब्द से उत्पन्न चमत्कारातिशय रूप है। अर्थ की घट, पट आदि के समान प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती है, अपितु उन शब्दों में स्थित अर्थरूप से होती है। उस (वाच्यार्थ) का तिरोधान हो जाने पर जिस व्यङ्ग्यार्थ की महिमा से उस (व्यङ्ग्यार्थ) के ही चारुसन्निवेश (सुन्दरता से स्थिति) की अतिशयता की अभिव्यक्ति होती है, वही ध्वनि है। (कारिका में प्रयुक्त) कश्चित् (कोई) का अर्थ है उस प्रकार के शब्दचमत्कार से संवलित (साथ मिले हुए) अर्थचमत्कारगोचर किया जाने वाला विलक्षण चमत्कारातिशयरूप ही ध्वनि है।

यथा—

रागश्चक्षुपि नाधरे मृदुलता चित्ते परं नोरसि
क्रीडाकाननविभ्रमश्रमसहान्यङ्गानि किं चिन्त्यते।
[1]यन्माव्वीमधुमुग्धलुब्धमधुपं व्यवतीकृतस्वाशयं
[12ब] तत्कान्ताकुचपत्रवल्लिरचनापुष्पाऽयितं ते वचः ॥ 17 ॥

अत्र खण्डितात्ववचनव्यक्त्यङ्गशब्दचमत्कारसम्वलितखण्डितात्वप्रदर्शकार्थमहिम्ना गोचरीकृतो वितर्केर्ष्यादिकोटिविलक्षणचमत्कारातिशयं प्रकटीकरोति काव्यभावनाचमत्कारः। तथाहि—

ताम्बूलादिरागरञ्जिताधरेण कामिनीप्रसादनोपलभ्यते।

इह तु चक्षुपि रागो नाधरे, स च न व्यापारान्तरेण[2], किन्त्वन्यकामिनीसम्भोगजन्मा। ताम्बूलचर्वणाऽभावनिमित्ताऽभावे[3] सति रागो नाधरे नास्ति। अस्ति तु परिचुम्बनाऽसंलक्ष्यक्रमश्चक्षुपा रागवतोपलक्षितः। ममैव मोहनिशाप्रदीपकर इत्यर्थचमत्कारकुक्षिसन्निहितो वितर्कस्तादृक्[4] चेष्टास्मरणोद्बोधक रागपदप्राप्यः सहृदय[5]शेमुषीरसनया रस्यमान आस्वा-

1. यन्माधवी०
2. स्नानादिना (मू. पा. टि.)
3. शोकादावित्यर्थः (मू. पा. टि.)
4. भालतलाङ्गुल्यादिस्पर्शनादिचेष्टा (मू. पा. टि.)
5. ० यसेमुखीर०

दविशेषो लोकोत्तराह्ला[1]दात्मा काव्योत्तमत्वकारणतां भजते। स च ध्वनिर्ध्वनिर्भवति।

जैसे—

(नायक के प्रति खण्डिता नायिका का कथन—) नेत्रों में रक्तिमता है, अधरों पर नहीं। चित्त में अत्यधिक मृदुलता है, वक्षःस्थल पर नहीं। क्रीडा-रूपी कानन में भ्रमण करने के श्रम को सहन करने वाले तुम्हारे अङ्ग हैं। (फिर) क्या चिन्ता है ? माध्वीलता के मधुरस पर मुग्ध लोभी (प्राप्ति के इच्छुक) मधुप (भ्रमर) के समान अपने आशय को व्यक्त करने वाला जो तुम्हारा वचन है वह कामिनी के स्तनयुगल पर बनी लतारचना के पुष्प के समान हो गया है ॥ 17 ॥

यहाँ काव्य-भावना का चमत्कार है जो खण्डितात्व की वचन-व्यक्ति के अङ्गभूत शब्द-चमत्कार से मिले हुए, खण्डितात्व का प्रदर्शन करने वाले अर्थ की महिमा से प्रकट हुए, वितर्क-ईर्ष्या आदि की कोटि को छूता हुआ विलक्षण चमत्कारातिशय को प्रकट करता है। जैसे—

(यह कहा जाता है कि–) ताम्बूल (पान) आदि के राग से रञ्जित अधर से कामिनी को प्रसन्न करने की क्रिया व्यक्त होती है।

(नायक के नेत्रों की लालिमा देखकर नायिका वितर्क करती है कि) यहाँ नेत्रों में लालिमा है, ओठों पर नहीं और वह (लालिमा) स्नान आदि अन्य व्यापार से नहीं है, किन्तु अन्य स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न है। तांबूल-चर्वणा के निमित्त (प्रिया को प्रसन्न करने) का अभाव (शोकादि विद्यमान) नहीं है, परन्तु फिर भी अधरों पर लालिमा नहीं है (अर्थात् तांबूल-चर्वणा के होने का निमित्त है—प्रिया को प्रसन्न करना। शोक आदि अवस्थाओं में ताम्बूल का प्रयोग नहीं किया जाता। यहाँ शोकादि अवस्था नहीं है, परन्तु फिर भी तांबूल का प्रयोग नहीं किया, अतः अधरों पर लालिमा नहीं है)। नेत्रों में जो लालिमा लक्षित हो रही है, वह अन्य नायिका द्वारा परिचुंबनजनित है, यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि है। यह राग मेरे ही लिये मोहरूपी रात्रि का दोष उत्पन्न करने वाला है, इस प्रकार वितर्क अर्थ-चमत्कार की सीमा के भीतर स्थित है। भालतल पर अंगुलि आदि द्वारा स्पर्शनादि जैसी चेष्टाओं के स्मरण का बोध कराने वाले "राग" पद द्वारा गम्य (अर्थ) सहृदय की बुद्धिरूपी रसना से रस्यमान आस्वादविशेष, लोकोत्तराह्लादात्मकरूप ही काव्य की उत्तमता का कारण माना जाता है, और वही ध्वनि ध्वनि होती है।

---

1. ० ल्हा ०

तथान्याङ्गनागाढालिङ्गनेन हारमणिचिह्नानां प्रकाशीकरणरूपको-[13 अ] मलताव्यक्त्या उरसि अस्त्येव मृदुलता परं नो चित्ते तत्र संभाविता[1] न मां पीडयेत् । यद्वा अस्त्येव चित्ते यदसमयेऽपि मय्यनुरागादागतोऽसि[2] परं नोरसि कान्तान्तरगाढनीपीडनरूपकार्यहेतुत्वात्[3] ।

किञ्चाऽन्याङ्गेषु संभोगश्रमस्वेदशैथिल्यादिसत्त्वेऽपि किं चिन्त्यते क्रीडाकाननपरिभ्रमश्रमस्यापि[4] तत्र कारणत्वात् ।

यत्तु ते तावकं वचः तत्तु व्यक्तीकृतनिजाभिप्रायं यतो माध्वीमधुमुग्धलुब्धमधुपं निशि मधुपानं ततस्तत्तत्सौरभसञ्चारलुब्धत्वेन कान्तामुखसम्पर्कि सौरभमुपलभ्यते । तदिदं तव वचः पुष्पायितं कान्ताकुचस्थले कृतायाः पत्रवल्लिरचनायाः । न चैवं ध्वनेरविषयत्वं शङ्कनीयं पत्रवल्लिरचनाया एव फलत्वेनाभिमतत्वात् । स्वसन्निवेशितलतापुष्पादिना परचित्तरञ्जनं तत्रैव[5] रागातिशयसूचकं ततश्च पुष्पाणां[6] तत्रैव स्थापनं युक्तमिति शब्दार्थविलक्षणचमत्कारगोचरो ध्वनिः ।

उसी प्रकार अन्य स्त्री के गाढ आलिङ्गन से हार की मणि के चिह्नों को प्रकाशित करने वाली कोमलता की अभिव्यक्ति के कारण ही वक्षःस्थल पर मृदुलता है । किन्तु चित्त में मृदुलता नहीं है । अगर चित्त में कोमलता होती तो मुझे पीड़ा नहीं पहुँचाती । अथवा हृदय में तो (मृदुलता) है जो असमय में भी मेरे प्रति अनुराग के कारण आ गये हो (विपरीत लक्षणा से ईर्ष्या की अभिव्यक्ति है) । किन्तु अन्य स्त्री के गाढ आलिङ्गन रूप कार्य का हेतु होने से वक्षःस्थल पर (मृदुलता) नहीं है (अप्रस्तुतप्रशंसा के कारण से कार्य की अभिव्यक्ति है) ।

इसके अतिरिक्त अन्य स्त्री-सम्भोग के श्रम से उत्पन्न स्वेद, शैथिल्यादि अन्य अङ्गों पर होने पर भी क्या चिन्ता है, क्योंकि क्रीडारूपी कानन में परिभ्रमण करने का श्रम भी तो वहाँ कारण है (यहाँ अपह्नुति अलङ्कार है) ।

तुम्हारा जो वचन है वह अपने अभिप्राय को व्यक्त कर रहा है, जिसके कारण माध्वी के मधु पर मुग्ध लोभी भ्रमर के समान रात्रि में किया गया मधु-

1. सती मृदुलता (मू. पा. टि.)
2. विपरीतलक्षणाया ईर्ष्याव्यक्तिः (मू. पा. टि,)
3. अप्रस्तुतप्रशंसाकारणात् कार्यव्यक्तिः (मू. पा. टि.)
4. अपह्नुतिः (मू. पा. टि.)
5. लतायामेव (मू. पा. टि.)
6. ० नां

पान तथा उसी से उन-उन (भिन्न-भिन्न प्रकार के) सौरभ-सञ्चार के लोभीपन के कारण कान्ता के मुख से सम्पर्कित सौरभ का बोध होता है। अतः तुम्हारा यह वचन कांता के कुचस्थल पर की गयी पत्रवल्लिरचना के पुष्प के समान है। इस प्रकार ध्वनि के अविषयत्व की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वचन को पत्र-वल्लिरचना के ही फलरूप में मानना यहाँ अभीष्ट है। अपने द्वारा सन्निवेशित लता-पुष्प आदि के द्वारा परचित्तरञ्जन वहीं अर्थात् लता में रागातिशय को सूचित करता है और उसी से पुष्पों की वहीं पर (कान्ता के स्तनमंडल पर) ही स्थापना उचित है, यह शब्दार्थविलक्षणचमत्कारगोचर ध्वनि है।

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
वाच्यं स लक्षणामूलो ध्वनिर्वाक्ये पदे स्फुटम्॥ सू. 30॥

[13 ब] तत्र ध्वनिर्द्विविधः लक्षणामूलः प्रथमः अभिधामूलो द्वितीयः। लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्यविवक्षितवाच्यः प्रथमः। स द्विविधः अर्थान्तरेसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च। तादृशोऽपि पदगतो वाक्यगतश्चेति चतुर्विधः। यथा—

त्वामस्मि वच्मि[1] विद्वत्सु युक्तमत्र विधीयताम्।
उक्तो वाक्ये पदे यस्य मित्रं मित्रं स जीवति॥ 18॥

अत्र अस्मीत्यहमर्थे वच्मीत्युपदेशे द्वितीयमित्रशब्द आश्वस्ताद्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदे यथा 'न विमुह्यन्ति धीराणां मनांसी"-ति पदे स्फुटम्। अत्र विमुह्यन्तीति वैकल्य्ये लाक्षणिकम्।

वाक्ये यथा—"सौजन्यमुपकाराश्च कथं वाच्याः सखे तव।"

अत्र सौजन्योपकारादीनामनुपयुज्यमानत्वादत्यन्ततिरस्कृतत्वं अपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वक्ति [:]।

इति लक्षणामूलो ध्वनिः।

ध्वनि-भेद—

अविवक्षितवाच्य लक्षणामूल ध्वनि—

जहाँ वाच्य अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है अथवा अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है वह लक्षणामूलध्वनि होती है जो स्फुटरूप में वाच्य तथा पद में दृष्टिगोचर होती है॥ सू. 30॥

---

1. उपदिशामीत्यर्थः (मू. पा. टि.)

ध्वनि दो प्रकार की है–प्रथम लक्षणामूला और द्वितीय अभिधामूला। लक्षणामूला में गूढव्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर प्रथम अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। वह अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला ध्वनि) दो प्रकार की है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। वैसे भी (दोनों भेद) पदगत और वाक्यगत होने से ध्वनि चार प्रकार की हो जाती है। जैसे—

अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य के उदाहरण—

मैं तुमको कहता (उपदेश देता) हूँ कि यहाँ विद्वानों में ठीक तरह से आचरण करना।

यह वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदहारण हुआ। पदगत का उदाहरण जैसे—

जिसका मित्र (वस्तुतः आश्वस्तत्व आदि धर्मयुक्त) मित्र है वही जीता है ।।18।।

यहाँ (प्रथम उदाहरण में) "अस्मि" यह "अहम्" अर्थ में (और) 'वच्मि' यह "उपदेश" (अर्थ में परिणत होने से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का वाक्यगत भेद है और द्वितीय उदाहरण में) द्वितीय "मित्र" शब्द आश्वस्तत्व आदि रूप अर्थान्तर में संक्रमित वाच्य (होने पर पदगत का उदाहरण) है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण—

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि पद में जैसे–"धीरपुरुषों के मन मोहित नहीं होते"। यहाँ पद में ध्वनि स्फुट है। यहाँ "विमुह्यन्ति" यह पद वैकल्य (संशय, सन्दिग्धता) में लाक्षणिक पद है।

वाक्य में (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि) जैसे—

हे मित्र, तुम्हारे सौजन्य और उपकारों को किस प्रकार कहा जा सकता है?

यहाँ सौजन्य, उपकार आदि पदों के (मुख्य अर्थ की) संगति न होने से (वाच्य अर्थ का) अत्यन्ततिरस्कार करके (कोई अपकृत व्यक्ति) अपकार करने वाले के प्रति विपरीतलक्षणा से यह कह रहा है।

लक्षणामूल ध्वनि का विवेचन समाप्त हुआ।

विवक्षितान्यपरतावाच्यस्यान्योध्वनिर्मतः।
कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ।।सू.31।।

[14अ] व्यङ्ग्यप्रतीत्यनुकूलतयान्वयबोधे[1] विवक्षितान्यपर-वाच्योऽभिधामूलोध्वनिः । स च असंलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः संलक्ष्यव्यङ्ग्य-क्रमश्चेति द्विविधः ।

आद्यो रसादिः षोढाऽसौ स्पष्टं रूपमुदाहृतौ ।।सू.32।।

आद्योऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः ।

रसध्वनिर्यथा—

तल्लावण्यं सुधारूपं तदा विषमिवाधुना ।

अत्रानुभवैकगोचरमर्थं प्रकाशयतां सर्वनाम्नां रसव्यञ्जकता । आदिपदाद्भावादिः तत्र ।

भावो देवादिविषया रतिर्वा व्यभिचार्य्यपि ।।सू.33।।

भावध्वनिर्यथा—

ममामृतमिव स्वादु त्वया कण्ठीकृतं विषम् ।

अत्र शिवविषयारतिः । व्यभिचारी यथा—

निद्रामुद्रितलोचनेन कथमप्यालिंगिता कामिनी
यावत्कर्णरसायनं कथयति प्रस्यन्दिदन्तच्छदा
उत्स्वप्नायितभाषितं समभवत्तावत्ततो गेहिनी-
निःश्वासोष्णिमवोधितं[2] न सुखयत्यद्यापि कामाङ्कुरः ।।19।।

अत्र विषादः ।

अभिधामूला या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—

वाच्य अर्थ के विवक्षित होने पर भी अन्यपरक (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होने पर वह अन्य प्रकार की (अभिधामूला या विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि मानी जाती है। (इसके दो भेद होते हैं एक तो) कोई (अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर रसध्वनिरूप) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (जिस में वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के क्रम की प्रतीति नहीं होती) और दूसरी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (जिसमें वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का क्रम लक्षित होता है) ।।सू.31।।

व्यङ्ग्यप्रतीति की अनुकूलता से अन्वय-बोध होने पर विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूला ध्वनि होती है । वह (अभिधामूला ध्वनि) दो प्रकार की है—असं-लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि ।

1. ० वोधे
2. ० वोधितं

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि—

रस आदि (1. रस, 2. भाव, 3. रसाभास, 4. भावाभास 5. भावोदय, 6. भावसन्धि, 7. भावशबलत्व और 8. भावशान्ति ये आठों जब काव्य में) स्पष्टरूप (प्रधानरूप) से स्थित होते हैं तब प्रथम रसादिरूप (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि) होती है। यह (रसादि ध्वनि 1. पदांश, 2. पद, 3. वाक्य, 4. प्रबन्ध, 5. वर्ण और 6. रचना-निष्ठ होने पर) छह प्रकार की हो जाती है ॥ सू. 32॥

सूत्र में "आद्य" से अभिप्राय है असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि।

रस-ध्वनि—

(प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनि में से) रसध्वनि जैसे—

(उस नायिका का) वह सौन्दर्य (संयोग के समय) अमृतसदृश था, परन्तु अब (वियोग में) विष के समान है।

यहां (तत् आदि) सर्वनामों से (उस समय के) अनुभवैकगोचर अर्थ (व्यङ्ग्य रूप से) प्रकाशित होने से (विप्रलम्भ शृङ्गार) रस का उदाहरण है।

"रसादिः" में "आदि" पद से भाव आदि का ग्रहण होता है।

भाव—

देव आदि विषयक रति (आदि स्थायिभाव) और व्यभिचारिभाव "भाव" कहलाते हैं ॥सू.33॥

भावध्वनि का उदाहरण—

आपके द्वारा कण्ठ में सन्निविष्ट विष मेरे लिए अमृत के समान रुचिकर है।

यहां शिवविषयक रति (होने से भाव-ध्वनि है)। व्यभिचारी (का उदाहरण) जैसे—

निद्रा के कारण बन्द आंखों वाले नायक के द्वारा किसी प्रकार (किसी बहाने से) कामिनी (नायिका) का आलिङ्गन कर लिया गया। जब तक तरल अधरों वाली नायिका ने कानों को मधुर लगने वाले शब्द कहे, तब तक नायक ने स्वप्न में ही कुछ बोलना शुरू कर दिया। उस समय उस गृहिणी के निःश्वासों की उष्मा से उसकी नींद टूट गयी। उस नायक को आज भी वह कामरूपी अङ्कुर कष्ट पहुँचाता है ॥19॥

यहां विषाद (रूपी व्यभिचारी व्यङ्ग्य) है।

अनौचित्येन च भवेदाभासो रसभावयोः ॥सू.34॥

अनौचित्यप्रवर्त्तिता रसाभासाभावाभासाश्च ।

तत्र रसाभासो यथा—

क: कृती चिन्त्यते चित्ते कः पास्यत्यधरामृतम् ।

अत्र मध्ये निर्व्यापाराणां बहुविषयकत्वप्रतीते रसाभासो व्यङ्ग्यः । भावाभासो यथा—

कथं हरिणशावाक्षी भामुरीकुरुते चिरम् ।

अत्राननुकूलकामिनीविषयत्वेन रतेरनुत्कृष्टत्वात्तद्विषयचिन्ताया अनुत्कृष्टत्वमिति भावाभासः ।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शवलता तथा ।।सू.35।।

व्यङ्ग्य इत्यर्थः ।

तत्र भावशान्तिः—

अञ्जिताधरमनञ्जितेक्षणं सञ्जितोऽसि कथमित्यवेक्षती ।[1]
आलिलिङ्ग मदयन्मनोभवं माधवस्तदुचितं चकार सः ।।20।।

अत्र कोपशान्तिः ।

भावोदयो यथा—

विपक्षरमणीनामग्रहान्मामवबीरितम् ।
मा भूत्सुप्त इति व्याजवलितेक्षणमैक्षत ।।21।।

अत्रौत्सुक्यरूपभावस्योदयो व्यङ्ग्यः ।

रसाभास और भावाभास—

रस और भावों का अनुचित रूप से वर्णन "रसाभास" तथा "भावाभास" होता है ।।सू.34।।

(रस तथा भावों का) अनुचित रूप से किया गया वर्णन रसाभास तथा भावाभास कहलाता है ।

उनमें से रसाभास (का उदाहरण) जैसे—

चित्त में किस सौभाग्यशाली के विषय में सोच है, कौन अधरामृत का पान करेगा ।

यहाँ व्यापाररहित जनों के मध्य बहुविषयकता की प्रतीति होने पर रसा-भास व्यङ्ग्य है ।

---

1. अपाणिनीय प्रयोग

भावाभास जैसे—

हरिण-शावक के समान (चञ्चल) नेत्रों वाली किस प्रकार से दीर्घकाल तक मुझे हृदय में स्थित करेगी ?

अननुकूल कामिनी के विषय में रति अनुत्कृष्ट होती है अतः यहाँ उसके (अननुरक्ता कामिनी के) विषय में चिन्ता का अनुत्कृष्टत्व (अनौचित्य) होने से भावाभास का उदाहरण है।

भावशान्ति आदि चार—

भाव की शान्ति, भाव का उदय, भावसन्धि तथा भावशवलता (ये चारों भी भावों के साथ गिने जाने चाहिये) ॥ सू. 35 ॥

(भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशवलता ये भी) व्यङ्ग्य होते हैं, यही अर्थ है।

भावशान्ति का उदाहरण—

उनमें से भावशान्ति जैसे—

अञ्जित (सज्जित या रंगे हुए) अधरयुक्त, अञ्जनरहित नेत्र वाले तुमको (किसने) कैसे जीत लिया, इस प्रकार सोचती हुई नायिका के काम को उत्कर्ष-शाली बनाते हुए माधव ने उसका आलिङ्गन कर लिया, वह उन्होंने (माधव ने) उचित ही किया ॥ 20 ॥

यहाँ कोप (रूप भाव की) शान्ति (प्रदर्शित हुई) है।

भावोदय का उदाहरण—

भावोदय जैसे—

सपत्नी का नाम लेने पर (नायिका ने) मुझे फटकार दिया। (फिर) कहीं सो न गया हो (सोया हुआ न हो) इसलिए बहाने से नेत्र घुमाकर मुझे देखने लगी ॥ 21 ॥

यहाँ औत्सुक्य रूप भाव का उदय व्यङ्ग्य है।

भावसन्धिर्यथा—

क्षत्राङ्कुरविनाशाय मनो धावति चैकतः।
रुणद्धि चान्यतश्चित्तमेतदालिङ्गनाय मे ॥ 22 ॥

अत्रगर्वौत्सुक्ययोः[1] । यथा वा—

विलोलभ्रूवल्लीमुकुलितविलासे[2] मधुरिपौ
रथारूढे मन्दं व्रजति हसितक्रीतभुवने ।
व्रजस्त्रीणामन्तः प्रसरति परं मोदमहिमा
[15 अ] मुहुः कम्पं धत्ते कलयति च विश्रम्भमधिकम् ॥ 23 ॥

अत्र हर्षविषादयोः ।
अथ भावशबलता[3]—

रहः प्राप्तापि निर्मुक्ता क्वाऽकार्य्यंव्यवसायिता ।
कोपेऽपि कमनीयास्या को धास्यति युवाधरम् ॥ 24 ॥

अत्र निर्मुक्तेति पश्चात्तापः क्वाकार्येति वितर्कः, कोपेपीति स्मृतिः को धास्यतीति चिन्ता । एतेषां पूर्वपूर्वोपमर्दनेन शबलता[3] चमत्कारो व्यङ्ग्यः ।

मुख्ये रसेऽङ्गित्वमेषां राजानुगतभृत्यवत् ॥ सू. 36 ॥

विवाहप्रवृत्त भृत्यानुगतराजवत् भावशान्त्यादीनामङ्गित्वमित्यर्थः । रसादिरित्युक्तम् ।

भावसन्धि का उदाहरण—

भावसन्धि (का उदाहरण) जैसे—

एक ओर मेरा मन क्षत्रियवंश के अङ्कुर के विनाश के लिये दौड़ रहा है और दूसरी ओर उसके आलिङ्गन के लिये मेरा चित्त रुका जा रहा है ॥ 22 ॥

यहाँ गर्व और औत्सुक्य की (सन्धि) है । अथवा—

चञ्चल भ्रूलता के विलास को व्यञ्जित करने वाले तथा अपनी हँसी से भुवन को खरीद लेने वाले मधुरिपु (श्रीकृष्ण) के रथारूढ़ होकर मन्दगति से जाने पर व्रज-स्त्रियों का अन्तःकरण अत्यधिक प्रसन्नता की महिमा को फैलाता है, पुनः वह बार-बार काँप उठता है, फिर उनके प्रति अधिक विश्वास को प्रकट करता है ॥ 23 ॥

---

1. गर्वोत्सु०
2. ० तमिलापे
3. ० वलता

यहाँ हर्ष और विषाद की (सन्धि) है।

भावशबलता का उदाहरण—

अब भावशबलता (का उदाहरण) है—

एकान्त में प्राप्त होने पर भी छोड़ दी गई है, "इसमें अनुचित कार्य कहाँ है"—ऐसा कहकर प्रवृत्त की गई, वह सुन्दरी तो क्रोध में भी सुन्दर मुखवाली थी। (न जाने) कौन युवक उसके अधरों को धारण करेगा ? ॥ 24 ॥

यहाँ "निर्मुक्ता" यह कहने में पश्चात्ताप है। "क्वाकार्यं" इस वाक्य में वितर्क है। "कोपेऽपि" में स्मृति तथा "को धास्यति" में चिन्ता है। इन भावों के पूर्वपूर्वोपमर्दन से शबलता का चमत्कार व्यङ्ग्य है।

रस के मुख्य होने पर भी इनका अङ्गित्व (प्राधान्य) राजा से अनुगत भृत्यों के समान (कभी-कभी) हो जाता है ॥ सू. 36 ॥

राजा से अनुगत विवाह के लिये जाते हुए भृत्य के समान भावशान्ति आदि की प्रधानता (अङ्गित्व) हो जाती है, यह अभिप्राय है। (अर्थात् जैसे राजा की प्रधानता होने पर भी किसी भृत्य का विवाह होने पर, राजा भी वहाँ उपस्थित रहता है, परन्तु प्राधान्य भृत्य का ही रहता है। उसी प्रकार रस का प्राधान्य होने पर भी कहीं-कहीं आपाततः भावशान्ति आदि की प्रधानता हो जाती है।)

रसादि का विवेचन कर दिया गया।

षोढेत्याह—

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ॥ सू. 37 ॥

नामधातुरूपप्रकृतिभागसुप्तिङ्रूपविभक्तिभागोपसर्गादिरूपपदैकदेशपदवाक्यप्रबन्धवर्णरचनानिष्ठतया षड्विधः।

तत्र पदांशमध्ये प्रकृतेर्यथा—

द्वित्राण्येव पदान्येष गतः किमनुनीयते।

अत्र द्वारादिपदत्यागेन पदानीत्युक्तं तेनोत्कण्ठातिशयो व्यङ्ग्यः। धातोर्यथा—

गलन्नीवि श्लथद्वासो जयति प्रेमचेष्टितम्।

अत्र जयतीति रत्युत्कर्षो व्यङ्ग्यः।

सुप्तिङोर्यथा—

लिखन्नास्तेऽधुना भूमिं कान्तः किं कर्तुमिच्छसि।

[15 ब] अत्र लिखन्निति शतृप्रत्ययेन आऽस्त इति लटा भूमिमिति द्वितीयया च क्रमेणाऽबुद्धिपूर्वकरूपत्वमऽप्राधान्यमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तं लेखस्याऽकर्मकत्वं चबो[1]ध्यते तेनानुरागातिशयो व्यङ्ग्यः ।

रसादि ध्वनि के छह भेद—

(रसादि के) छह प्रकारों को कहते हैं—

रसादि ध्वनि पदैकदेश(पदांश),रचना और वर्णों में भी होती है ।।सू. 37।।

नाम, धातुरूप, प्रकृतिभाग, सुप्तिङ्रूप, विभक्तिभाग, उपसर्ग आदि रूप 1. पदैकदेश, 2. पद, 3. वाक्य, 4. प्रबन्ध, 5. वर्ण तथा 6. रचना-निष्ठ होने से यह (रस आदि ध्वनि) छह प्रकार की होती है ।

प्रातिपदिकरूप पदैकदेश या प्रकृति द्वारा रस की व्यञ्जकता—

इनमें से पदांश के मध्य (प्रतिपादिकरूप) प्रकृति के व्यञ्जकत्व का उदाहरण, जैसे—

यह (नायक) दो-तीन पग ही गया है, इसका क्या अनुनय किया जाय ?

यहाँ (दो-तीन) "द्वारादि" शब्द का प्रयोग न करके (दो-तीन) "पग" यह कहा गया है और इस कथन से एक उत्कण्ठा का अतिशय व्यङ्ग्य है । (यहाँ "पदानि" इस पद के एक देश "पद" इस प्रातिपदिकरूप अंश से सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है, अतः यह प्रातिपदिकरूप पदैकदेश या प्रकृति की रसव्यञ्ज-कता का उदाहरण है ।)

धातुरूप प्रकृति द्वारा रस की व्यञ्जकता—

धातु से (रसादि ध्वनि की व्यञ्जकता हो सकती है) जैसे—

खुली जा रही नीवी (लहंगे की गाँठ) और खिसकते हुए वस्त्र वाली प्रेम-चेष्टाओं की जीत हो ।

यहाँ "जयति" इस (धातु)से रत्युत्कर्ष व्यङ्ग्य है (अतः धातुरूप प्रकृति के व्यञ्जकत्व का उदाहरण है ।)

प्रत्ययांश द्वारा रस की व्यञ्जकता—

सुप् और तिङ् (रूप प्रत्ययों के व्यञ्जकत्व का उदाहरण) जैसे—

---

1. वो ०

इस समय (तुम्हारे) प्रियतम (निरुद्देश्यभाव)से भूमि कुरेदते हुए बैठे हुए हैं, क्या करना चाहती हो।

यहाँ "लिखन्" इस शतृप्रत्यय से (लिखन् क्रिया की) अप्रधानता होने से उसके अबुद्धिपूर्वकत्व की सूचना मिलती है (अर्थात् कुछ लिख नहीं रहा है अपितु किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में यों ही भूमि कुरेद रहा है)। "आस्ते" में (प्रारब्ध कार्य की अपूर्णता का बोधक) लट् लकार का प्रयोग होने से बोधित होता है कि तुम्हारे प्रसन्न होने तक इसी भांति बैठा रहेगा। "भूमिम्" में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होने से (भूमि को कुरेद रहा है अतः) लेख की अकर्मकता बोधित होती है और इससे अनुरागातिशय व्यङ्ग्य है।

सम्बन्धस्य यथा—

हराम्यहं नागरीणां पत्युश्चेतो विशृंखले[1]।

अत्र षष्ठ्या पतिकलाऽभिज्ञतारूप उत्कर्षातिशयो व्यज्यते।

वाक्यं परशुरामस्य रघूणामरुजन्मनः।
रमणीयः कुमारोऽयमासीदिति पथि श्रुतम्॥ 25॥

अत्र आसीदिति [2]लङाऽतीतकालविहितेनाऽचिरात्तदीयहिंसायाः सुकरत्वं व्यञ्जयता भार्गवक्रोधातिशयो व्यज्यते।

वचनस्य यथा—

तान्यौत्सुक्यानि सा प्रीतिरवसानमथेदृशम्।

अत्र गुणग्रहणादीनां [3]वहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं वहुवचनैकवचनाभ्यां द्योत्यते।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

मुञ्चाशां हरिणाक्षीषु किं मन्ये[4] विहरिष्यसे।

अत्र "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्चे" ति युष्मदस्मदोर्योगे उत्तममध्यमयोर्विपर्ययेन विधानं प्रहासव्यञ्जकम्।

संबंध की व्यञ्जकता—

सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति) की (रस-व्यञ्जकता का उदाहरण) जैसे—

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. लुटा०
3. व०
4. त्वं मन्यसेऽहं विहरिष्यसे इति आशां स्त्रीषु मुञ्चेत्यर्थः (मू.पा.टि.)

अरी विगड़ैल ! मैं तो नागरियों के पतियों के चित्त को (भी) वश में कर लेती हूँ।

यहाँ "नागरीणां" इस षष्ठी विभक्ति से पतिकला की अभिज्ञतारूप चातुर्य का उत्कर्षातिशय व्यञ्जित होता है।

(प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररस की अभिव्यक्ति का उदाहरण है—)

"यह कुमार (रामचन्द्र) सुन्दर था, यह मार्ग में सुना गया था"—परशुराम के इस वाक्य ने रघुवंशियों के मन को पीड़ित (दुःखी) किया ॥ 25 ॥

यहाँ "आसीत्" पद में लङ्लकार से भूतकाल सूचित होता है (अर्थात् धनुष तोड़ने से पहले रामचन्द्र रमणीय था अब नहीं, यह प्रतीत होता है)। अतः शीघ्र ही उसे मारना सरल है, यह व्यञ्जित होने से भार्गव (परशुराम) का क्रोधातिशय व्यञ्जित होता है (अतः तिङन्त "आसीत्" पद के प्रत्ययांश लङ्लकार से रौद्ररस व्यङ्ग्य है)।

वचन की व्यञ्जकता—

वचन (बोधक प्रत्ययरूप अंश की रसव्यञ्जकता) का (उदाहरण) जैसे—

वे उत्सुकताएँ, वह प्रीति और अब इस प्रकार का अवसान (अन्त)।

यहाँ गुणग्रहण आदि का बहुत्व (नानाविधता) और प्रेम का एकत्व (सदैव एक रूप में स्थिति) क्रमशः बहुवचन और एक वचन से द्योतित होता है।

प्रत्ययांश रूप पुरुष व्यत्यय (परिवर्तन) की रसव्यञ्जकता—

पुरुष के परिवर्तन की (रसव्यञ्जकता का उदाहरण) जैसे—

(मन को सम्बोधित करते हुए विरक्त पुरुष का कथन—) तू सोचता है कि मैं विहार करूँगा, मृगनयनी स्त्रियों में इस प्रकार की आशा को त्याग दे।

"प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवच्च" (1–4–106) पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार मन् धातु उपपद रहने पर युष्मद् और अस्मद् के योग में उत्तम और मध्यम का विपर्यय करके (मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का और उत्तम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष का) विधान किया गया है। इसी के अनुसार यहाँ पुरुषव्यत्यय से प्रहास व्यङ्ग्य है।

पूर्वनिपातस्य यथा—

पराक्रमस्थितिर्येषां द्वित्रास्ते तु भवादृशाः।

[16अ]—अ ∧ त्र पराक्रमप्राधान्य व्यङ्ग्यम् ।

अयोधि दिवसं चान्यैर्दिनेनाऽयुद्ध तद्भवान् ।

अत्र दिनेने 'त्यपवर्गे तृतीया' फलप्राप्तिं द्योतयति ।

एवम्—

[1]विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो ।

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

इत्यादौ उपसर्गस्य ।

तरुणिमनि[2] कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।

अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥ 26 ॥

अत्र तरुणि[3]मनीतीमनिच्, अनुमदनधनुरित्यव्ययीभावस्य, मौलिं वसतीति कर्मभूताधारस्य । तरुणत्वे[4] धनु[ष]: समीपे[5] मौलौ वसतीति तुल्येऽपि वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपकृतोविशेषः स एव व्यञ्जकः ।

वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपादौ वोध्यम् ।

इति पोढा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः ।

पूर्वनिपात की रसव्यञ्जता—

पूर्वनिपात की (रसव्यञ्जकता का उदाहरण) जैसे—

पराक्रम और स्थिति जिनमें है, ऐसे आपके जैसे वे (राजा) दो तीन ही हैं ।

यहाँ पूर्वनिपात से पराक्रम का प्राधान्य व्यङ्ग्य है ।

---

1. परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
   पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
   विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
   विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च तनुते । —मालतीमाधव,–1,31
2. तरुमणिमनि
3. तरुणम०
4. ०णत्व
5. ०मीप

विभक्ति की व्यञ्जकता—

अन्य (व्यक्तियों या शत्रुओं) ने सारे दिन युद्ध किया (पर विजय की प्राप्ति नहीं हुई), परन्तु आपने एक ही दिन में (विजय प्राप्त कर) युद्ध समाप्त कर दिया।

यहाँ "अपवर्गे तृतीया" (2-3-6) इस सूत्र से "दिनेन" में तृतीया विभक्ति हुई है (और उस तृतीया विभक्ति से विजय-रूप) फल की प्राप्ति सूचित होती है।

उपसर्ग की व्यञ्जकता—

इसी प्रकार ("मालतीमाधव" नाटक, प्रथम अंक के श्लोक की उत्तरार्द्ध-पंक्तियाँ हैं—)

विवेक का नाश होने पर बढ़े हुए महान् अज्ञानरूपी मोह से गहन कोई (अनिर्वचनीय कामज) विकार अन्तःकरण को जड़ बना रहा है और सन्तप्त कर रहा है।

यहाँ ("प्रध्वंस" पद में "प्र" शब्द रूप) उपसर्ग की (व्यञ्जकता है जिससे विप्रलम्भ द्योतित होता है)।

अनेक प्रत्ययांशों की व्यञ्जकता—

नवयौवन का उदय होने पर (नायिका द्वारा) कामदेव के धनुष के समीप (बैठकर) भौंहों की कलाओं को सर्वप्रथम पढ़ लेने (जान लेने) पर, चकित हरिण के समान चंचल नेत्र वाली यह (नायिका) समस्त सुन्दरियों की शिरोभूषणता को प्राप्त कर रही है ॥26॥

यहाँ "तरुणिमनि" में इमनिच् प्रत्यय (तारुण्य में भी सौकुमार्यातिशय के बोधन के लिये प्रयोग किया गया है)। "अनुमदनधनुः" इस पद में (पूर्व पदार्थ-प्रधान) अव्ययीभाव समास (उत्तरपदरूप मदनधनु की अप्रधानता के प्रकाशन द्वारा भ्रूलताग्र के वशीकरण-सामर्थ्य की अतिशयता को अभिव्यक्त करता है)। "मौलिं वसति" इस पद में कर्मभूत आधार (अर्थात् कर्मविभक्ति के प्रयोग से नायिका के सौन्दर्यातिशय की अभिव्यक्ति होती है। तरुणिमनि के स्थान पर) तरुणत्वं (प्रयोग और अनुमदनधनुः के स्थान पर) धनुषः समीपं (प्रयोग और मौलिं अधि-वसति के स्थान पर) मौलौ वसति (का प्रयोग) समान अर्थ वाला होने पर भी (तरुणिमनि आदि में) स्वरूप की कुछ विशेषता है जिससे यहाँ उस (विशेषरूपता) की ही व्यञ्जकता मानी गई है।

वर्णों और रचना के व्यञ्जकत्व के उदाहरण गुण-स्वरूप (पञ्चम प्रकाश) के विवेचन में कहे जायेंगे।

इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि छह प्रकार की है।

लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमस्त्रेधा शब्दार्थोभयशक्तिजः ॥सू० 38॥

शब्दशक्त्युत्थः अर्थशक्त्युत्थः उभयशक्त्युत्थश्चेति त्रिधा।

आद्यं विभजते—

वस्त्वलङ्काररूपत्वात् शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥सू० 39॥

वस्तुरूपः अलङ्काररूपश्च।

[16अ]—आद्यो यथा—

पयोधरोन्नतिं दृष्ट्वा वसतां यदि रोचते।

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदाऽऽस्वेति वस्तुमात्रं व्यञ्जते।

द्वितीयो यथा—

विनैव पयसो वृष्टिं रसं दत्ते पयोधरः।

अत्र वाक्यस्याऽसम्बद्धार्थत्वं मा प्रसांक्षीदिति विभावनालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

यथा वा—

> द्विषत्प्रतापदहनस्तद्बालानयनाम्बुभिः।
> शमितो धूमलेखेयं करे तव कृपाणिका ॥27॥

अत्र प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि—

(अभिधामूला ध्वनि का भेद) लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि तीन प्रकार की होती है—(1) शब्दशक्त्युत्थ, (2) अर्थशक्त्युत्थ और (3) उभयशक्त्युत्थ ॥सू० 38॥

शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ भेद से संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार की है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के दो भेद—

प्रथम (शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि) के भेद हैं—

वस्तु और अलंकार भेद से शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि दो प्रकार की होती है ॥सू० 39॥

(शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के दो भेद हो जाते हैं—) (1) वस्तुध्वनि और (2) (2) अलङ्कारध्वनि ।

शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनि—

प्रथम (वस्तुध्वनि का उदाहरण) जैसे—

यदि रुचिकर लगे तो पयोधरों की उन्नति (बादलों को उमड़ता हुआ, स्तनों को उभरता हुआ) देखकर रुक जाओ ।

(यह वाक्यार्थ है । व्यङ्ग्यार्थ है कि यदि रुचिकर हो तो उरोजों की उन्नतता को देखकर रुक जाओ) ।

यहाँ यदि तुममें उपभोग की क्षमता हो तो रुक जाओ । यह वस्तु व्यञ्जित होती है (अतः वस्तुध्वनि का उदाहरण है) ।

शब्दशक्त्युत्थ अलङ्कारध्वनि—

द्वितीय (अलङ्कार ध्वनि का उदाहरण) जैसे—

पय (जल) की वृष्टि के बिना ही पयोधर (बादल अथवा उरोज) रस देता है ।

यहाँ वाक्य की असम्बद्धार्थता का प्रसंग न आए, अतः विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य है । अथवा दूसरा उदाहरण—

शत्रुओं के प्रताप की अग्नि, उस बाला के नयनाश्रुओं से बुझ गई । यह जो तुम्हारे हाथ में कृपाणिका है, यह धूमलेखा है ।।27।।

यहाँ प्राकरणिक और अप्राकरणिक का उपमान-उपमेयभाव (होने से उपमालङ्कार) व्यङ्ग्य है ।

स्वतःसम्भव्यर्थशक्त्युत्थः कविप्रौढोक्तिकल्पितः ।
कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्धश्चेति त्रिधा मतः ।।सू० 40।।

अर्थशक्त्युत्थो ध्वनिः स्वतःसम्भवी कविप्रौढोक्तिसिद्धः कवि-कल्पितवक्त्रोक्तिसिद्धश्चेति त्रिधा ।

वस्तु वालङ्कृतिर्वेति षट्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।
तेन द्वादशधाभिन्नः स्पष्टं रूपमुदाहृतौ ।।सू० 41।।

तादृशो ध्वनिर्वस्तुरूपः अलंकाररूपश्चेति षट्भेदः । व्यञ्जकार्थ-भेदाद्द्वादशधा । वस्तुना वस्तु व्यक्तिः, तेन[1] चालङ्कारः, अलङ्कारेण

---

1. वस्तुना (मू. पा. टि.)

वस्तुव्यक्तिः, अलङ्कारेण चालङ्कार व्यक्तिरिति प्रत्येकं चतुर्भेदात् [17अ] ऽ द्वादशभेदाः ।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद—

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का द्वितीय भेद) अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि तीन प्रकार की मानी गई है—(1) स्वतः सम्भवी (अर्थात् लोक में पायी जाने वाली), (2) कवि की प्रौढोक्ति मात्र (उक्ति प्रागल्भ्य) से कल्पित और (3) कविकल्पित वक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से सिद्ध (अर्थात् लोक में नहीं पाये जाने पर भी कवि-कल्पित वक्ता के द्वारा प्रौढोक्ति से कल्पित) ।।सू. 40 ।।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि तीन प्रकार की होती है—(1) स्वतःसम्भवी, (2) कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध और (3) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध ।

वे तीन प्रकार (के ध्वनि भेद) वस्तु और अलङ्काररूप से छह प्रकार के होते हैं तथा वे वस्तु अथवा अलङ्कार दोनों को व्यक्त करते हैं, अतः काव्य में अर्थशक्त्युत्थध्वनि के बारह भेद स्पष्टरूप से कहे गये हैं ।।41।।

वह (तीन प्रकार की अर्थशक्त्युत्थ) ध्वनि वस्तुरूप और अलङ्काररूप होने से छह प्रकार की हो जाती है, व्यञ्जक अर्थ के भेद से उसके बारह प्रकार हो जाते हैं । अर्थात् (1) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य, (2) वस्तु से अलङ्कार (व्यङ्ग्य), (3) अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य और (4) अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य, ये चार भेद प्रत्येक (तीनों अर्थशक्त्युत्थ) के होने से अर्थशक्युत्थ ध्वनि के बारह भेद हो जाते हैं ।

तत्र स्वतःसम्भवी यथा—

धूर्त्तोप्रिमो धनीत्युक्ते जहास मदिरेक्षणा ।

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तुव्यक्तिः ।

रते वदसि धन्याऽसि न स्मराम्यहमीदृशी ।

अत्र त्वमधन्या अहं तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

यमदण्ड इवालोकि कोदण्डः समरेऽरिभिः ।
कालीकटाक्षमालेव वाणालिर्निस्सरत्यसौ ।।28।।

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुव[1]लक्षयं क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

मानक्रोधारुणं वैरिनारीनयनपङ्कजम् ।
पुण्डरीकमिवाभाति दराकृणदशा हरेः ।।29।।

---

1. ०व०

अत्र ईषदरुणदृष्ट्याऽरुणनयनकमलस्य पुण्डरीकत्वविरोधनिदर्शन-समकालमेव शत्रुव्यापादनमिति तुल्ययोगिता उपमाव्यक्तिर्वा ।

एषु औचित्येन सम्भाव्यमानः स्वतःसम्भवी ।

(1) स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

स्वतःसम्भवी का उदाहरण जैसे—

(तुम्हारा वर) धूर्त्तों में अग्रणी और धनी है, ऐसा कहे जाने पर मादक नेत्रों वाली (बाला) हँसने लगी ।

यहाँ "वह मेरे ही उपभोग के योग्य है" यह वस्तु (जहास रूप) वस्तु से व्यङ्ग्य होती है ।

(2) स्वतःसम्भवी वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

(एक सखी का दूसरी सखी के प्रति कथन—) तुम धन्य हो जो रति के समय बोलती हो, मैं ऐसी हूँ कि मुझे उस समय कुछ स्मरण नहीं रहता ।

यहाँ तुम तो धन्य नहीं हो किन्तु मैं धन्य हूँ यह (दूसरी सखी की अपेक्षा आधिक्य दिखाने से) व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

(3) स्वतःसम्भवी अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य—

युद्धभूमि में शत्रुओं ने धनुष को यमदण्ड के समान और धनुष से निकलने वाली बाणों की श्रेणी को काली (दुर्गा) की कटाक्षमाला के समान देखा ।।28।।

यहाँ (काली की कटाक्षमाला के समान इस) उपमा अलङ्कार से "क्षणभर में समस्त शत्रुओं का विनाश कर दिया जायेगा", यह वस्तु व्यक्त होती है ।

(4) स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

मानरूपी क्रोध से अरुण शत्रु-स्त्रियों के नेत्रकमल को हरि की कुछ अरुण दृष्टि द्वारा पुण्डरीक (श्वेत कमल) के समान कर दिया गया ।।29।।

यहाँ कुछ अरुण दृष्टि से अरुण नेत्र-कमल के पुण्डरीकत्व का विरोध दिखायी देने के साथ-साथ, (समकाल) ही शत्रुओं को मार दिया गया, यह तुल्ययोगिता अलङ्कार अथवा (पुण्डरीक के समान इससे) उपमा अलङ्कार व्यक्त होता है ।

इन (उदाहरणों में) औचित्य के द्वारा सम्भाव्यमान (अर्थात् लोक में सम्भव होने से) स्वतः-सम्भवी है ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धो यथा—

त्वत्तः समुद्गतां कीर्ति पूरयन्ति मुनीश्वराः ।
नवपुष्पोपहारेण हिमाद्रेरिव जाह्नवीम् ॥30॥

अत्र मुनीनां कीर्त्तौ जाह्नवीबु[1]द्‌ध्युदयेन विहितनवपुष्पोपहारस्य [17ब]—कीर्त्तिजनकत्वं, ततश्च वस्तुना येपामर्थाधिगममो नास्ति ^ तेपामप्येवमादिवुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्त्तिरिति वस्तु ।

केशग्राहं गृहीतायां त्वया वीरजयश्रियाम् ।
रिपून् कण्ठे नु गृह्णन्ति सत्वरं गिरिकन्दराः ॥31॥

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान्[2] कण्ठे ग्रह्णन्तीति वस्तुना उत्प्रेक्षाव्यक्तिः ।

मानः प्रयाति हृदयान्निःपीडनभयादिव ।
गाढालिङ्गनकामेन त्वया दृष्टेऽङ्गनाजने ॥32॥

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादिकम्[3] ।

कविवक्त्राम्बुजावासा हसन्तीवाम्बुजासनम् ।
जयत्यभिनवाख्यभुवना सा सरस्वती ॥33॥

अत्रोत्प्रेक्षया व्यतिरेकः ।

(5) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थशक्त्युत्थ के उदाहरण) जैसे—

मुनिजन तुमसे उत्पन्न कीर्त्ति को हिमालय से निकली गङ्गा के समान (जानकर) नवीन पुष्पों के उपहार से परिपूर्ण कर देते हैं ॥30॥

यहाँ मुनियों की कीर्त्ति में जाह्नवीविषयक बुद्धि उत्पन्न होने से नवपुष्पों के उपहार-विधान द्वारा कीर्त्ति जनकत्व ध्वनित होता है और तब इस वस्तु से जिन (मुनियों) को अर्थ का ज्ञान नहीं है उनको भी इस प्रकार की (कीर्त्ति के धवलतातिशय के कारण जाह्नवी रूप) बुद्धि को उत्पन्न करके तुम्हारी कीर्त्ति चमत्कार उत्पन्न करती है, यह वस्तु (ध्वनित होती) है ।

---

1. ०द्यु०
2. तथा जयश्रिया विधुरान् रिपून् कन्दराः कण्ठे गृह्णन्ति । (मू. पा. टि.)
3. वस्तु (मू. पा. टि.)

(6) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

तुम्हारे द्वारा (युद्धभूमि में या सुरतभूमि में) केशों में पकड़कर वीरजयश्री को ग्रहण करने पर गिरिकन्दराओं ने शत्रुओं को शीघ्र ही गले में लिपटा लिया ॥31॥

यहाँ (राजा के द्वारा वीरजयश्री के) केशग्रहण के अवलोकन रूप वस्तु से मदनोन्मत्त-सी होकर कन्दराएँ मानो उसकी (राजा की जयश्री से रहित) शत्रुओं के गले में लिपट रही हैं, यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

(7) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य—

गाढ आलिङ्गन की इच्छा वाले तुम्हारे द्वारा अङ्गनाओं को देखे जाने पर (कहीं बीच में पिस न जाऊं इस) दब जाने के भय से मानो (मानिनी का) मान हृदय से निकल रहा है ॥32॥

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार से प्रत्यालिङ्गन आदि वस्तु व्यङ्ग्य है।

(8) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

कवि के मुखकमल में निवास करने वाली वह वाणी (नव-निर्माण में असमर्थ और जड़) कमल पर आसीन ब्रह्मा का मानो उपहास करती हुई, नवीन भुवनों का आरम्भ करने वाली (अलौकिक चमत्कारजनक), उस सरस्वती (वाणी) की जय होती है ॥33॥

यहाँ (हसन्ती इव अम्बुजासनम्) इस उत्प्रेक्षा अलङ्कार से (ब्रह्मा की अपेक्षा कविवाणी उत्कृष्ट है यह) व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्धश्चतुर्षु । यथा—

काऽद्य सौभाग्यसम्पूर्णा पार्वणे[1]न्दोविलासिनी ।

अत्र पूर्वेद्युरन्यनायकासक्त इति वस्तु ।

द्रवीभवति तद्दृष्ट्या सखि मानेऽपि मानसम् ।

अत्र वस्तुना प्रियावलोकनसौभाग्यं धैर्येण सोढुं न शक्यत इत्युत्प्रेक्षा ।

किं रोदिषि हृतं गव्यं वीक्षमाणा[2] गृहाङ्गणम् ।
एवं प्रसृतवस्तूना त्राता देवो जनार्दनः ॥34॥

---

1. नायकस्य तव (मू. पा. टि.)
2. वीक्ष्यमाणा

[18अ] अत्र हृतमिति रोदिपीति हेत्वलङ्कारेण एवं प्रसृतवस्तूनामिति गव्यहरणदुःखं तव नास्तीति वस्तुव्यङ्ग्यम् ।

बहुबालागणाकीर्णे हृदयेऽलब्धगतिस्तव ।
तनूकरोति तन्वङ्गी तन्वीमपि तनूं सदा ।।35।।

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्त्तते इति विशेषोक्तिरित्यलङ्कारेणालङ्कारव्यक्तिः ।

उक्तो वाक्ये अर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

(9) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

(अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का भेद) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध भी चार प्रकार का होता है, (प्रथम भेद का उदाहरण) जैसे—

पूर्णमासी के चन्द्रमा की (अर्थात् तुम्हारी) आज सौभाग्य से सम्पूर्ण रमणी कौन है ?

यहाँ गत दिवस नायक अन्य (रमणी) में आसक्त था, यह वस्तु व्यक्त होती है ।

(10) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

हे सखि ! उस (नायक की) दृष्टि से मान में भी मेरा मानस द्रवीभूत हो जाता है ।

यहाँ वस्तु द्वारा प्रियतम के दर्शन से प्राप्त सौभाग्य को धैर्य से सहन नहीं किया जा सकता है, यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

(11) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य—

गृह के आंगन में छीने जाने पर फैले हुए गव्य (दूध, दही) को देखकर क्यों रोती हो । इस प्रकार फैली हुई वस्तुओं के रक्षक देव जनार्दन (श्रीकृष्ण) हैं ।।34।।

यहाँ "फैल गया, इसलिये रोती हो" इस हेत्वलङ्कार से "इस प्रकार फैली हुई वस्तुओं का (त्राता)" आदि शब्दों से, "तुम्हें गव्यहरण का दुःख नहीं है" यह वस्तु व्यङ्ग्य है ।

(12) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

अनेक बाला-समूह से व्याप्त तुम्हारे हृदय में स्थान प्राप्त नहीं करने पर तन्वंगी सदा दुर्बल शरीर को और भी कृश कर रही है ।।35।।

यहाँ हेत्वलङ्कार से शरीर को कृश करने पर भी तुम्हारे हृदय में नहीं रह पाती (इस प्रकार कारण होने पर भी कार्य न होने से) विशेषोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य है, अतः अलङ्कार से अलङ्कार व्यक्त हो रहा है।

वाक्य में अर्थशक्त्युत्थध्वनि को कहा जा चुका है।

पदेऽप्येवम् ॥ सू.42 ॥

वाक्यवत्पदेऽपि[1]।

तत्र वस्तुना वस्तुव्यक्तिः पदे यथा—

दरविकसित[2]कैरवकुलपरिमलपरिवासितेन।
तोयेन अधुनैव कृतस्नानाक्लान्तास्यऽधुनैव तच्चित्रम् ॥36॥

अत्र कृतपरपुरुषपरिचया स्नातासीति वस्तुना वस्तु अधुनापदद्योत्यम्।

[3]तदऽप्राप्तिमहादुःखविलीनाऽशेषपातका
तच्चिन्ताविमलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
चिन्तयन्ती जगद्योनिं परब्रह्म[4]स्वरूपिणं
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्यागोपकन्यका ॥37॥

अत्र अशेषचयद्योत्येऽतिशयोक्ती।

वारुणीं सेवमानस्य भर्त्तुर्विव्वोकहेलया।
[18ब] अनुभूतवती सर्वं पद्मिन्या सह भामिनी ॥38॥

अत्र सहोक्तया सर्वपदद्योत्यं वस्तु।

एवमन्येऽप्यूह्याः।

पदद्योत्य अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद—

इसी प्रकार (अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि वाक्य के अतिरिक्त) पद में भी होती है ॥सू.42॥

वाक्य के समान अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के 12 भेद पद में भी होते हैं।

पदगत वस्तु के द्वारा वस्तु का उदाहरण जैसे—

---

1. द्वादशधेत्यर्थः (मू. पा. टि.)
2. ० शित०
3. भागवतस्य दशमस्कन्धस्योदाहरणमेतत् (मू. पा. टि.)
4. ० व्रह्म ०

थोड़े से खिले हुए श्वेत कुसुमसमूह के परिमल से सुगन्धित जल से अभी ही (तुमने) स्नान किया है, फिर अभी ही तुम थक रही हो, यह आश्चर्यकारी है ।।36।।

यहाँ (श्लोकोक्त अर्थरूप) वस्तु से परपुरुष के साथ सम्भोग करने के कारण तुमने स्नान किया है, यह वस्तु "अधुना" पद से द्योत्य है।

(पदद्योत्य संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण "भागवत" के दशमस्कन्ध का है—)

उन (श्रीकृष्ण) के प्राप्त नहीं होने के महादुःख से जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये और उन (श्रीकृष्ण) के चिन्तन से उत्पन्न निर्मल आह्लाद से जिसके समस्त पुण्यसमूह विनष्ट हो गये। (पाप और पुण्यरूप कर्म समाप्त हो जाने से पुनर्जन्म नहीं रहा अतः) परमब्रह्मस्वरूप जगत् के उत्पादक (भगवान् विष्णु) का ध्यान करती हुई उच्छ्वासरहित (मूच्छित) हो जाने से दूसरी गोपकन्या मुक्ति को प्राप्त हो गई ।।37।।

(यहाँ सहस्रों जन्मों में भोगने योग्य पाप के फल का अनुभव कृष्ण के वियोग के दुःख में तथा पुण्य का अनुभव ध्यान के आनन्द से कर लिया, यह कहा गया है इस प्रकार) यहाँ "अशेष" और "चय" पद से द्योत्य दो अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य हैं।

वारुणी मदिरा (वरुण की दिशा—पश्चिम दिशा) का सेवन करने वाले भर्ता (अथवा अस्तंगामी सूर्य) की विव्वोकहेला (गर्वाभिमान से इष्ट जन के प्रति अनादर की सुव्यक्त शृंङ्गारचेष्टा) के कारण भामिनी ने पद्मिनी के साथ-साथ सब कुछ अनुभव कर लिया ।।38।।

यहाँ सहोक्ति अलंकार से "सर्व" पदद्योत्य वस्तु (व्यङ्ग्य) है।

इसी प्रकार अन्य भेदों के उदाहरण भी जानने चाहिये।

[1]प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः[2] ।। सू.43 ।।

यथा[3]—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले।
कङ्कालब[4]हले [5]घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ।।

1. प्रब ०
2. अर्थशक्त्युत्थो ध्वनिः प्रबंधेऽपि द्वादशधा (मू. पा. टि.)
3. इह तु वस्तुना वस्तुव्यक्तिः । भारतस्योदाहरणम् (मू. पा. टि.)
4. ० ब ०
5. नृमुंडास्थि (मू. पा. टि.)

न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्म्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥39॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरम् ।

आदित्योऽयं स्थितो मूढ़ाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
[1]बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमऽप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्व[2]मविशङ्किताः ॥40॥

इति निशिप्रभवतो गोमायोर्जनव्यावर्त्तनपरं वाक्यं प्रबन्ध[3] एव ।

अर्थशक्त्युत्थ—ध्वनि के प्रबन्धगत बारह भेद—

प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद होते हैं ॥सू.43॥

जैसे महाभारत का उदाहरण है, इसमें वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य है

गिद्धों और सियारों से व्याप्त, कंकाल-अस्थियों से युक्त, बीभत्स तथा समस्त प्राणियों के लिए भयानक इस श्मशान में रुकना व्यर्थ है। मृत्यु धर्म को प्राप्त हुआ व्यक्ति चाहे मित्र हो अथवा शत्रु, पुनः जीवित नहीं होता, सभी प्राणियों की ऐसी ही गति होती है ॥39॥

यहाँ (केवल) दिन में (देखने और मांसभक्षण में) समर्थ गिद्ध का (मृत बालक के सम्बन्धी) पुरुषों को घर लौटे जाने की प्रेरणा देने वाला यह वचन है ।

(रात्रि में देखने में समर्थ शृगाल चाहता है कि ये लोग सूर्यास्त तक बैठे रहें, जिससे गिद्ध के असमर्थ हो जाने पर बालक के मृत शरीर को खा सके । अतः बालक के सम्बन्धियों के प्रति उसका कथन है—)

अरे मूर्खों, यह सूर्य अभी स्थित है, इस समय इसको स्नेह करो, यह मुहूर्त्त अनेक विघ्नों से संयुक्त है, कदाचिद् यह पुनः जीवित हो जाये । स्वर्णसदृश वर्ण वाले और यौवन को प्राप्त न हुए इस बालक को गृध्र के कथन से हे मूर्खों, तुम निःशंक होकर किस प्रकार छोड़कर जा रहे हो ? ॥40॥

---

1. वहु०
2. त्यक्षध्व०
3. ग्रन्थगौरवभयात्तु एकादशान्ये भेदा न प्रपञ्चिता इति ध्येयम् (मू. पा. टि.)

रात्रि में सामर्थ्ययुक्त श्रृगाल का लोगों को रोकने के लिए यह वचन है। यह प्रबन्ध में ही है। (ग्रन्थ-गौरव के भय से अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के प्रबन्धगत अन्य एकादश भेदों के उदाहरण यहाँ नहीं दिये गये हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए।)

भेदास्तदेकपंचाशत्तेषामन्येऽपि कल्पिताः ।
अतीव नोपयुज्यन्त इत्युद्देशे न दर्शिताः ।।सू. 44।।

लक्षणामूलस्य चत्वारो भेदाः, असंलक्ष्यक्रमो रसादिः स च पदैकदेशादिभेदात् षड्भेदाः, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इति भेदद्वयं भेदद्वयात्मा शब्दशक्तिजः, अर्थशक्त्युत्थस्य द्वादशभेदानां पदवाक्यप्रबंधगतत्वेन षट्त्रिंशद्भेदाः, उभयशक्त्युत्थस्त्वेक[1] एव। यथा मूलग्रन्थे—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
[19 अ] तारकातरला श्यामा[2] सानन्दं न करोति कम् ।। 41 ।।

इति एकपंचाशद्भेदाः ।

एतेषामन्योन्ययोजने गुणने चैकाधिकषट्शतोत्तरसहस्रद्वयं भेदाः। तेषां च सङ्करसृष्टिभ्यां[3] गुणने चतुरुत्तरतावस्थताधिकदिक्सहस्र[4]भेदा भवन्ति ।। सू. 45 ।।

संशयाऽङ्गाऽङ्गिभावैकव्यञ्जकानुप्रवेशरूपस्त्रिविधः सङ्करः। प्रकारत्रयभिन्नप्रकारसंयोगः संसृष्टिः । तदेदन्नातीवोपयुक्तमित्यत्र नोक्तं व्याख्यातमन्यत् ।

ध्वनि के इक्यावन भेद—

इस प्रकार (ध्वनिकाव्य के) इक्यावन भेद होते हैं। (इन भेदो को एक-दूसरे के साथ मिलने पर) अन्य भी भेद हो सकते हैं, परन्तु बहुत अधिक (भेद) का उपयोग नहीं है इस कारण से उनको यहाँ दिखाया नहीं गया ।। सू. 44 ।।

ध्वनिभेद में लक्षणामूला ध्वनि के चार भेद (1) वाक्यगत अर्थान्तरसंक्र-

---

1. तस्य वाक्यमात्रनिष्ठत्वात् परिवृत्तिसहनासहनत्वेन पदस्य तदयोग्यत्वात् (मू. पा. टि.)

2. श्यामा स्त्री रात्रिश्च (मू. पा. टि.)
3. संङ्करसृष्ट्योश्चतुर्भेदास्तैर्गुणिते (मू. पा. टि.)
4. 10 404 (मू. पा. टि.)

मित वाच्य, (2) पदगत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य, (3) वाक्यगत अत्यन्ततिर-स्कृत वाच्य और (4)पदगत अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य) होते हैं। और वह असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि पदैकदेश आदि [(1) पदैकदेश,](2) पद,(3) वाक्य, (4) प्रबन्ध, (5) वर्ण और (6) रचना] भेद से छह प्रकार की हो जाती है। अर्थान्तर संक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—ये दो भेद हैं।[1] (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में) शब्दशक्त्युत्थध्वनि दो प्रकार की (वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि)है। अर्थशक्त्युत्थध्वनि के((1) स्वतःसम्भवी के 4 भेद (2) कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध के 4 भेद और (3) कविकल्पितवक्त्रोक्तिसिद्ध के 4 भेद, इस प्रकार) इन बारह भेदों के ही 12 पदगत, 12 वाक्यगत और 12 प्रबन्धगत भेद होने से अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के छत्तीस भेद हो जाते हैं। उभयशक्त्युत्थ ध्वनि का(वाक्य-मात्र निष्ठ होने से तथा परिवृत्तिसहन) शब्द का शब्द से परिवर्तन (में असमर्थ होने के कारण पद के उसके योग्य नहीं होने से उसका)एक ही भेद है। उदाहरण जैसे मूलग्रन्थ (काव्यप्रकाश) में दिया गया है—

उभयशक्त्युत्थ का उदाहरण—

(रात्रिपक्ष में) चमकते हुए चन्द्रमा से विभूषित, (नायिका पक्ष में) उज्ज्वल चन्द्र के आकारवाले सिर के आभूषण को धारण करने वाली, (रात्रिपक्ष में) चमकते हुए तारों वाली (नायिका पक्ष में) चञ्चल आँख की पुतली वाली, काम-देव को उद्दीप्त करने वाली श्यामा (रात्रि और नायिका) किसको आनन्दित नहीं करती ? ॥ 41 ॥

(यहाँ रात्रि के समान उक्त विशेषणों से विशिष्ट नायिका, यह उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है।)

इस प्रकार ध्वनि के इक्यावन भेद हैं।

इन शुद्ध 51 भेदों को एक दूसरे के साथ मिलने पर (51 से 51 को)गुणा करने पर 2601 भेद हो जाते हैं। और इन (2601 भेदों को संकर और संसृष्टि के 1. सन्देह संकर, 2. अङ्गाङ्गिभाव संकर, 3. एकाश्रयानुप्रवेश संकर और

---

1. लक्षणामूलाध्वनि के 4 भेद में ही अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य भेद आ जाते हैं। परन्तु यहाँ पुनः उल्लेख किया गया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता। अन्य काव्यशास्त्रकारों ने शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के पदगत व वाक्यगत दो भेद माने हैं, जिनका उल्लेख "काव्यालोक" में नहीं किया गया।

4. संसृष्टि, ये चार भेद हैं इनको) चार से गुणा करने पर(2601 × 4 = 10404 भेद होते हैं ॥ सू. 45 ॥

(1) संशययुक्त होने पर (संकर सन्देह,) अंगांगिभाव संकर और (3) एक व्यञ्जक में अनुप्रवेश होने से (एकाश्रयानुप्रवेश संकर), इस प्रकार तीन प्रकार के संकर हैं। इन तीनों प्रकारों से भिन्न प्रकार का संयोग (निरपेक्षरूप में स्थिति) संसृष्टि है। उसका यहाँ अत्यन्त उपयोग नहीं होने से नहीं कहा गया है, उसकी व्याख्या अन्य स्थल पर (सप्तम प्रकाश में) की गयी है।

अगूढगूढवाच्याङ्गाऽपराङ्गाऽसुन्दराः क्रमात्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तं ध्वनेः क्रमः ॥ सू. 46 ॥

असहृदयैरपि[1] झटिति वेद्यत्वेन अगूढम्। सहृदयैरप्यवेद्यतया गूढम्। अन्यजन्यचमत्कारोपयोगिचमत्कारजननेन वाच्याङ्गम्। रसादेर्वाक्यार्थस्याङ्ग अपराङ्गम्। वाच्यालपचमत्कारि असुन्दरम्। सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यं [काक्वाक्षिप्तं च]। ध्वनिविकारेण च प्रकाशितो ध्वनेर्मुख्यस्यैव क्रमः प्रकारान्तरं गुणध्वनिरष्टवेत्यर्थः।

तत्र अगूढं यथा—

उन्निद्रकोकनदतां वहति प्रभाते
चुम्बन्नयं गगनमञ्चति चण्डरश्मिः।
पश्यामि सम्प्रति भवामि न वा भवामि
[19ब] जानासि कस्य चरितेन[^]वदाशु पान्थ ॥ 42 ॥

अत्र उन्निद्रितेत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं, चुम्बन्नित्यत्यन्ततिरस्कृतवाच्यं, कस्यापीत्यर्थशक्तिमूलं, एवं भवामि न भवामीति पदयोर्व्यङ्ग्यमगूढमेव।

गुणीभूतध्वनि काव्य—

ध्वनि के क्रम में (गुणध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप मध्यम काव्य के आठ भेद बतलाये गये हैं–) (1) अगूढ, (2) गूढ, (3) वाच्याङ्ग, (4) अपराङ्ग, (5) असुन्दर, (6) सन्दिग्ध प्राधान्य, (7) तुल्यप्राधान्य और (8) काक्वाक्षिप्त ॥ सू. 46 ॥

---

1. वैयाकरणनैयायिका [दि] भिरपि (मू. पा. टि.)

असहृदयजनों (वैयाकरणनैयायिक आदि) के द्वारा भी शीघ्र ही समझा जाने वाला अगूढ व्यङ्ग्य होता है। सहृदय व्यक्तियों द्वारा ही वेद्य (प्रतीति योग्य) न होने के कारण गूढ़ व्यङ्ग्य होता है। अन्य द्वारा उत्पन्न हुए (व्यङ्ग्य अर्थ से वाच्यार्थ के) चमत्कार में उपयोगी (अतः व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के) चमत्कार का जनक होने से इसे वाच्याङ्ग व्यङ्ग्य कहते हैं। रसादि व्यङ्ग्य वाक्यार्थ का अंग होने पर अपराङ्ग व्यङ्ग्य होता है। वाक्य (से व्यङ्ग्य) के अल्प चमत्कार युक्त होने पर असुन्दर व्यङ्ग्य होता है। (व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है अथवा वाच्यार्थ, यह सन्देह होने पर) सन्दिग्धप्राधान्य होता है। (व्यङ्ग्य और वाच्य का समान ही प्राधान्य होने पर) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य होता है। और (काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य) काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य होता है। ध्वनिविकार से प्रकाशित मुख्य ध्वनि का ही यह क्रम है। इसका अन्य प्रकार गुणध्वनि आठ प्रकार की है, यह अभिप्राय है।

(1) अगूढ़ व्यङ्ग्य (का उदाहरण) जैसे—

प्रभात में खिले हुए लाल कमल के रूप को धारण करने वाला यह तीक्ष्ण-रश्मि (सूर्य) गगन का चुम्बन करता हुआ जा रहा है। हे पथिक ! शीघ्र कहो, क्या तुम जानतो हो कि किसके व्यवहार (कार्य) से यह मैं अभी तो हूँ परन्तु अब रहती हूँ अथवा नहीं रहती ? ॥ 42 ॥

यहाँ "उन्निद्रित" यह पद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, "चुम्बन" यह पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, "कस्य" यह पद अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, इसी प्रकार "भवामि न भवामि" इन पदों का व्यङ्ग्य अगूढ ही है (और गुणीभूत ध्वनि का उदाहरण है)।

दृष्टोऽसि यैरदृष्टोऽप्यथवा भूलोकतिलक[1] भवान् ।
सममुभयोरपि दुःखं सुखं न जानीहि नियमेन ॥ 43 ॥

अत्र अदृष्टौ सुखं गूढम् ।

वाच्याङ्गं यथा—

घनाहिजं विषं[2] वालां सम्मूर्च्छयति नित्यशः ।
अत्र वाच्यस्य अहेः सिद्धौ हालाहलं व्यङ्ग्यमङ्गम् ।

---

1. हे (मू. पा. टि,)
2. जलं हालाहलं च विषम् (मू. पा. टि.)

अपराङ्गं यथा—

अयं स रशनो[1]त्कर्षी नीवीविस्रंसनः करः ।

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ।
इत्थं भावाद्यूह्यं उदाहरन्ति च—

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वरा[2]ऽहं कुमारी ।
हस्तालम्वं वितर हहहा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ[3] भवद्विद्विपोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित् फलकिस[4]लयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ 44 ॥

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिक्षमदैन्यविवो[5]धौत्सुक्यानां पूर्वपूर्वोपमर्दनेन श[6]वलता राजनिष्ठ[7]भावस्याङ्गम् ।

(2) गूढ़ व्यङ्ग्य का उदाहरण—

हे पृथ्वीपालक ! जो लोग आपका दर्शन करते हैं अथवा जो आपका दर्शन नहीं करते, उन दोनों को ही, यह जान लो कि समान रूप से दुःख और सुख नियम से प्राप्त होते हैं । 43 ॥

यहां आपके "अदृष्ट" होने पर सुख है, यह व्यङ्ग्य अर्थ गूढ़ है ।

(3) वाच्याङ्ग का उदाहरण—

मेघरूपी सर्प से उत्पन्न विप (जल और हलाहल विप) बालिका (नायिका) को नित्य ही मूर्च्छित कर देता है ।

यहां हलाहल (विप) व्यङ्ग्य है जो सर्परूप वाच्यार्थ की सिद्धि में उसका अंग रूप है (अतः वाच्याङ्ग व्यङ्ग्य का उदाहरण है) ।

---

1. रसनो.
2. उत्तालिः (मू. पा. टि)
3. हे (मू. पा. टि.)
4. किशल ०
5. ०विरोधौ ०
6. शव०
7. ०ष्टभा ०

4 अपराङ्ग व्यङ्ग्य का उदाहरण—

अपराङ्ग व्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण जैसे—

यह वही (मेरी रशना) करधनी को खींचने वाला, (नाड़े) को खोलने वाला (मेरे पति का) हाथ है ।

यहाँ शृङ्गार रस करुण रस का अंग है ।

इसी प्रकार भाव आदि के (अंग रूप होने पर भी अपराङ्ग व्यङ्ग्य) होता है । (भावशवलता के भावाङ्ग होने पर अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का) उदाहरण है—

(शत्रु-कन्या की बातों का वर्णन करते हुए कवि राजा से कह रहा है—)

(कामुक पुरुष कन्या को पकड़ता है तो कन्या मना करती हुई कहती है) कोई देख ले, तो । (शङ्का)

(फिर भी वह समीप जाता है तो वह कहती है) अरे चपल हट जा । (रागानुविद्ध असूया)

(कहीं निराश होकर कामुक चला न जाये अतः कहती है) क्या शीघ्रता है ? (धृति)

(पुनः स्मरण आता है कि यह प्रेमव्यापार अनुचित है क्योंकि) मैं कुमारी हूँ । (स्मृति)

(कामावेश में परवश होकर कहती है) हाथ का सहारा दो ।

(श्रम)

(आत्मसमर्पण कर देने पर) ह ह हा । (दैन्य)

(कुमारी कन्या का यह आचरण) मर्यादा का अतिक्रमण है ।

(विवोध)

(कामुक निराश होकर जाने लगता है तो) तुम कहाँ जाते हो ?

(औत्सुक्य)

हे पृथ्वी के स्वामि राजन् ! जंगल में वास करने वाले आपके शत्रु की कन्या कुछ फल और किसलयों को तोड़ती हुई किसी (कामुक) से इसप्रकार कहती है ॥44॥

यहाँ शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विवोध, औत्सुक्य—इन आठ भावों की पूर्वपूर्वोपमर्दन से शबलता है (और वह कविनिष्ठ स्तूयमान) राजविषयक (रतिरूप) भाव का अङ्ग है ।

असुन्दरो यथा—

एसो अपुव्व कुंजं उग्रइ मिअंको त्ति सुणिऊरण ।
[20अ] वहुए गुरुअण ʌ मज्झद्धि आइ अंगाइ सीअंति ।।[1]45।।

अत्र सीदन्तीति व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यं चमत्कारि । दत्तसङ्केतः सङ्केतभवने प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यम् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

व्यापारयामास दृशां सहस्रं प्रियानने यन्नयनद्वयेन ।
न तद्विचित्रं कमनीयतायामस्यंनिसर्गः समुदेति भावः ।।46।।

अत्र विलोचनव्यापारणं वाच्य प्रधानं प्रतीयमानं परिचुम्बनं[2] वा प्रधानं इति सन्देहः ।

5. असुन्दर व्यङ्ग्य का उदाहरण—

असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य (का उदाहरण) जैसे—

यह अनुपम चन्द्रमा कुञ्ज में उदित हो रहा है, इस (वचन को) सुनकर गुरुजनों के मध्य स्थित वधू के अङ्ग शिथिल हो रहे हैं ।।45।।

यहाँ व्यङ्ग्य की अपेक्षा (वहू के अंग) शिथिल हो गये, यह वाच्य चमत्कार-युक्त है । (लताकुञ्ज में मिलने का समय निश्चित किया था) इस प्रकार का दत्तसङ्केत (प्रेमी) सङ्केत-भवन में प्रविष्ट हो गया, यह अर्थ यहाँ व्यङ्ग्य है ।

6. सन्दिग्धप्राधान्य व्यङ्ग्य का उदाहरण—

सन्दिग्ध प्राधान्य (गुणीभूत व्यङ्ग्य) जैसे—

नायक ने प्रिया के मुख पर जो नयनयुगल के द्वारा सहस्र आँखें लगा दीं वह विचित्र नहीं है । सुन्दरता के प्रति यह भाव निसर्गतः ही उत्पन्न होता है ।।46।।

---

1. एषोऽपूर्वो मृगाङ्कः कुञ्जे उदतीति श्रुत्वा ।
वध्वा गुरुजनमध्यस्थिताया अङ्गानि सीदन्ति ।। (मू. पा. टि.)

2. ० वनं

यहाँ वाच्यरूप नेत्रों का व्यापार प्रधान है अथवा कुम्बन करना चाहते थे, यह प्रतीयमान व्यङ्ग्य प्रधान है, यह सन्देहास्पद है ।

तुल्यप्राधान्यं यथा प्राचाम्—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥47॥

अत्र परशुरामोरक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् ।

काक्वाक्षिप्तं यथा—

पादारविन्दयुगलं न वहामि मूर्द्ध्ना
न प्रीतिमन्तरङ्गतां प्रकटीकरोमि ।
चाटूनि नो विरचयामि पुरः सखीनां
मानं तनोतु भवती गुणगौरवेन ॥48॥

अत्र पादरविन्दयुगलंमूर्द्ध्ना वहाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम् ।

7. तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण—

तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य प्राचीन (काव्यप्रकाशकार द्वारा उद्धृत "महावीर-चरित" नाटक के द्वितीयाङ्क का उदाहरण) जैसे—

(परशुराम ने रावण को लक्ष्यकर उसके मंत्री माल्यावान् को सन्देश भेजा है—)ब्राह्मण के अपमान का त्याग करना आपके कल्याण के लिए ही है । इस प्रकार करने से जामदग्न्य (परशुराम) मित्र रहेंगे अन्यथा वे नाराज हो जायेंगे ।

यहाँ परशुराम समस्त राक्षसकुल का नाश कर देंगे, यह व्यङ्ग्य तथा वाच्य (नाराज हो जायेंगें) इन दोनों का समान ही प्राधान्य होने से (तुल्यप्राधान्य गुणीभूत व्यङ्ग्य है) ॥47॥

8. काक्वाक्षिप्त का उदाहरण—

मैं चरण-कमल-युगल को मस्तक पर धारण नहीं करूंगा, अन्तरंगता प्रीति को प्रकट नहीं करूंगा, सखियों के समक्ष चाटुकारिता के वचन नहीं कहूंगा— आप तो गुणों की गुरुता के कारण मान कीजिए ॥47॥

यहाँ "चरण-कमलों को मस्तक पर अवश्य धारण करूंगा" यह व्यङ्ग्य (काकु से आक्षिप्त होने के कारण) वाच्य-निषेध के साथ-साथ ही स्थित होता है।

इत्यं ध्वनिर्गुणीभूतः समासादिह दर्शितः।
[20ब] काव्यस्य भेदसंसिद्ध्यै चित्रं तदङ्ग A योः पृथक् ।।सू.47।।

ध्वनिकृतः काव्यभेद इत्यर्थः। एतद्भेदद्वयातिरिक्तं चित्रं तदपि काव्यमेव। किन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभासानां ब्रह्मेश्वरजीवानामानन्द-तारतम्येन नाहं ब्रह्मेत्यागोपालमपलाप्यमानो ब्रह्मभावः परेशयोः पार्थक्येन जीवे वाच्यायमानो वस्तुदृशा न ब्रह्मेति कथञ्चिन्मन्तव्यः, न त्ववस्तुदृशा। अपितु मुख्यगुणभावेन प्रतीयमानार्थतया तयोरेवास्तु काव्यत्वम्। न तु काव्यशरीरसिद्ध्या चित्रं न काव्यमिति वक्तुमुचितम्। पृथक्त्वं[1] तूत्तमानुत्तमत्वद्योतकं भेदे तु गुणभाव एव कारणमित्यलं वेदान्तकटाक्षितेन। सचेतनशरीरेण व्यवहारो यथा भवेत् ध्वनियुक्तेन काव्येन तथाह्लादः प्रवर्त्तता, सचेतनेन स्फूर्त्तिमतां यो हि चमत्कारः स च ध्वन्यात्मेति स्पष्टम्।

इति श्री. काव्यालोके ध्वनिनिरूपणं नाम द्वितीयः प्रकाशः ।।2।।

इस प्रकार गुणीभूतध्वनि काव्य (गुणीभूतव्यङ्ग्य या मध्यम काव्य) संक्षेप में यहाँ कहा गया है। काव्य के (तीन) भेदों की दृष्टि से इन दोनों (ध्वनि काव्य और गुणीभूतव्वनिकाव्य) से भिन्न (तीसरा काव्यभेद) चित्रकाव्य है ।।सू.47।।

काव्यभेद से अभिप्राय है—ध्वनि के द्वारा किये गये भेद अथवा ध्वनिकार आनन्दवर्धनसम्मत काव्यभेद। (1. ध्वनि काव्य और 2. गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य) इन दोनों भेदों के अतिरिक्त चित्रकाव्य है, काव्य वह भी है। किन्तु बिम्ब-प्रति-बिम्ब से भासित होने वाले ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव का आनन्द के तारतम्य से "मैं ब्रह्म हूँ," ऐसा गोपाल-पर्यन्त (आगोपालम्) अर्थात् सामान्यजनों तक व्याप्त रहने वाला ब्रह्मभाव है। यह ब्रह्मभाव ब्रह्म और ईश्वर के पार्थक्य से जीव में वाच्य बनाया जाता है, अतः वस्तुदृष्टि से वह (जीव) ब्रह्म नहीं है—ऐसा मानना चाहिए, अवस्तु दृष्टि से नहीं। अपितु (जिस प्रकार आनन्द की मुख्यता और गौणता के कारण ब्रह्म के दो भेद हो जाते हैं—ब्रह्म और ईश्वर उसी प्रकार)

---

1. ० क्यदं

ध्वनि के (ध्वनि-काव्य में) मुख्यरूप से और (गुणीभूतकाव्य में) गुणभाव से प्रतीत होने के कारण उन दोनों भेदों में ही काव्यत्व रहता है। काव्यशरीर (शब्दार्थ) की सिद्धि चित्र काव्य में भी होती है, अतः चित्र काव्य नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है। दोनों प्रकार का जो पृथक्त्व है वह उनकी उत्तमता और अनुत्तमता का द्योतक है। इनके भेद या पृथक्त्व में केवल ध्वनि का गुणभाव ही कारण है। वेदान्त[1] दृष्टि इतना ही प्रतिपादन पर्याप्त है। सचेतन शरीर से जिस प्रकार व्यवहार किया जाता है, ध्वनि युक्त काव्य से उसी प्रकार आह्लाद का प्रवर्तन होना चाहिए। सचेतन और स्फूर्तिमय (शब्दार्थ) से जो चमत्कार प्रकट होता है, वही ध्वन्यात्मा है, यह स्पष्ट है।

(हरिप्रसाद विरचित) "काव्यालोक" का "ध्वनिनिरूपण" नामक द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥2॥ 

---

1. वेदान्तसार के अनुसार—द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते।
   पारमार्थिकसत्ता—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्—आनन्दप्रधान सर्वोपाधि-विवर्जित—ब्रह्म (पर ब्रह्म)
   व्यावहारिक सत्ता—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट—सोपाधिक (आनन्द-गौण)–ईश्वर (अपर ब्रह्म)
   प्रातिभासिक सत्ता–मलिनसत्वप्रधान अविद्योपहित–आनन्दांश बाधित-जीव
   इसी प्रकार—
   काव्य = ब्रह्म
   ध्वनि = आनन्द–निर्गुण–उत्तम
   गुणीभूतव्यङ्ग्य = उपहित सगुण आनन्द—मध्यम
   वाच्यप्रधान = मलिनसत्त्वोपहित आनन्द–अधम

तृतीयः प्रकाशः

रसविलासप्रकाशः

आद्यो रसादिरित्युक्तं रसस्तत्र प्रपञ्च्यते ।।सू. 48।।

ध्वनिप्रस्तावे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन रसस्योपक्षेपः कृतः। तत्र ध्वनित्वेनोक्तस्यैव रसस्य विविच्य लक्षणं क्रियत इत्यर्थः।

समूहाऽऽलम्बनावृत्तिस्फूर्तिश्चित्समवायिनी ।।सू. 49।।

[21अ] समूहो विभावानुभावादीनां, तदाल ^ म्बनावृत्तिस्थायीभावश्चित्समवायित्वेन तत् स्फूर्तिः प्रकाशो रसः वृत्तौ चित्स्फूर्तिर्वा।

अयं भावः रसस्तावत् काव्ये नाट्ये कविना नटेन च भावनया समर्पितैरलौकिकविभावा[1]नुभाव[2]व्यभिचारि[3]शब्दितैः कारणकार्यसहकारिभिः[4] सम्भूयालौकिकव्यापारेणाऽतिवर्त्तिता[5]ऽऽवरणेन[6] व्यक्तिविषयीकृतश्चर्वणया विगलितात्मग्रहेण[7] प्रमात्रानुभूयमानः[8] प्राग्वासनारूपरत्याद्यात्माभग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि स्थायीति यावत्। विभावादिचर्वणापुरस्कृतस्याप्युपस्थापितस्वरूपानन्दाकारवृत्तौश्चित्तो समुदयात् स्थाय्यवच्छिन्नत्वेन भग्नावरणा चिदेव वा रसः।

---

1. शकुन्तलाचन्द्रोदयादयः (मू. पा. टि.)
2. अश्रुपातादयः (मू. पा. टि.)
3. चिन्तादयः (मू. पा. टि.)
4. विभाव अनुभाव व्यभिचारी (मू. पा. टि.)
5. दूरीकृत (मू. पा. टि.)
6. आनन्दांशावरणाज्ञानम् (मू. पा. टि.)
7. प्रमातृत्वादि निजधर्मः (मू. पा. टि.)
8. स्वप्रकाशतया (मू. पा. टि.)

"आद्यो रसादिः[1]" इत्यादि लिखकर द्वितीय प्रकाश में रस का उल्लेख किया गया है, अब उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है ।।सू. 48।।

(द्वितीय प्रकाश में) ध्वनि का विवेचन करते हुए असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि-भेद के रूप में रस का उल्लेख किया गया है। वहाँ ध्वनित्वेन उक्त रस का ही यहाँ विवेचनपूर्वक लक्षण किया जा रहा है, यह अभिप्राय है।

रस-निरूपण—

1. अभिनवगुप्त का मत—

चित्समवायिनी समूहालम्बनावृत्ति की स्फूर्ति (प्रकाश) रस है। (अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति-स्थायीभाव का विभावादि समूहविषयक और आत्मा—चैतन्य से समवायरूप से सम्बद्ध प्रकाश ही रस है।) ।।सू. 49।।

विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावविषयक (समुदायविषयक) रत्यादि-रूप स्थायीभावात्मक अन्तःकरणवृत्ति की चित्समवायिनी स्फूर्ति (प्रकाश) ही रस है अथवा उस वृत्ति में चित् की स्फूर्ति अर्थात् चित्त का प्रतिबिम्ब ही रस है। ("चित्समवायिनी" शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—(1) जैसे घटपटादि पदार्थ स्वप्रकाश नहीं है, स्वप्रकाश केवल चैतन्य है। परन्तु इन्द्रियरूपी करण के द्वारा घटपटादि पदार्थ से सम्बन्ध होने पर, अन्तःकरण में स्थित आत्मचैतन्य वस्तु को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार स्थायीभाव स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकते, किन्तु विभावादिरूप करण से सम्बन्ध होने पर अन्तः-करण में स्थित आत्मचैतन्य उनको प्रकाशित करता है। (2) जैसे सामान्य काच में प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, परन्तु जब काच पर वार्निश लगा दी जाती है तो प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार घटपटादि पदार्थ का ज्ञान होता है, घटपटादि स्वप्रकाशित नहीं होने पर भी, जब इन्द्रियरूपी करण के द्वारा अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है अर्थात् अन्तःकरणरूपी शीशे पर इन्द्रिय-करणरूपी वार्निश लगा दी जाती है तो चित् का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण पर पड़ने से घटपटादि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। इसी प्रकार स्थायिभाव स्वप्रकाशित नहीं होने पर भी विभावादिरूप करण की वार्निश लगने पर अन्तःकरण में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही प्रतिबिम्ब रस है।)

अभिप्राय यह है कि स्थायीभाव काव्य में कवि के द्वारा और नाट्य में नट के द्वारा (काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप) भावना से उपस्थापित किये जाने

---

1. आद्यो रसादिः पौढाऽसौ स्पष्टं रूपमुदाहृतौ ।।सू. 32।।

वाले अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव शब्दों से और लोक में कारण, कार्य और सहकारी कारण शब्दों से कहे जाने वाले विभावादि के द्वारा ही मिलकर (मिश्रित रूप में), अज्ञानरूपी आवरण दूर होने पर, उस अलौकिक व्यापार से प्रकाशित (अभिव्यक्त) होता है, (स्थायीभाव को प्रकाशित करने में विभावादि इन्द्रियकरण के समान होते हैं), विभावादि की चर्वणा से जिसका प्रमातृत्वादिनिजधर्म विनष्ट हो जाता है ऐसे प्रमाता के द्वारा (स्वप्रकाशता के कारण) अनुभव किया जाता है, यही पूर्व संस्काररूप में विद्यमान अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो जाने पर चिद्विशिष्ट रूप से अनुभूयमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस है। अथवा विभावादि की चर्वणा के समय, स्थायीभाव के द्वारा उपस्थापित स्वरूपानन्दाकारवृत्ति वाले अन्तःकरण में रस का उदय होता है, अतः स्थायियुक्त भग्नावरण (जिससे अज्ञानरूपी आवरण नष्ट हो गया है—ऐसा) चित् (चैतन्य) ही रस है।

तदाहुस्तातचरणाः—

> व्यक्तया विशिष्टो रत्यादिस्थायी यद्यप्यसौ रसः।
> स्थाय्यवच्छिन्नचैतन्यमनावरणमेव सः॥

तदेतदतिगहनमपि दिङ्मात्रं व्याख्यायते। व्यक्तिरत्र भग्नावरणा चित्, चर्वणायाश्चिद्गतावरणभङ्गरूपत्वात्।

विशिष्टत्वे[1] चिदंशत्वेन नित्यत्वं स्थाय्यंशेनानित्यत्वमित्युभयोरनुद्बुद्धस्वरूपस्य तत्राविरहः स्यात्।

न च [2]तदाकारान्तः[3]करणवृत्तेर्ब्र[4]ह्मास्वादसमाधिसाम्यं शङ्कनीयम्[5]। [21ब] स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दास्यालम्बनत्वेन काव्यैकव्यापार-भाव्यत्वेन चवैलक्षण्यात्।

[6]न चाऽप्रामाण्यशङ्काङ्कुरश्चित्तभूमावारोपणीयः। "सुखमात्य-

1. विशेषणं विशेष्यं वा (मू. पा. टि.)
2. स्थाय्युपस्थापितस्वरूपानन्दाकारवृत्तेः (मू. पा. टि.)
3. ० न्तष्क०
4. ० त्र्ं ०
5. येन न दोषपरिहारः स्यादित्यर्थः (मू. पा. टि.)
6. ननु स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दस्य रसत्वे मानमेव नास्तीत्यत आह (मू. पा. टि.)

न्तिकं यत्तदि"ति[1] समाधिसुखभाने शब्दस्यैव, "रसो वै स" इति श्रुतिः सहृदयप्रत्यक्षस्य च तत्र तद्भाने मानात् ।

तदाकारान्तःक[2]रणवृत्तिरूपायाश्चर्वणायाः शब्दव्यापारभाव्यत्वेनापरोक्षानन्दालंब[3]नत्वेन च [शाब्दप्रत्यक्षयोरत्र न] भेद इत्यभिनवगुप्तपादाः ।

इस विपय में तात (पिताजी या गुरु) का कथन है—

यद्यपि भग्नावरणा–चिद्विशिष्ट रत्यादि स्यायिभाव रस है । परन्तु स्थायियुक्त आवरणरहित चैतन्य भी रस होता है । (अभिप्राय यह है कि इसे दो प्रकार से कहा जा सकता है—1. "भग्नावरणाचिद्विशिष्टरत्यादिरेव रसः"—भग्नावरणा चिद्विशिष्ट रत्यादि ही रस है । 2. "रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणाचिदेव रसः"—रत्यादियुक्त भग्नावरणा चित् ही रस है ।)

यह विषय अतिगहन होने पर संकेतरूप में व्याख्या की गई है । "व्यक्ति" शब्द का यहाँ अभिप्राय है भग्नावरण चित् (अज्ञानरूप आवरणरहित चैतन्य), क्योंकि चर्वणा चैतन्यगत (अज्ञान के) आवरण को नष्ट करने वाली होती है ।

विशिष्टत्व[4] में (अर्थात् चित् को चाहे विशेषण माना जाये या विशेष्य) चित् अंश के कारण रस नित्य है, स्थायिभाव के कारण अनित्य है । इस प्रकार दोनों में ही (1. भग्नावरणाचिद्विशिष्ट रत्यादिरेव रसः और 2. रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिदेव रसः, इन दोनों में ही) अनुद्बुद्धस्वरूप का भी ग्रहण होता है–अर्थात् नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों का ही ग्रहण होता है ।

रसास्वाद की अवस्था में (आनन्दाकार अन्तःकरण की वृत्ति है आत्मचैतन्य का अपना स्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप । उस) आनन्दाकारवृत्ति का, ब्रह्मास्वाद-समाधि से अभेद हो जायेगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए । (इस विषय में दो समाधान है—1. ब्रह्मास्वाद में समाधि स्थायिभाव से संवलित नहीं है जबकि)

---

1. सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
2. ० न्तष्क ० 3. ० व ०
4. (1) 'भग्नावरणाचिद्विशिष्ट रत्यादिरेव रसः'–इसमें 'चित्'विशेषण है, "रत्यादि" विशेष्य है ।
   (2) "रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिदेव रसः" यहाँ "रत्यादि" विशेषण और "चित्" विशेष्य है ।

इसी विशेषण –विशेष्य-भाव को विशिष्टत्व प्रकार नाम से कहा जाता है ।

रस-चर्वणा का आलम्बन स्थायिभाव से युक्त (विभावादि सांसारिक पदार्थों से मिश्रित चिदानन्द है।) 2. रसास्वाद में विभावादि के द्वारा जो व्यापार होता है, उस व्यापार से आनन्दमयत्व प्राप्त होता है (जबकि ब्रह्मानन्दास्वाद में यह स्थिति नहीं होती।) अतः रसास्वाद में होने वाले और ब्रह्मास्वाद में होने वाले आनन्द की अनुभूति में भिन्नता होती है।

रसास्वाद में अनुभूत आनन्द में कोई प्रमाण नहीं है, इस प्रकार की शंका का अंकुर भी चित्त में उत्पन्न नहीं होना चाहिये। (इस विषय में दो प्रमाण हैं–) 1. समाधि-अवस्था में आनन्द की अनुभूति होती है, इस विषय में गीता में कथित *'सुखमात्यन्तिकम्'* इत्यादि *शब्द-प्रमाण हैं, उसी प्रकार इस आनन्दानुभूति में 'रसो वै सः'* यह श्रुति-वाक्य प्रमाण है। 2. ब्रह्म का साक्षात्कार केवल ब्रह्मयोगियों को होता है उसी प्रकार) सहृदय-व्यक्तियों को वह (रस) साक्षात् प्रत्यक्ष का विषय है।

आनन्दाकार चित्तवृत्तिरूप चर्वणा (विभावादि के द्वारा अलौकिक व्यापार से भाव्य है अतः) "शब्दव्यापारभाव्य" है और प्रत्यक्ष आनन्द उस चर्वणा का आलम्बन है अतः 'प्रत्यक्षात्मक' है, परन्तु यहाँ शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नहीं होता है। (नैयायिकों के अनुसार शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध होता है। परंतु वेदान्तमत में दशमस्त्वमसि", 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों में वाक्यज-वाक्यों से उत्पन्न बुद्धि ही जीव और ब्रह्म की ऐक्य-प्रतीति है। वहाँ पर जीव और ब्रह्म की ऐक्य-प्रतीतिरूप बुद्धि शब्द से उत्पन्न होने के कारण शाब्दत्व है और प्रत्यक्ष ब्रह्म ही उसका आलम्बन होने के कारण प्रत्यक्षत्व है, इस रूप में वेदान्ती शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नहीं मानते, उसी प्रकार साहित्यिक रसचर्वणा को भी शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व दोनों ही माना जाता है।)

यह उपर्युक्त मत अभिनवगुप्त का है।

भट्टनायकस्तु अभिधया[1] निवेदितानां पदार्थानां[2] भावकत्वव्यापारेण[3] रसानुकूलधर्मपुरस्कारेणोपस्थितिः[4]। इत्थं च साधारणीकृतेषु विभावादिषु तृतीयव्यापारमहिम्ना तथाकृत एव स्थायी भुज्यते।

---

1. अभिधा निरन्तरा सान्तरा च आद्या शक्तिर्द्वितीया लक्षणा (मू. पा. टि.)
2. विभावादीनां साधारणीकरणम् (मू. पा. टि.)
3. अगम्यत्वादि रसविरोधिज्ञानप्रतिबंधेन (मू. पा. टि.)
4. विभावानां कान्तात्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वम्। (मू. पा. टि.)

तत्र भोगः सत्त्वो[1]द्रेकात्प्रकाशमानानन्दसंवित्स्वरूपो लौकिकसु-खानुभवविलक्षणः। तेन विभावादिभिः स्थायिनो रत्यादेर्भोगो रसः इतराभिभवेनावस्थितिरुद्रेकः। "अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव चे" ति काव्यस्य त्रयो व्यापारा इति व्याजहार।

नव्यास्तु साक्षिभास्यालम्ब[2]नादिविषयकः स्थायी रसः।

अत्र हि व्यञ्जनयालंब[3]नविषयान्यव्यापारपरिग्रहे सरसवाहिचित्त वृत्तिभावनाविशेषमहिम्ना कल्पितालम्बनव्यापारतिरोहि-[22अ] तान्यसंस्का Aरे स्वात्मन्युज्जृम्भमाणः[4] सर्वोप्यनिर्वचनीय एव।

एतस्य कार्यत्वं दोषविशेषनाश्यत्वं [च]।
स्वोत्तरकालीनाह्लादविशेषेणाभेदात्सुखवाच्यत्वम्।

स्वप्राक्कालीनरत्यादिना तदग्रहाद् व्यङ्ग्यत्वं वर्णनीयत्वं च भवति।
[5]अवच्छादकम[6]प्यनिर्वचनीयमेवेति।

2. भट्टनायक का मत—

भट्टनायक का मत है कि अभिधा के द्वारा उपस्थापित पदार्थों का भावकत्व व्यापार से (शकुन्तलादि के विषय में "अगम्या इयम्" इत्यादि रसविरोधी ज्ञान रोक दिया जाता है और) रसानुकूल विशिष्ट धर्म के साथ (उन शकुन्तलादि पदार्थों की) उपस्थिति होती है। और इस प्रकार भावकत्व व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व या भोगीकृत नामक तृतीय व्यापार से (तथाकृत) साधारणीकृत स्थायिभाव का भोग किया जाता है।

वहाँ (भट्टनायक के मत में) भोग का अर्थ है—सत्त्वगुण का उद्रेक (वृद्धि) होने पर प्रकाशमान (प्रकाशित होने वाला) आनन्दस्वरूप (चैतन्यात्मक) ज्ञान जो लौकिक सुख से विलक्षण होता है। अतः स्पष्ट है कि विभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव का भोग ही रस है। यहाँ "उद्रेक" का आशय है दूसरे (रजोगुण और तमोगुण) को दबाकर सत्त्वगुण की ही प्राधान्येन स्थिति। इस

---

1. सत्वो ०
2. ० व ०
3. ० व ०
4. ० मानः
5. रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम् (मू. पा. टि.)
6. रामादिरूप (मू. पा. टि.)

प्रकार भट्टनायक ने काव्य के तीन व्यापार कहे—1. अभिधा (जिससे काव्यार्थ समझा जाता है), 2. भावना या भावकत्व (जिससे विभावादि का साधारणीकरण होता है) और 3. भोगीकृति या भोजकत्व (जिससे रति आदि स्थायिभावों का रसरूप में भोग किया जाता है)।

3. नव्य-मत—

नव्य (आधुनिक) विद्वानों के मतानुसार साक्षिभास्य आलम्बनादि-विषयक रत्यादि स्थायिभाव ही रस है। ("साक्षिभास्य" पद में "साक्षी" का अर्थ है—"अन्तःकरणोपहित चैतन्य"। "साक्षिभास्य" का अभिप्राय है–केवल आत्मा में भासित होने वाले। अर्थात् वह रत्यादि स्थायिभाव आत्मा में भासित होने वाले हैं। उक्त पंक्ति में द्वितीय पद "आलम्बनादिविषयक" का तात्पर्य है–शकुन्तलादि जो आलम्बन हैं, उन आलम्बनादि के विषयीभूत रत्यादि स्थायिभाव। इस प्रकार केवल आत्मा में भासित होने वाले शकुन्तलादि आबम्लनविषयक जो रत्यादि स्थायिभाव हैं, उन्हें ही रस कहा जाता है।)

यहाँ (काव्य में अथवा नव्यमत में) व्यञ्जनावृत्ति से (दुष्यन्तरूपी धर्मी की) शकुन्तलाविषयक रति का ग्रहण होता है (अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति से "दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्"—यह अर्थ ज्ञात होता है) तब निरन्तर चलने वाली (अथवा बिना विच्छेद के प्रवाहित हो रही) चित्तवृत्ति में (पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप सहृदयत्वरूपी) भावना- विशेष की महिमा से स्वात्मा में कल्पित आलम्बन-व्यापार से अन्य संस्कार तिरोहित हो जाते हैं और स्वात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है (अर्थात् "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" यह बोध होता है)। वहाँ स्वात्मा में उपपद्यमान सभी (विशेष्यांश–दुष्यन्तरूप से स्वात्मा और विशेषणांश—शकुन्तलाविषयक रति, ये दोनों ही) अनिर्वचनीय होते हैं। (अनिर्वचनीय का अभिप्राय है कि इसे न तो सत् कहा जा सकता है, न असत्। सत् तो यह है नहीं और असत् होता तो प्रतीत नहीं होता, परन्तु कल्पित होने पर भी इसका ज्ञान होता है, अतः सत्-असत्ःविलक्षण होने से अनिर्वचनीय कहा जाता है।)

यह रस भावनारूप दोष का कार्य है और विशेषभावनारूप दोष के नष्ट हो जाने पर (रस भी) नष्ट होने वाला है (अर्थात् यावत्कालिक भावनारूप दोष रहता है तभी तक शकुन्तलादि रति की रसरूप में प्रतीति होती है)।

(ख) रस के पश्चात् उत्पन्न होने वाले आलौकिक आह्लाद से इसे (रस को) अभिन्न समझा जाता है अतः रस को "सुखरूप" कहा जाता है। (अर्थात् "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस रस-प्रतीति के पश्चात् ही अलौकिक

आह्लाद उत्पन्न होता है, अतः रस और अलौकिक आह्लाद में भेद होने पर भी इनका भेद ज्ञात नहीं होता, अतएव उन दोनों को अभिन्न स्वीकार करके रस को सुखरूप कहा जाता है।)

(रस को व्यङ्ग्य और वर्णनीय क्यों कहा जाता है, इस विषय पर विवेचन किया गया है कि) रस (स्व) के पूर्व व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञात शकुन्तलादि रति ("दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्") और भावनाविशेष से उत्पन्न रसरूप शकुन्तलाविषयक कल्पित रस ("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयक रतिमान्") में भेद ज्ञात नहीं होता, अतः रस को भी व्यङ्ग्य और वर्णनीय कहा जाता है।

अवच्छादकत्व भी अनिर्वचनीय ही होता है। (अवच्छादकत्व का अभिप्राय है—स्वात्मा का दुष्यन्तत्वरूप से आच्छादित होना। अर्थात् "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस प्रतीति में जिस प्रकार सहृदय की स्वात्मा में उत्पन्न होने वाली शकुन्तलाविषयक रति तो अनिर्वचनीय है ही, उसी प्रकार सहृदयों की स्वात्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय ही कहा जाता है।

अत्राहुः काव्ये कविसमर्पितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण नाट्ये नटस्य भावकत्वव्यापारेण च तेष्वेव[1] तत्तत्तादात्म्यावगाही[2] बोधः[3] समुत्पद्यते। स च स्वोत्तरकालीनाह्लादेनाभेदोपचारात्सुखात्मेति।

तत्र दुष्यन्तशकुन्तलादितादात्म्यापन्नान्तः[4]करणवृत्तौ तत्तत्स्थाय्यवगाही वोधप्रतिविंवस्तदात्मकोऽ[5]पि नासौ रसः श्रुतावभेदप्रत्ययेन रसव्युत्पत्तेः। न च तत्रानिर्वचनीयगंधोऽपि।

तथाहि अनिर्वचनीयत्वं[6] नाम अज्ञानावच्छिन्नशुक्तिकाशकले रजतखण्डभानमिव भासमानत्वं दोषविशेषस्य महिम्ना। पीतः शंखस्तिक्तोगुड इत्यत्रापि[7] भावनाविशेषरूपदोषेण कल्पिततिक्तत्वादिवत् कल्पि-

---

1. विभावादिष्वेव (मू. पा. टि.)
2. दुष्यन्तशकुन्तलादि तादात्म्यावगाही (मू. पा. टि.)
3. वोधः
4. ०न्तष्क०
5. स्थाय्यात्मा (मू. पा. टि.)
6. आरोप्यारोपकांक्षा*भिप्रायेणाह (मू. पा. टि.)
   * शा ०
7. उभयत्र युक्त्यैक्यं संभावयन्नाह (मू. पा. टि.)

तालंवन[1]भानावच्छिन्ने स्वात्मनि शुक्तिकाशकलकल्पे साक्षिभास्यालंव[2]नादिविपयकः स्थायी रजतखण्ड इव कल्प्येत[3] यदि[4] श्रुत्या परामृश्येत। [22व] [5]तत्पदपरामर्शस्य निर्विशेपनिष्ठत्वेन [6]वाधितत्वात्। साक्षिभास्यालम्बनविषयकस्थायित्वस्य तत्त्वाभावेन[7] रसपदव्यपदेश्यत्वाभावात्।

कस्यानिर्वचनीयत्वं रसस्य तद्भावस्य[8] वा। न प्रथमः स्वप्रकाशचैतन्यात्मनस्तदयोगात्। तद्भावस्य चेत् यत्किञ्चिद्भावस्य भावमात्रस्य वा। न प्रथमः[9] रजतसंस्कारनाशे शुक्तिकाशकले पूर्वसंस्कारस्यान्यत्रापि[10] वाधदर्शनेन रसस्य भावनाशेऽप्यनुगमेन[11] व्यभिचारात्। भावमात्रस्य चेत् तुष्यतु[12] भवान्, भावानामनिर्वचनीयत्व-रव्यापनेन तत्पदपरामृष्टस्य शुद्धस्य तु न कथञ्चिदनिर्वचनीयत्वव्यपदेशः।

(नवीन मत की समालोचना की जा रही है—यहाँ नव्य-मत में कहा गया है कि काव्य में कवि के द्वारा उपस्थापित विभावादि में व्यञ्जना-व्यापार से और नाट्य में नट के (अभिनयादि वाहुल्य) भावकत्वव्यापार से उन-उन विभावादि में ही उन-उन दुष्यन्तशकुन्तलादि के साथ तादात्म्यावगाही (एकाकारता) का वोध (प्रतीति) उत्पन्न होता है। (वह वोध ही रस कहा गया है) और वह तादात्म्यावगाही वोध रस के पश्चात्कालिक आह्लाद से अभेद रूप में आरोपित होता है, अतः रस को सुखस्वरूप ही माना जाता है।

(नव्यमत का खण्डन किया जा रहा है—) वहाँ (नव्य मत में) दुष्यन्त-

---

1. ०व० 2. ०व०
3. ०ल्पेत
4. दूपयति (मू. पा. टि.)
5. स्थायितादात्म्येन त्वं पदवदपरोक्षवृत्तेः रसशब्दस्य तत्पदवत्परोक्षवृत्तेः सकारस्य परामर्शकाव्यं येन निर्विशेपप्रत्ययस्य वाक्यार्थघटकत्वेन तादात्म्ये नारोप्य रजतखण्डकल्पस्यापवादन्यायेन वाधितत्वादित्यर्थः (मू. पा. टि.)
6. वा०
7. अवच्छादकभेदन्याभ्युपगमात् रसत्वाभावः (मू. पा. टि.)
8. रसभावस्य (मू. पा. टि.)
9. आरोप्यत्वाभावात् (मू. पा. टि.)
10. गुडनिक्तत्वे (मू. पा. टि.)
11. सामान्यवृत्या रसस्यानुगमः (मू पा. टि.)
12. इष्टसिध्या परिहरति (मू. पा. टि.)

शकुन्तलादि तादात्म्य को प्राप्त (अर्थात् जब सहृदय दुष्यन्त से स्वयं को अभिन्न समझता है, उस प्रतीति से युक्त) अन्तःकरणवृत्ति में उन-उन स्थायिभावों से युक्त बोध का स्वप्रकाशमान चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब है, वह स्थाय्यात्मक होने पर भी रस नहीं है (अर्थात् अन्तःकरण के परिणामविशेष में आत्मचैतन्य के प्रतिबिम्ब को रस नहीं कह सकते।) क्योंकि श्रुति में "रसो वै सः"—"रस तो वही है" इस वाक्यानुसार बिम्ब में रसरूपता आती है, प्रतिबिम्ब में नहीं। और वह बिम्ब (आत्मचैतन्य) तो अनिर्वचनीय नहीं है (वह सत् है, अतः वचनीय है)।

(अनिर्वचनीय किसे कहते हैं, यह स्पष्ट किया जा रहा है—) क्योंकि जैसे दोष–विशेष (भावना-विशेष) की महिमा के कारण, अज्ञान से विषयीकृत सीपी के टुकड़े में रजतखण्ड (चांदी के टुकड़े) का भासित होना ही अनिर्वचनीयता कहा जाता है। "शंख पीला है," "गुड़ तिक्त(कड़वा) है," इन दोनों वाक्यों में भी विशेषभावनारूप दोष के कारण कल्पित (शंखगत पीतत्व और गुड़गत) तिक्तत्वादि होता है (अर्थात् जैसे शंख पीला नहीं होने पर भी परिस्थितिविशेष में व्यक्ति को पीला दिखायी देता है, इसी प्रकार गुड़ मधुर होने पर भी दोष-विशेष के कारण तिक्त प्रतीत होता है, वहाँ शंखगत पीतत्व और गुड़गत तिक्तत्व अनिर्वचनीय ही होता है, क्योंकि न तो वह सत् माना जा सकता है, न ही असत्)। उसी सीपी-खण्ड के समान कल्पित दुष्यन्तत्वादि आलम्बन से अवच्छिन्न (ढंके हुए) स्वात्मा में, रजतखण्ड के समान साक्षिभास्य आलम्बनादिविषयक (शकुन्तलादिविषयक रत्यादि) स्थायिभाव रूप रस को कल्पित ही माना जायेगा, यदि वह श्रुति से परामृष्ट होता। (अर्थात् जैसे सीपीखण्ड में रजतखण्ड को कल्पित या अनिर्वचनीय कहा जायेगा, तद्वत् ही स्वात्मा में शकुन्तलादिविषयक जो रत्यादि स्थायिभाव रस हैं उन्हें भी कल्पित या अनिर्वचनीय तब माना जायेगा, जब श्रुति से उसका परामर्श हो)। श्रुति "रसो वै सः" तत्पद से घटित है (अर्थात् बोध्य अर्थ को "तत्" पद से बोधित किया गया है।)। यह "तत्" पद सजातीय-विजातीय भेद-रहित एक अद्वितीय आत्मचैतन्य–जो निर्विशेष है, उसको बताता है, अतः वचनीय होने से अनिर्वचनीयता बाधित हो गयी। साक्षिभास्य आलम्बन-विषयक स्थायित्व शकुन्तलादिविषयक रत्यादि तत्पद परामृष्ट निर्विशेषत्व नहीं है (रस तो स्वप्रकाशरूप है, चैतन्यरूप है अतः) रस अनिर्वचनीय नहीं है।

(यदि अनिर्वचनीयता मानें तो) अनिर्वचनीयता किसको स्वीकार किया जाये? रस को अथवा उसके(रस के) भाव को। (यदि प्रथम रस का पक्ष माना जाये तो) स्वप्रकाशचैतन्यस्वरूप रस का उस अनिर्वचनीयता के साथ योग नहीं

होता (अर्थात् "रसो वै सः" इसको चैतन्यस्वरूप माना गया है और वह चैतन्य वचनीय है तब रस को अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता) अतएव प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। यदि द्वितीय, उसके भाव को अनिर्वचनीय माना जाय तो यत्किञ्चित् भाव (जिस किसी भाव) को कहेंगे या भावमात्र को। प्रथम (यत्किञ्चित्भाव) को अनिर्वचनीय नहीं कह सकते क्योंकि शुक्तिकाशकल में रजतसंस्कार नष्ट होने पर पूर्व (रजत) संस्कार नहीं होता, इसी प्रकार अन्यत्र गुड़ में तिक्तता का संस्कार नष्ट होने पर तिक्तता नहीं रहती, परन्तु भाव नष्ट होने पर भी रसत्वेन चैतन्य तो रहता ही है अर्थात् चैतन्य में हमेशा रसरूपता, आनन्द-रूपता तो रहती है, अतः व्यभिचार हो गया। यदि भावमात्र को (भाव से भास-मान वस्तु को) अनिर्वचनीय कहना चाहते हो तो कहिये। भाव से उपलक्षित में अनिर्वचनीयता है, पर तत्पद से परामृष्ट शुद्ध (उपलक्षण-रहित) तो किसी प्रकार भी अनिर्वचनीय नहीं हो सकता। ("भावयन्ति इति भावाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मचैतन्य को भावित करते हैं, जिससे उस आत्मचैतन्य की अभि-व्यक्ति होती है, वह भाव है, अथवा अन्तःकरण के परिणाम–विशेष को भाव कहते हैं। अर्थात् आत्मचैतन्य को भावित करने वाले "अहं ब्रह्मास्मि," "सोऽहम्" इत्यादि वाक्य भाव हैं, जो अनिर्वचनीय हैं। आत्मचैतन्य जब प्रतीति का विषय होता है तो उसके प्रत्यायक विषयमात्र भाव हैं। अथवा समाधि-अवस्था में आत्मचैतन्य की भावक अन्तःकरणवृत्ति है, तदात्मकभाव भी अनिर्वचनीय ही है। अनिर्वचनीय का अभिप्राय हुआ—जिसका भान होता है, पीछे विलुप्त हो जाता है। आत्मचैतन्य तभी तक भासित होता है जबतक कोई वृत्ति अर्थात् भाव रहता है, परन्तु जिस स्थिति में आत्मचैतन्य ही रहता है, वहाँ कोई भी उसका द्रष्टा या करण नहीं रहता, उस स्थिति में वह शुद्ध आत्मचैतन्य अनिर्वचनीय नहीं होता है।)

न चैवं साक्षिभास्यालम्बनविषयकरत्यादेर्भानं नात्मनो रसस्येति वाच्यम्। स्वप्रकाशत्वेन प्रदीपस्येव सन्निहितपदार्थप्रकाशनेनानपह्नुत-स्वभानतया साक्षिरूपस्य तस्यैव भानात्। पात्रविशेषसलिलप्रतिफलनता-रतम्येनप्रभाकरस्येवौपाधिकभेदवत् कल्प्यमानस्तत्तत्स्थाय्यवगाहीबोध-प्रतिबिम्बः। पात्रनाशेऽप्यनश्यदनाश्यः अकार्यश्च।

किं च विशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेद [क]त्वस्य तादात्म्यापन्नांतः[1]-करणवृत्तिरूपत्वेन स्थायित्वाध्यवसायात्मना परिणममानस्थायित्व-

1. ० तप्क ०

[23अ] व्यवहारप्रयोजकतास्तु[1]।

चिद्गतावरणभंगरूपचर्वणामात्रशरीरस्त्वनुभवातिरिक्तप्रमाणसोपानस[2]रणिमारोढुमशक्तः।

सोऽयं स्थाय्यवच्छिन्नानावरण चिद्रूपो ब्रह्मानन्द एव रस इत्युच्यते। "रसं ह्येवायं लब्ध्वा[3]ऽऽनन्दीभवती"ति श्रुतेः ब्रह्मानन्दस्यैव रसात्मता। प्रतीतौ स्थाय्यवच्छिन्नत्वस्य कारणत्वे तदवच्छेदकत्वं प्रत्यलौकिककाव्यव्यापारेण भावनया स्वात्मनि समर्पितानामन्यालम्बनादि तादात्म्यापन्नान्तः[4]करणवृत्तिसमवहितवोधप्रतिविंवानां विभावादीनां च सिद्धे सूत्रार्थः संपद्यते।

(नव्यमत के सम्बन्ध में एक अन्य शंका प्रस्तुत करके उसका समाधान किया जा रहा है—) साक्षिभास्य (केवल आत्मा में भासित होने वाले) आलम्बन-विषयक (शकुन्तलादि आलम्बन विषयीभूत) रत्यादि का भान होता है, परन्तु आत्मचैतन्यविषयक रस (रसरूप आत्मा) का भान नहीं होता, इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। जैसे—दीपक जब सन्निहित पदार्थों को प्रकाशित करता है तो वहाँ स्व (प्रदीप) का भान अपह्नुत (छिपा हुआ) नहीं होता (अर्थात् वह प्रकाश दीपक का भी भान है और सन्निहित पदार्थों का भी भान है)। उसी प्रदीप के समान वही साक्षिरूप रसस्वरूप आत्मचैतन्य का भी भान है और वही साक्षिभास्य आलम्बनविषयक रत्यादि का भी भान है। जिस प्रकार पात्र-विशेष (विविध पात्रों) में स्थित जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न दिखाई देता है अर्थात् उसके अवान्तर भेद दृष्टिगोचर होते हैं (वास्तव में सूर्य एक ही होता है परन्तु उसके अवान्तर भेद दिखाई देने से) ये सूर्य के औपाधिक भेद माने जाते हैं। उसी प्रकार उन-उन (विशेष) स्थायिभावों से युक्त होने पर (कल्प्यमान) अन्तःकरण की अवस्था-विशेष से युक्त अन्तःकरण की वृत्ति में उस आत्मचैतन्य का प्रतिविम्ब अवान्तरभेदयुक्त प्रतीत होता है (वास्तव में भेद नहीं है परन्तु जो सूर्य के औपाधिक भेद के समान ही है)। जिस प्रकार विशिष्ट जल-पात्रों के नष्ट हो जाने पर भी वह सूर्य नष्ट नहीं होता, उसी रूप में स्थित रहता है; उसी प्रकार अवस्था-विशेष से युक्त अन्तःकरण वृत्ति विनष्ट होने पर

1. ० जकोस्तु ०
2. ० श ०
3. ० रसस्ह्येवायं लब्धा ०
4. ० तष्क ०

भी वह रस-स्वरूप आत्मचैतन्य नष्ट नहीं होता। अतः उस रसस्वरूप आत्म-चैतन्य को अनाश्य (जिसका नाश नहीं हो सकता) और अकार्य (जो कार्य नहीं है), कहा जाता है।

("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस) विशिष्टबोध में, विशेष्य-तावच्छेदकत्व अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकत्व जो दुष्यन्तत्व है, वह शकुन्तला-विषयक तादात्म्यापन्न रतिमत् अन्तःकरणवृत्ति रूप है। (अर्थात् शकुन्तला-विषयकतादात्म्यापन्न रतिमत् के साथ) दुष्यन्तत्व का अभेद कहा जायेगा। और शकुन्तलाविषयक तादात्म्यापन्न रति से युक्त जो अन्तःकरणवृत्ति है वह शकुन्तला-विषयक रति से अभिन्न है, अतः उनमें अध्यासित अभेद है। इसलिये परिणम-मान (परिवर्तित होते हुए अध्यासित अभेदयुक्त) स्थायिभाव ही व्यवहार के प्रयोजक हैं। (वेदान्त में गुण-गुणी का अभेद माना जाता है। वैयाकरण शब्द, अर्थ और ज्ञान में अभेद मानते हैं। अर्थात् "अयं घटः" शब्द का जो अर्थ "घट" है, वही उसका ज्ञान भी है। यह अभेद भेदाभेदाघटित है, इनमें आरोपित अभेद माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ पर शकुन्तलाविषयक रति स्थायी है, उस शकुन्तला-विषयक स्थायी से अभिन्न रतिमत् है और उससे अभिन्न दुष्यन्तत्व है। अतः अध्यासित अभेद होता है।)

चैतन्यगत अज्ञानरूपी आवरणभङ्गरूप चर्वणामात्र जिसका शरीर है ऐसे रस के विषय में अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण-सोपान का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता है।

वही स्थाय्यवच्छिन्न अज्ञानरूपी आवरण से रहित आत्मचैतन्य-स्वरूप ब्रह्मानन्द ही रस है, ऐसा कहा जाता है। "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति"— "रस को पाकर ही यह आनन्दस्वरूप होता है", इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मानन्द की ही रसात्मकता स्वीकार की गई है। "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस प्रतीति में, प्रतीति से अवगाहमान जो स्थाय्यवच्छिन्नता है, वहाँ शकुन्तला-विषयक रति स्थायिभाव में स्थाय्यवच्छिन्नता कैसे होती है? उस स्थाय्यवच्छे-दकता के प्रति अलौकिककाव्यव्यापार (व्यञ्जना व्यापार) के माध्यम से काव्यार्थभावना से स्वात्मा में उपस्थापित अन्य (स्वात्मा से अतिरिक्त) आलम्बन दुष्यन्तादि तादात्म्याकार ("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" इस तदा-कार) अन्तःकरण की वृत्ति में बिम्ब (आत्मचैतन्य, ब्रह्मानन्द) का प्रतिबिम्ब जो विभावादि हैं, उनमें कारणत्व सिद्ध होता है और तभी सूत्राभिप्रेतार्थ सिद्ध होता है। (मूल-ग्रन्थ की उक्त पंक्तियों में "कारणत्वे" शब्द को "विभावा-

दीनां च कारणत्वे सिद्धे" इस प्रकार अन्वय करने पर पंक्तियों का अभिप्राय स्पष्ट होता है।)

तथा च सूत्रम्—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

विभावादीनां संयोगाद्व्यञ्जनाच्चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनः, स्थाय्यवच्छिन्नचिदानन्दात्मनो वा रसस्य निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्।

भावकत्वव्यापारेण भावनात् भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतः।

भावनाविशेषरूपाद्दोषात् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिर्वेति।

रसः शमादिका वृत्तिर्नवधा भेदकारणम् ॥ सू. 50 ॥

रस्यत आस्वाद्यत इति रसः। परमाह्लादकारणं शमादिका [23ब] शमरतिहासादिका स्थायिभावरूपा वृत्तिः रसभेदे कारणम्।

अत्र करुणरौद्रवीभत्सभयानकादीनामनुभावकवृत्त्याह्लादप्रतिकूलत्वेऽपि लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टकाव्यव्यापारमहिम्ना चारुत्वमनुसन्धेयम्। रामजानकीविरहस्यान्योन्यालम्ब[1]नत्वेन दुःखोद्भावकस्यापि व्यञ्जनव्यापारेण काव्यमहिम्ना लोकोत्तराह्लादकारणत्व निश्चयात् इष्टसाधनत्वेन तत्र प्रवृत्तेरप्रत्यूहत्वात्।

अलौकिकोऽपि भोगात्मा क्वचिन्नासौ ॥ सू. 51 ॥

काव्यमात्रव्यापाराच्छोकादीनामपि रमणीयत्वप्रापणं भोगात्मनः[2] अलौकिकम्। ततश्च भोगात्मा स्वनिष्ठः परनिष्ठो वा विकृतो भिन्नः कार्यो दोषविशेषनाश्यश्च भवति। न पुनस्तत्तदनुकूलशब्दार्थव्यापारविरामोत्तरकालीनाह्लादमात्रात्मा तत्तात्स्थायिस्वरूपमात्रावच्छिन्नाऽनावरणचिद्रूपः। स्थायिमात्रावरणभङ्गे तु "[3]ब्रह्म विद्[4] ब्रह्मैव भवती"ति परमानन्द एव। ध्वनिप्रकरणोक्त गोपीवत्सम्पद्यते[5] इति दिक्।

(भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित) वह सूत्र है—

1. ० व ०
2. ० गात्मा
3. व्र ०
4. वेद्
5. तदप्राप्तिमहादुःखेत्यादि (मू. पा. टि.)—श्लोक—37

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

(अभिनवगुप्त के विवेचनानुसार सूत्र की व्याख्या है–) विभावादि के संयोग से अर्थात् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध से चिदानन्दविशिष्ट रत्यादि स्थायिभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है अथवा रत्यादि स्थायिभावयुक्त चिदानन्दस्वरूप रस की निष्पत्ति होती है। "निष्पत्ति" का अभिप्राय है–स्व (अपने) रूप का प्रकाशन होता है। ("वा" से सूचित होता है कि बाद वाला पक्ष श्रेष्ठ है।)

(भट्टनायक के अनुसार सूत्रार्थ होगा–) भावकत्व व्यापार से विभावादि का (संयोग) साधारणीकरण होने पर भोजकत्व व्यापार से (रस की निष्पत्ति) अर्थात् स्थायिभावों का रसरूप में भोग किया जाता है।

(नव्यमत के अनुसार विभावादि के संयोग से अर्थात्) काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावनाविशेषयुक्त दोष से ("दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयक-रतिमान्" इस दोष से) अनिर्वचनीय दुष्यन्तविषयक रत्यादि स्थायीभावात्मक रस की निष्पत्ति होती है।

रस–भेद का कारण—

(चिदानन्दात्मा सभी रसों में संघटित होता है, तब अवान्तर भेद का कारण क्या है, इसे स्पष्ट किया जा रहा है–) शम आदि (शम, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय यह) नौ प्रकार की वृत्तियाँ ही रस के भेद का कारण हैं ॥ सू. 50 ॥

"रस्यत आस्वाद्यत इति रसः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस्यमान अर्थात् जिसका आस्वाद्य किया जा सके, उसे रस कहते हैं। शम आदि परमाह्लाद का कारण हैं। शम, रति, हास आदि ("आदि" पद शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय का बोधक है) स्थायिभावरूप चित्तवृत्तियाँ ही रस-भेद का कारण हैं।

सभी रसों से आह्लाद-प्राप्ति—

करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि रस, जिस वृत्ति से आह्लाद होता है उस वृत्ति के प्रतिकूल हैं, तथापि लोकोत्तर आह्लादकार्य विशिष्ट काव्य-व्यापार की महिमा से उक्त रसों में भी चारुत्व का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। राम और जानकी की विरहावस्था में परस्पर एक दूसरे के आलम्बन होने पर दुःख की उद्‌भावना होती है, परन्तु फिर भी व्यञ्जना-व्यापार-युक्त काव्य की महिमा से

लोकोत्तर आह्लाद को कारणत्व स्वीकार किया गया है, अतः वहाँ (राम-जानकी के विरह-वर्णन में) सुख की ही प्रवृत्ति होती है, यह निश्चित है।

अलौकिक होते हुए भी यह रस कहीं-कहीं भोगस्वरूप नहीं होता ।।सू.51।।

काव्य के अलौकिक व्यापार से शोक आदि को भी रमणीयता प्राप्त होना ही भोगस्वरूप (रस) की अलौकिकता है। (सूत्र में प्रयुक्त "क्वचिन्नासौ भोगात्मा" की उत्पत्ति--) फलतः भोगात्मा (रस) स्वनिष्ठ--रत्यादिस्थाय्यवच्छिन्न चिद्स्वरूप हो, अथवा परिनिष्ठ--चिदानन्दविशिष्ट स्थाय्यात्मा, विकृत--रसरूपता को प्राप्त हुआ, भिन्न---चित् के शुद्ध स्वरूप से भिन्न (अथवा योगियों की समाधि की अनुभूति से काव्य-व्यापार की अनुभूति भिन्न है), दोष-विशेष का कार्य और दोष-विशेष का नाश होने पर नष्ट होने वाला होता है। उन-उन अनुकूल शब्दार्थ-व्यापार (काव्य के व्यञ्जना-व्यापार) के विराम के पश्चात् उत्पन्न आह्लादमात्र-स्वरूप यह रस उन-उन स्थायिस्वरूपमात्रयुक्त आवरणरहित चैतन्यस्वरूप ही नहीं है। स्थायिमात्र का आवरण भंग होने पर तो "ब्रह्म को जानते वाला ब्रह्म ही होता है", इस उक्ति के अनुसार परमानन्द ही होता है। ध्वनिप्रकरण में उक्त 'तदऽप्राप्तिमहादुःख' इत्यादि (श्लोक 37) में कथित गोपी के समान हो जाता है, इस प्रकार से इसका दिङ्मात्र निर्देश दिया गया है।

स चायं रसो द्विधा आनन्दमात्रावयवो नित्योऽन्यो भावितोऽन्यथा ।।सू.52।।

रसो द्विः प्रकारः आनन्दैकप्रतीतावयवः शमश्रृङ्गारादिभेदः पूर्णानंदः श्रीकृष्णाख्यो नित्यस्तदन्य आनन्दमयावयवस्तु कविनटाभ्यां भावितः [24अ] अंश ∆ भेदेनाऽनित्यः। तत्रापि यत्किञ्चिद्भावावच्छिन्नः कार्यो दोषविशेषनाश्यः यावद्भावावच्छेदेन व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्च तत्रोभयत्राप्युदाहरणम्। यथा---

> आनन्दघूर्णितमिव व्रजसुन्दरीषु[1]
> [2]वालेषु किञ्चिद[3]वलम्बि[4]तकुन्दकांति[5]।
> [6]भ्रू चापचंक्रम[7]णचुम्बि[8]तचित्तमेत---
> [9]दुन्मीलिताखिलकलं[10] हृदये महः स्यात् ।।49।।

---

1. श्रृंगार (मू. पा. टि.)
2. वा ०
3. हास (मू. पा. टि.)
4. ० म्बित ०
5. दन्त (मू. पा. टि.)
6. वीर (मू. पा. टि.)
7. रुद्र (मू. पा. टि.)
8. भय (मू. पा. टि.)
9. अद्भुत (मू. पा. टि.)
10. शान्त (मू. पा. टि)

अत्र ध्यानैकतानताविर्भूते भगवन्महसि एतदिति साक्षात् कृते स्यादिति सम्भावितस्थितौ उन्मीलिताखिलकलत्वेन स्वस्मिन् दोषदृष्ट्या सञ्जातघृणानुकूलकरुणाप्रपञ्चितानेकरसाङ्कुरे रस्यतावृत्तिः पूर्णानन्देन भगवता श्रीकृष्णेन अभिन्नैव नित्या भासते। यावद्भावत्वेन व्यङ्ग्या वर्णनीया च स्फुटैव। [1]मल्लानामशनिरित्यादावानन्दमयावयव एव अस्यांशभेदेन कार्यत्वं दोषविशेषनाश्यत्वं च तत्प्रकरण एव स्पष्टम्। अयं नटभावितः कविभावितस्त्वनन्तरपद्ये वर्णितः।

वही यह रस दो प्रकार का होता है—आनन्दमात्र अंश स्वरूप नित्य होता है और कवि अथवा नट के द्वारा भावित (प्रकटीकृत) अन्य प्रकार का (अनित्य) होता है ॥ सू. 52 ॥

रस दो प्रकार का होता है—केवल आनन्दस्वरूप माने जाने वाले जो शमशृङ्गारादि रस के भेद हैं वे पूर्ण आनंदस्वरूप श्रीकृष्णनामक नित्य हैं। इससे भिन्न आनन्दमय अवयववाला, कवि अथवा नट के द्वारा भावगोचर (प्रकटीकृत) रस अंशभेद से अनित्य हैं। वहाँ भी जो कुछ भावों से अवच्छिन्न विशिष्ट (भावनारूप) दोषविशेष का कार्य होने से नाश्य है और सर्वथा भावों से अव-च्छिन्न होने से व्यङ्ग्य और वर्णनीय है। उन दोनों का उदाहरण जैसे—

उत्सवरूप भगवान् श्रीकृष्ण विभिन्न लोगों के हृदय में भिन्न-भिन्न रूपों में भावगोचर होते हैं। व्रज-सुन्दरियों में मानों आनन्द उन्माद बनकर व्याप्त हैं (शृङ्गार)। बालकों में (दाँतों में) कुछ कुन्द पुष्प की कान्ति धारण करके प्रतीत होते हैं (हास)। अन्यत्र कहीं भौंहरूपी धनुष को इधर-उधर घुमाने से (वीर), कहीं सवेग गति (चंक्रमण) से (रौद्र), कहीं चित्त-चुम्बन (भय) से, कहीं उन्मीलन (अद्भुत) और कहीं अखिल कल सम्पूर्ण सौन्दर्य के रूप में (शान्त) प्रतीत होते हैं ॥ 49 ॥

यहाँ ध्यान की एकाग्रता में आविर्भूत भगवान् महः (उत्सवरूप भगवान्) में "यह है" ऐसा साक्षात् करने पर सम्यग् भावित स्थिति में उन्मीलित और अखिल कलत्व के द्वारा अपने भीतर दोष-दृष्टि के कारण घृणा, अनुकूलता, करुणा आदि

---

1. मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥
(भागवतपुराण–10, 43, 17. सं.–गीताप्रेस गोरखपुर)

से प्रपञ्चित अनेक रसांकुरों के उत्पन्न होने पर रस्यता वृत्ति (स्थायी भाव) पूर्णानन्द भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्नरूप में ही नित्य भासित होती है। सर्वथा भावत्व के द्वारा व्यङ्ग्य और वर्णनीय स्फुट (स्पष्ट) ही है। "मल्लानाम् अशनिः" इत्यादि (भागवतपुराण के पद्य) में आनन्दमयावयव ही इसके अंशभेद से कार्यत्व और दोषविशेष नाश्यत्व है—यह उस प्रकरण में ही स्पष्ट है। यह नटभावित (नट के द्वारा प्रकटित है)। कविभावित तो उसके बाद वाले पद्य में वर्णित है।

उभयभावितो यथा—

पश्यताऽस्य पठतः स्मृतिपाठं विस्मृतिं व्रजति न प्रियवर्गः।
श्लाघतोऽपि सगुणं निजधर्मं तिर्यगेव चलिताचलदृष्टिः ॥ 50 ॥

अत्र शब्दव्यङ्ग्यस्य विरुद्धार्थस्य रसोद्भावकता काव्यव्यापारेण [24ब] तिर्यगावर्जितदृङ्नटनव्यापारेण चैकदेशतोऽभिनीय नीयते। यथा वा—

नीवीं स्पृशन् युवतिषु प्रहसन् वयस्यै–
र्मुञ्जाटवीदहनगासु च गोषु दुःख्यन् ।
ताम्यन् रिपौ करुणयन् जनकेति चौर्यात्
गच्छन् घृणी जगति चित्रयति स्म कृष्णः ॥ 51 ॥

अत्र कृष्ण इति सदानन्दघनः परमात्मा विकारशून्यः शान्तः, चित्रयतीत्यद्भुतः, जगति दोषदृष्ट्या घृणी वीभत्सः, अतिचौर्य्याद्गच्छन्निति भयानकः, करुणयन् जनकेति दयावीरः, रिपौ ताम्यन्निति रौद्रः, दुःख्यन्निति करुणः, शेषं स्पष्टम्। अवयवत्वेन प्रतीयमानो भिन्नोऽप्येकस्मिन्[1] रस्यतावृत्या स्वदते स चायमानन्दावयवः।

उभयभावित जैसे—

इस पढते हुए के स्मृतिपाठ को देखिये। यह अपने प्रियवर्ग को भूलता नहीं है। गुणयुक्त निजधर्म की प्रशंसा करते हुए भी इसकी अचल दृष्टि तिरछी ही चलती रहती है ॥ 50 ॥

यहाँ शब्दव्यङ्ग्य विरुद्ध अर्थ की रसोद्भावकता काव्यव्यापार से और तिरछे किये गये नेत्रों के अभिनय व्यापार से दोनों की एकदेशता अभिनय द्वारा प्रकटित है। अथवा जैसे—

---

1. कृष्णे (मू. पा. टि.)

युवतियों में नीवी का स्पर्श करते हुए, मित्रों के साथ हँसते हुए, मूंज के जंगलों में दावानल की ओर जाने वाली गायों के बीच दुःखित होते हुए, शत्रुओं को पीड़ित करते हुए, पिता के प्रति करुणा धारण करते हुए, अत्यन्त चोरी से जाते हुए, संसार के प्रति घृणा बरतते हुए कृष्ण आश्चर्य उत्पन्न करते हैं ।।51।।

यहाँ कृष्ण सदानन्दघन परमात्मा विकारशून्य हैं, अतः शान्त रस है। आश्चर्यकारी हैं—इसमें अद्भुत, जगत् के प्रति दोष-दृष्टि के कारण घृणी हैं—इसमें वीभत्स, अत्यन्त चोरी से जाते हुए—इसमें भयानक, जनक के प्रति करुणा भाव धारण करते हुए—इसमें दयावीर, शत्रुओं को पीड़ित करते हुए—इसमें रौद्र, दुःखित होते हुए—इसमें करुण रस है, शेष स्पष्ट है। अवयवरूप में प्रतीत होते हुए भिन्न होते हुए भी एक (कृष्ण) में रस्यतावृत्ति (स्थायी भाव) से यही आनन्दावयव (रस) आस्वादगोचर होता है।

तदेवं सामान्येन रसस्वरूपं निरूप्य तद्भेदानाह—

रतिहासौ शोकभये क्रोधोत्साहौ घृणाक्रमतः।
विस्मयशमौ च कथिताः स्थायीभावाः पृथग्रसनम् ।। सू. 53 ।।

अत्र स्थायिभावपरिपुष्टत्वाद्रसभेदव्यक्तेः, सजातीयविजातीयैर-तिरस्कृतत्वे यावद्रसं वर्तमानत्वं, विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरविच्छिन्नत्वे सत्यात्मभावप्रापकत्वं वा, विभावानुभावव्यभिचारिभिन्नत्वे [25अ] शृङ्गारादिव्यक्तिविशेषभावरूपत्वं वा। Λ

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, [1]सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ।।

इत्युक्ते स्थायित्वं विवेच्यम्।

घटावच्छिन्नाकाशाद् घटस्येव स्थायिनो भेदः ।। सू. 54 ।।

तत्र—

रतिरन्योन्यसंसर्गालम्बनावृत्तिरिष्यते ।। सू. 55 ।।

स्त्रीपुंसोरन्योन्यालम्बनप्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायि-भावः। दर्शनश्रवणादिना समुत्पन्नप्रेमाङ्कुरस्यैव शृङ्गारे स्थायिभाव-व्यवहारः। विभावानुभावादीनां परिपोषस्य रससाधकत्वात्। अतएव प्राञ्चः—

1. सम्ब ०

"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृत" इति ।

व्यक्तिविषयीकरणे विभावादीनां स्थायिनः साधकत्वं न, स्वरूप-सिद्धौ तत्र व्यञ्जनव्यापारेणाऽनुरागमात्रप्रत्ययः। एतेन "चक्षुर्यस्य कृषीवलो निगदित" मित्युदाहरणं परास्तम् ।

इस प्रकार सामान्यरूप से रसस्वरूप बताकर उसके भेद कहते हैं—

स्थायिभाव—

क्रमशः रति, हास, शोक, भय, क्रोध, उत्साह, घृणा, विस्मय और शम, ये स्थायी भाव हैं। रसन (व्यापार) पृथक् है। (शृङ्गार का रति, हास्य का हास करुण का शोक, भयानक का भय, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, बीभत्स का घृणा, अद्भुत का विस्मय और शान्तरस का शम, स्थायिभाव होता है)॥सू.53॥

स्थायिभावों के परिपुष्ट होने पर ही विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति होती है। (अतः) ये स्थायिभाव सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत (परिवर्तित) न होकर रस के आस्वादनपर्यन्त वर्तमान रहते हैं। केवल विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिन्न ही नहीं होते, अपितु विरोधीभावों को भी अपने रूप में प्राप्त करा देते हैं। ये स्थायिभाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से भिन्न हैं और रति आदि स्थायिभाव शृङ्गारादि रसों की विशिष्ट अभिव्यक्ति करते हैं।

जो चिरकाल तक चित्त में संस्काररूप में स्थित रहते हैं, विभावादि अनुबन्धियों के साथ सम्बद्ध रहते हैं और अन्त में रसरूप में प्राप्त होते हैं, वे यहाँ (काव्यशास्त्र में) स्थायिभाव प्रसिद्ध हैं। (पण्डितराज जगन्नाथ ने "रसगङ्गाधर" में) इस प्रकार लिखकर स्थायिभाव का विवेचन किया है।

स्थायिभाव और रस में भेद—

घटावच्छिन्न आकाश से जिस प्रकार घट भिन्न है, उसी प्रकार रस से स्थायी भाव भिन्न है॥ सू. 54 ॥

अब रति (स्थायी भाव) का लक्षण कहते हैं—

(स्त्री और पुरुष के) एक दूसरे के सम्पर्क को आलम्बन बनाने वाली (प्रेम नामक) चित्तवृत्ति को रतिसंज्ञक स्थायी भाव कहते हैं॥ सू. 55 ॥

स्त्री और पुरुष को परस्पर एक दूसरे के विषय में आलम्बन बनाने वाली प्रेमनामक चित्तवृत्तिविशेष रतिनामक स्थायी भाव है। शृङ्गाररस में दर्शन-श्रवण-

आदि से उत्पन्न, प्रेमाङ्कुर के लिए ही स्थायिभाव शब्द का व्यवहार किया जाता है। क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि का परिपोष ही रस का साधक होता है। अतएव पूर्ववर्ती विद्वान् (आचार्य मम्मट) ने कहा है—

उन विभाव आदि से व्यक्त स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

स्थायी भाव को चित् शक्ति का विषय बनाने में ही विभावादि की साधकता नहीं है, स्वरूपसिद्धि होने पर वहाँ व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा अनुराग मात्र का अनुभव होता है। अतः "चक्षुर्यस्य कृपीवलो निगदितम्" इत्यादि उदाहरण परास्त हो गया।

भावोदाहरणं यथा—

दर्शनादेव ते तन्वि पुष्पितं कुसुमेषुणा।

स्ववाणव्ययं विनैव नायकविजयो हस्तगत इति पुष्पितत्वेन स्मरे सम्भाव्य दूत्युक्त्यान्योन्यालम्बनमात्रविषयको दर्शनजन्या[1]नुरागः, ततश्च कुसुमेषोः पुष्पितत्वं न तु फलितत्वमिति, तस्यैव रसत्वं प्रति विभावादि-[25व] परिपोषापेक्षेति, व्यञ्जनया प्रतीयमानः ^ स्थायीरत्याख्यो भवति। यथा वा—

निर्गमिष्यति न वेति दृशो मे चिन्तया न पद्मादृतमन्तः।
तावदेव हरिणा हृदयेऽस्मिन् वासवेश्मरचनाय निविष्टम् ॥52॥

अत्र न रचितमिति भावध्वनिः। एतद्भावावच्छिन्नो रसः शृङ्गाराख्यो भवति। तदभिधाने च विभावानुभावसञ्चारिसंयोगः कारणं तत्र।

भावश्चित्तसमवायित्वे वृत्तेः प्रथमविक्रिया ॥सू.56॥

यथा स्थितस्य स्वरूपान्तरोद्बोधे चित्तवृत्तौ चित्सम्पर्कः कारणं स च तत्तादनुकूलः पूर्वो विकारो भावः तस्यैव विशेषभावनात् विभाव इत्युच्यते।

भाव—

भाव का उदाहरण जैसे—

हे कृशाङ्गी ! तुम्हारे दर्शन से ही पुष्पवाण (कामदेव) पुष्पित हो गया।

अपना वाण छोड़े विना ही नायक पर विजय हस्तगत हो गई इसलिए

1. ० जन्मानु ०

कामदेव में पुष्पित होने की सम्भावना करके दूती की उक्ति द्वारा अन्योन्य आलम्बन मात्र विषयक दर्शनजन्य अनुराग, उसके बाद पुष्पबाण का पुष्पित होने का, न कि फलित होने का वर्णन और रसत्व के प्रति उसी के विभावादि के परिपोष की अपेक्षा होना--इस क्रम से व्यञ्जना द्वारा प्रतीयमान रति नामक स्थायी होता है। अथवा अन्य उदाहरण—

यह (हरि) मेरे नेत्र से बाहर जायेगा अथवा नहीं, इस चिन्ता से मैंने अपने अन्तःकरण में पदार्पण की ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु तब तक तो हरि ने इस हृदय में अपना निवास-भवन बनाने के लिए प्रवेश भी कर लिया ॥52॥

यहाँ "न रचितम्" यह भावध्वनि है। इस भाव से युक्त रस शृङ्गार नामक रस होता है। और उसके कथन में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव संयोग कारण होता है।

चैतन्य से समवायरूप से सम्बन्धित होने पर अन्तःकरणवृत्ति की प्रथम विक्रिया का नाम भाव है ॥सू.56॥

जैसे चित्तवृत्ति में स्थित वस्तु के अन्य स्वरूप के उद्बोध में चैतन्य का सम्पर्क ही कारण है और उन-उन सम्पर्कों के अनुकूल होने वाला प्रथम विकार भाव है, और उसी के विशेष भावन से विभाव कहा जाता है।

आलम्ब[1]नोद्दीपनात्माविभावस्तस्य बोधकः ॥सू.57॥

तस्य भावस्य तत्र रत्यालम्बनं[2] नायकादिः तमालम्ब्य रसभावोत्पत्तेः। उद्दीपयन्तीत्युद्दीपनाश्चन्द्रोदयादयः।

उद्बुद्धस्याऽनुभावेनाऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥सू.58॥

कारणेनोद्बुद्धस्य [3]बहिः प्रकाशनादनुभावहेलाऽश्रुपातादयः।

आविर्भावतिरोभावात्त एव व्यभिचारिणः ॥सू.59॥

भावा एव।

निर्वेदग्लनिशङ्काद्यास्त्रयस्त्रिंशत्समासतः ॥सू.60॥

---

1. ०व०
2. ० वनं
3. व ०

अन्येऽप्यनुकूला भवन्तीति समासाभिप्रायः ।

[26अ] **उदात्तोद्धतनामानौ प्रशान्तललितौ पुनः ^ ।**
आलम्बनं[1] रसस्यैते धीराद्यास्तत्र नायकाः ।।सू. 61 ।।

धीरोदात्तधीरोद्धतधीरप्रशान्तधीरललिताख्याश्चत्वारो नायका इत्यर्थः ।

क्षमागर्वमृदुत्वाऽन्यसामान्यगुणलक्षणाः ।।सू.62।।

क्षमाप्रधानो धीरोदात्तः यथा युधिष्ठिरः । गर्वाहङ्कारप्रधानो धीरोद्धतः यथा भीमसेनः । मृदुः कलावान् धीरललितः यथा वत्सराजः । अन्यसामान्यगुणैर्युक्तो द्विजादिर्धीरप्रशान्तः यथा माधवः ।

दक्षो धृष्टोनुकूलश्च शठस्ते षोडश स्मृताः ।।सू.63।।

ते धीरोदात्तादयः ।

विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव—

विभाव—आलम्बन और उद्दीपनरूप विभाव ही भाव का बोध कराने वाले हैं ।।सू.57।।

यहाँ "तस्य" का अभिप्राय है उस भाव का । रति आदि भाव के आलम्बन नायिका आदि हैं। उसका आलम्बन लेकर ही रस और भाव की उत्पत्ति होती है (अतः उसे आलम्बन विभाव कहते हैं) । जो उस भाव को उद्दीप्त करते हैं, ऐसे चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभाव हैं ।

अनुभाव—("अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार) काव्य और नाटक में उत्पन्न हुए स्थायी भाव को वाह्यरूप में प्रकाशित करते हैं, उनको अनुभाव कहा जाता है ।।सू.58।।

आलम्बन और उद्दीपन कारण से उत्पन्न हुए स्थायी भाव को वाह्यरूप में प्रकाशित करने वाले हेला, अश्रुपात आदि अनुभाव होते हैं ।

व्यभिचारिभाव—जो भाव स्थायी भावों के साथ साथ आविर्भाव और तिरोभा रूप में (चलायमान) होते हैं वे व्यभिचारिभाव हैं ।।सू.59।।

ये व्यभिचारी भाव ही हैं ।

---

1. ० वनं

संक्षेप में निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि 33 व्यभिचारी भाव हैं ॥सू.60॥

संक्षेप से यहाँ अभिप्राय यह है कि अन्य रसों में यह अनुकूल होते हैं ।

आलम्बन—

नायक-भेद-निरूपण—

रस के आलम्बन ये नायक होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित ॥सू.61॥

अभिप्राय यह है कि नायक के चार भेद होते हैं–1. धीरोदात्त, 2.धीरोद्धत, 3. धीरप्रशान्त और 4. धीरललित ।

ये चारों नायक क्रमशः क्षमा, गर्व, मृदु तथा सामान्य गुणों से युक्त होते हैं ॥सू.63॥

क्षमाप्रधान धीरोदात्त नायक होता है, जैसे—युधिष्ठिर । गर्व और अहङ्कार प्रधान धीरोद्धत होता है,जैसे–भीमसेन । मृदु स्वभाव युक्त, नृत्य-गीत आदि कलाओं का ज्ञाता धीरललित नायक है, जैसे–वत्सराज उदयन । अन्य सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त होता है, जैसे—("मालतीमाधव")में माधव ।

ये (धीरोदात्त आदि चारों नायक) दक्ष (दक्षिण), धृष्ट, अनुकूल और शठ (इन चार भेदों में विभक्त हो जाते हैं, अतः) नायक के सोलह भेद कहे जाते हैं ॥सू.63॥

"ते" से अभिप्राय है धीरोदात्त आदि नायक ।

स्वाऽन्यसाधारणा तत्र नायिका प्रथमं त्रिधा ॥सू.64॥

स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्री ।

मुग्धामध्याप्रगल्भाद्या ॥सू.65॥

आद्या स्वकीया ।

परे धीरादि षड्विधे ॥सू.66॥

परे मध्याप्रगल्भे । धीरा अधीरा धीराधीरा चेति भेदात् षड्भेदे ।

पुनर्ज्येष्ठा कनिष्ठाख्ये ॥सू.67॥

षड्भेदभिन्ने इति ज्येष्ठत्वं कनिष्ठत्वं प्रणयमहिम्ना नायकस्य ।

स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥सू.68॥

मध्याप्रगल्भयोर्द्वादशभेदाः मुग्धात्वेकैवेत्यर्थः ।

अन्या परोढा कन्याख्या ।।सू.69।।

अन्या परकीया ।

वेश्या सामान्यनायिका ।।सू.70।।

साधारणस्त्री ।

स्वाधीनभर्तृका तद्वत् खण्डिताथाभिसारिका ।

कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका

[26ब] अन्यावासक ^ सज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता च ताः ।।सू.71।।

ता अनन्तरोक्ताः षोडशनायिकाः प्रत्येकमवस्थाभिर्भिन्ना इत्यर्थः । तत्र[1]स्वकीया—

विनयार्ज्जवसंयुक्ता स्वकीयात्र पतिव्रता ।।सू.72।।

रघुनाथदृशं सीता वनेऽपि प्रसमीक्षते ।।

क्लेशबहुलेऽपि वने राज्यत्यागादिकमनपेक्षमाणा भर्तृदृङ्मात्रप्रतीक्षया सीता सर्वाः पतिव्रता अतिशेत इत्याशयः ।

नायिका-भेद—

नायिका भी सर्वप्रथम तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री ।।सू.64।।

अपनी स्त्री, अन्य की स्त्री और साधारण स्त्री—ये तीन प्रकार की नायिका है ।

इन तीन नायिकाओं में से प्रथम (स्वकीया) तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ।।सू.65।।

'आद्या' से अभिप्राय है—प्रथम स्वकीया नायिका ।

(स्वकीया के इन तीनों भेदों में से) बाद वाले दो भेद (मध्या और प्रगल्भा के) धीरादि (धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद से) छह भेद होते हैं ।। सू. 66 ।।

---

1. षोडश अष्टिभिर्गुणिता 128 भेदविशिष्टाः (मू. पा. टि.)

"परे" का अभिप्राय है मध्या और प्रगल्भा। इन दोनों के धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद होने पर छह भेद हो जाते हैं।

नायिकाओं के इन छह भेदों के पुनः दो भेद होते हैं—(1) ज्येष्ठा और (2) कनिष्ठा ॥ सू. 67 ॥

नायक के प्रणय के प्रति ज्येष्ठ (अधिक) और कनिष्ठ होने पर पूर्वोक्त छह नायिकाओं में प्रत्येक के दो-दो भेद हो जाते हैं (इस प्रकार 12 भेद हो गये)।

स्वीया (स्वकीया) नायिका के कुल 13 भेद हुए ॥ सू. 68 ॥

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के बारह भेद बताये जा चुके हैं। मुग्धा नायिका तो एक ही प्रकार की है (इस प्रकार स्वकीया के 13 भेद बताये गये हैं)।

अन्या (परकीया) नायिका दो प्रकार की कही गयी है—(1) परोढ़ा (अन्य विवाहिता) और (2) कन्या (अविवाहिता) ॥सू. 69॥

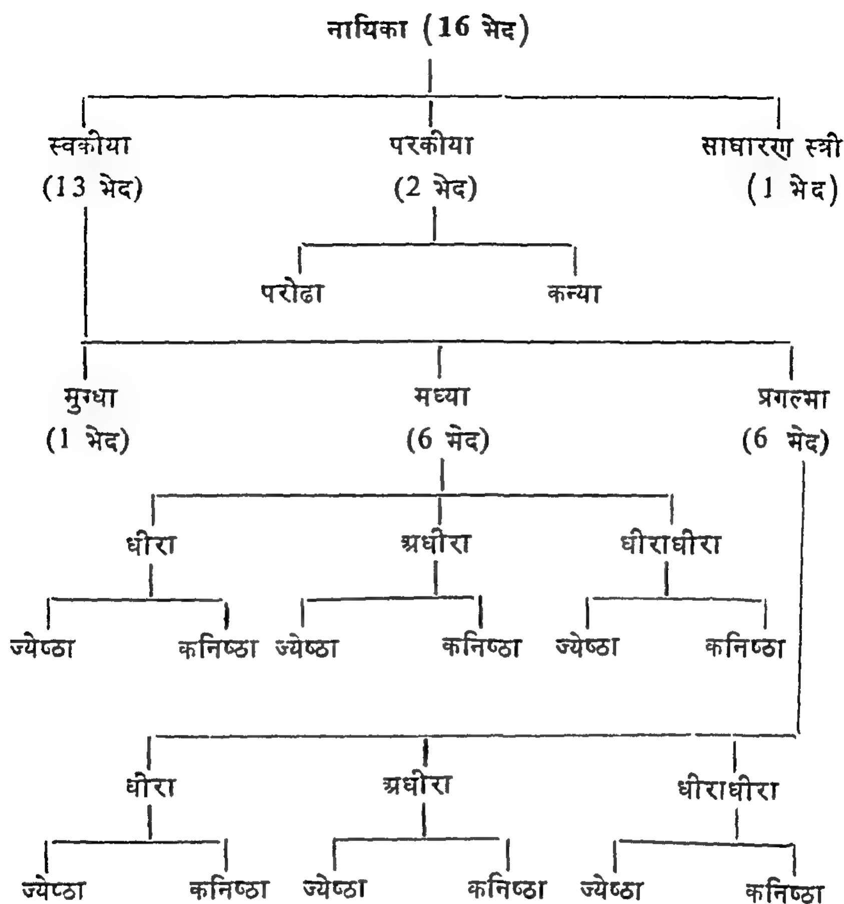
'अन्या' से अभिप्राय है—परकीया।

सामान्य नायिका वेश्या होती है ॥सू. 70॥

यह साधारण स्त्री होती है।

(उपर्युक्त षोडश नायिकाएँ पुनः आठ प्रकार की होती हैं, यथा—) (1) स्वाधीनभर्तृका, (2) उसी प्रकार खण्डिता, (3) अभिसारिका, (4) कलहान्तरिता, (5) विप्रलब्धा, (6) प्रोषितभर्तृका, (7) वासकसज्जा और (8) विरहोत्कण्ठिता ॥सू. 71॥

पूर्वोक्त सोलह नायिका (तेरह स्वीया, दो परकीया और एक साधारण स्त्री) अवस्था-भेद से (स्वाधीनभर्तृका आदि) आठ प्रकार की होती है (इस प्रकार $16 \times 8 = 128$ नायिका-भेद हो जाते हैं)।



अवस्था-भेद से 8 भेद—(1) स्वाधीनभर्तृका, (2) खण्डिता, (3) अभिसारिका, (4) कलहान्तरिता, (5) विप्रलब्धा, (6) प्रोषितभर्तृका, (7) वासकसज्जा और (8) विरहोत्कण्ठिता।

$$16 \times 8 = 128$$

स्वकीया नायिका—

विनय, सरलता आदि से संयुक्त पतिव्रता स्त्री स्वकीया नायिका कहलाती है ॥ सू. 72 ॥

जैसे—वन में भी सीता रघुनाथ की दृष्टि को निहारती है।

वन में बहुत से क्लेश होने पर भी राज्य-त्याग आदि की उपेक्षा करते हुए पति की दृष्टिमात्र की ओर निहारने के कारण सीता सभी पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ है, यह आशय है।

मुग्धा यथा—

> अपठितमदनागमा सखीनां सविधमुपेत्य शशंस विभ्रमाणि।
> स्मितललितकपोलमीक्षमाणा मुखमथ दुर्दिनमश्रुणश्चकार ॥ 53 ॥

इदं तु प्राचामनुरोधेनोदाहृतम्। न चात्र नायिकानिष्ठो मुग्धात्वावगाही कश्चिदसाधारणो धर्म्मः प्रतीयते। तथाहि अपठितमदनागमत्वेन सखीनां पुरो विभ्रमकथनमित्यासां[1] प्रौढिविशेषसम्भावनया स्मितललितकपोलावलोकनप्रकाशितया सखीनिष्ठकापट्यकलुषिता निजसरलतैव दूनता हेतुस्तत्र मदनागमपाठस्याऽसमाप्तिरर्थलभ्या न कथञ्चिन्मुग्धात्वपर्यवसायिनी, अधीरमध्यतादौ तथा दर्शनात् तदेवमुदाहार्यम्।

[27अ] दृगन्ते दीर्घत्वं व्रजति चकिता न्यस्यति ^ करं
> पिधत्ते वक्षोजाऽवनुदितविशेषौ कथमपि।
> प्रिये पश्यत्येषा नमयति शिरः कम्पितकरा
> स्पृशत्यस्रश्रेणीं किरति च सखीः खेदयति च ॥54॥

अत्राज्ञातज्ञातयौवनलज्जामानमृदुत्वरतवामत्वादिभिरुपचितावस्थाविशेषशालिनी मुग्धा स्पष्टैव। यथा वा—

> गणइ प अंव चलंती लज्जेइ पुरो रुरकअं पलोअंती[2]।
> वंकम्भुअं पलट्टइ[3] सुणिऊण सहीण पिय कहाउ ॥55॥

अत्रावतीर्णमदनविकारत्वेन मुग्धा। कज्जलमलिनाश्रुकणैः करिदशनच्छेदपाण्डुनि कपोले अविदितमानधनायाः प्रियापराधः स्फुटी भवति। अत्र माने मृदुत्वान्मुग्धा एवम्—

---

1. सखीनां (मू. पा. टि.)
2. प्रलोकंती (मू. पा. टि.)
3. प्रवर्त्तते (मू. पा. टि.)

न पश्यति दृशा कान्तं वहिर्निर्गन्तुमीहते ।
यान्तीनां[1] केलिसदनादञ्चलं नैव मुञ्चति ।।56।।

[2]इत्याद्युदाहार्यम् ।

इति मुग्धा ।

मुग्धा—

मुग्धा नायिका जैसे—

जिसने कामदेव का आगम (शास्त्र) अभी नहीं पढ़ा, ऐसी मुग्धा नायिका ने सखियों के पास जाकर विभ्रमों का वर्णन किया । (किन्तु) उनके (सखियों के) मुस्कुराते हुए सुन्दर कपोलों को देखते हुए उसने (नायिका ने) अपने मुख को अश्रु-प्रवाह का दुर्दिन वना दिया ।।53।।

यह उदाहरण प्राचीन विद्वानों के अनुरोध से दिया गया है । यहाँ नायिका-निष्ठ मुग्धात्व से युक्त कोई असाधारण धर्म प्रतीत नहीं होता । क्योंकि कामदेव के आगम (शास्त्र) को नहीं जानने पर भी सखियों के सम्मुख विभ्रम का कथन करती है, इस कथन से सखियों की विशेष परिपक्वता की सम्भावना होती है, जिससे मुस्कुराते हुए सुन्दर कपोलों को देखने से सखीनिष्ठ कपटता की कलुषिता और अपनी सरलता से ही दुःख का कारण प्रगट होता है । यहाँ कामदेव के आगम (शास्त्र) के पठन की असमाप्ति अर्थ से लभ्य (प्राप्य) है, जो किसी प्रकार मुग्धता में पर्यवसित होने वाली नहीं है । अधीरमध्या आदि में इस प्रकार दिखाई देता है, अतः उसी का उदाहरण मानना चाहिये ।

प्रियतम उसे जब देखता है तो उस (नायिका) के नेत्रापाङ्ग दीर्घ हो जाते हैं, उन पर विस्मययुक्त होकर वह हाथ रखती है । किसी प्रकार अपने स्तनों को, जो अभी विशेष उदित नहीं, ढँकती है । यह (नायिका) सिर झुकाती है, कांपते हाथ से (उसका) स्पर्श करती है, अश्रुधारा प्रवाहित करती है और सखियों को दुःखित करती है ।।54।।

यहाँ प्राप्य यौवन को कुछ जानने और कुछ न जानने वाली, लज्जा, मान, मृदुता और रति से कतराने के गुणों के उपचय के कारण विशिष्ट अवस्था को प्राप्त मुग्धा नायिका स्पष्ट ही है । अथवा जैसे—

1. सखीनां (मू. पा. टि.)
2. मूल में सन्धि कर "मुञ्चतीत्याद्युदाहार्यम्" दिया गया है ।

सखियों की प्रिय बातें सुनकर वह (नायिका) एक पद चलते ही रुक जाती है, इक्षुमद्य को सामने देखकर लज्जित हो जाती है और तिरछी भौंहों से देखने लगती है ।। 55 ।।

यहाँ मदन-विकार के अवतीर्ण हो जाने के कारण मुग्धा (नायिका) है । मान (कोप) के धन से अपरिचित उसके कज्जल से मलिन अश्रु-कणों द्वारा हाथीदाँत के टुकड़े के समान शुभ्र (पाण्डु) कपोल पर प्रिय का अपराध स्पष्ट हो रहा है ।

इस प्रसंग में मान में मृदुता होने पर मुग्धा जैसे—

नेत्र से प्रियतम को नहीं देखती, बाहर जाना चाहती है । केलिसदन से बाहर जाती हुई सखियों का अञ्चल (वस्त्र का छोर) ही नहीं छोड़ती ।। 56 ।।

इस प्रकार उदाहरण देना चाहिये ।

यह मुग्धा के उदाहरण दिये गये ।

मध्या धीरादिभेदैस्त्रिविधा तत्र स्वरूपेण ।। सू. 73 ।।

मध्या यथा—

लावण्यवापीजलकेलिलोलै-
रङ्गैरनङ्गोत्सवमावहन्ती ।
ततान यत् सा मणितं मृगाक्षी
पाठः स लीलाशुकसारिकाणाम्[1] ।। 57 ।।

अत्र प्ररूढयौवनविचित्रसुरतकेलिकलाभ्यां लक्षिता [27ब] मध्यैव । इदमपि प्रगल्भायां सम्भवद्विषयंनोदाहरणीयम् । यथा वा—

अवनमितमुखी सखीषु बा[2]ला
कथमपि नोत्तरमाह पृच्छ्यमाना ।
स्मितललितकपोलमानतभ्रू—
र्मदनविकारमनावृतं चकार ।। 58 ।।

इयं वक्रोक्त्या धीरा यथा—

न मयि हृदयरागो दर्शनीयः कथञ्चित्
प्रिय[3] यदि शतकृत्वः शिक्षितोऽप्येवमागाः ।

1. ०नाम् 2. वा०

3. हे (मू. पा. टि.)

तदुचितमरुणाभ्यां लोचनाभ्यां पुरस्ता-
दनुभवशतमन्युप्रेयसी दिक्प्रभावम्[1] ॥ 59 ॥

रोदनेन मध्यैवाधीरा यथा—

अवनम्य मुखाम्भोजं किं रोदिषि सगद्गदम् ।
प्रियासि ननु तन्वङ्गि प्रिया नाऽस्मीति रुद्यते ॥ 60 ॥

परुषोक्त्या धीराधीरा यथा—

कृतमनर्थकमेतदनारतं यदवलोकनमुज्झितसौहृदे ।
तव मनः समपूरि तया[2] कथं कथय धूर्त्त[3] ममावसरो भवेत् ॥ 61 ॥

मध्या—

अपने स्वरूप से मध्या नायिका धीरादि भेद से (धीरा, अधीरा और धीरा-धीरा) तीन प्रकार की होती है ॥ सू. 73 ॥

मध्या का उदाहरण जैसे—

लावण्यरूपी बावड़ी में जलक्रीडा के कारण चञ्चल अङ्गों से कामोत्सव को धारण करती हुई उस मृगनयनी ने जो मणित (सम्भोग के समय उच्चारित अस्पष्ट ध्वनि) किया तो वह लीलाशुकों (आनन्द के लिए पाले हुए तोते) तथा सारिकाओं के लिये पाठ हो गया ॥ 57 ॥

यहाँ पूर्ण विकसित यौवन और विचित्र कामक्रीड़ा कलाओं से लक्षित मध्या नायिका ही है । प्रगल्भा नायिका में भी इस विषय की सम्भावना होती है, इसका उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है । अथवा जैसे—

पूछी जाने पर सखियों के बीच में नीचा मुँह करके बैठी हुई बाला ने किसी प्रकार भी उत्तर नहीं दिया । उसके मुस्कान से सुन्दर कपोल और कुछ टेढ़ी भौहों ने कामविकार को अनावृत (प्रकट) कर दिया ॥ 58 ॥

वक्रोक्ति से धीरा नायिका का यह रूप है, जैसे—

---

1. शतमन्युप्रेयसी दिक् पूर्वा तस्याः प्रभावमरुणिमानम् । पक्षे शतगुणितो मन्युः क्रोधो यस्यास्तादृशी प्रेयसी स्त्री तस्याः दिक् प्रभावं ईषत्प्रभावमनुभव (मू. पा. टि.)
2. अन्यथा (मू. पा. टि.)
3. हे (मू. पा. टि.)

हे प्रिय ! मुझमें हृदयगत अनुराग किसी प्रकार देखने की आवश्यकता नहीं है। यदि सौ गुणा शिक्षित होकर भी तुम इस प्रकार अपराध करते हो तो यही उचित है कि सामने रक्तिम नेत्रों में (शतमन्यु प्रेयसी) पूर्व दिशा की (प्रभाव) लालिमा के समान (शतमन्यु प्रेयसी) सौ गुने क्रोध की लालिमा धारण करने वाली प्रिया के कुछ प्रभाव (मान-कोप) का अनुभव करो ॥ 59 ॥

रोदन से मध्या का ही अधीरा रूप, जैसे—

मुखकमल नीचा कर गद्‌गद् होकर क्यों रो रही हो ? हे कृशांगी, निश्चय ही तुम प्रिया हो। (नायक के इस प्रकार कहने पर नायिका उत्तर देती है–) मैं प्रिया नहीं हूँ, इसीलिये तो रो रही हूँ ॥ 60 ॥

परुष उक्ति से धीराधीरा जैसे—

स्नेह छोड़ देने पर जो तुम निरन्तर मुझ पर यह दृष्टि डाल रहे हो, वह बड़ा अनर्थ कर रहे हो। हे धूर्त्त ! तुम्हारा मन उस (अन्य) स्त्री से भर गया है, उसमें मेरे लिये स्थान कैसे बन सकता है ? ॥ 61 ॥

अथ प्रगल्भा सा च यथा—

अधिज्यमदना [1]भ्रुवा कुचयुगान्त कुम्भद्वयी
विशङ्कमवगाहतां सुरतसिन्धुमेषा चिरम् ।
यदङ्गपरिवर्तना नटितकन्धरप्रेक्षणं
तदादिशति किङ्करे[2] किमपि कर्त्तुमुच्चालिका[3] ॥ 62 ॥

अत्र प्ररूढयौवनत्वगाढतारुण्यस्मरान्धत्व सुरतचातुर्याक्रान्तनायकत्वभावोन्नतत्वादिपरिपोषितावस्थाविशेषशालिनी प्रगल्भा स्पष्टैव ।

[28 अ] प्रच्छन्नकोपा वहिर्मात्रदर्शि‸तादरा चेदियमेव धीरा यथा—

चन्द्रे चन्दनपङ्कमानय कले कालागुरुर्धूप्यतां
ताम्बूलं तरले समाहर शिवे शृङ्गारशोभां कुरु ।
इत्याभाष्य सखीः सरोरुहमुखी व्यक्तासना नालप–
च्चातुर्येण स एव वल्लभमनस्याधायि शङ्काङ्कुरः ॥ 63 ॥

तर्ज्जनताडनादधीरा यथा—

---

1. भ्रु०
2. मयि (मू. पा. टि.)
3. उच्चोऽलिको ललाटो यस्याः (मू. पा. टि.)

रुषा सभ्रूभङ्गं वदनमरुणं न्यञ्चितवती
यदाक्षेपे वाचा हसति[1] मयि वन्धं रचयति ।
प्रसादः सोऽयं ते सुदति[2] कथिते केवलमसौ
गलद्वाष्पं वाला व्यरचयदधीरं मम मनः ।। 64 ।।

अव प्रगल्भा नायिका और उसका उदाहरण जैसे—

भौंहों के माध्यम से धनुष की डोरी चढ़ाये हुए कामदेव के रूपवाली, तथा स्तनयुगल के रूप में दो कुम्भों को धारण करने वाली यह (प्रगल्भा) नायिका सुरतरूपी सिंधु में चिरकाल तक शंकारहित होकर स्नान करे। अंगों का संचालन करने वाली यह उच्च ललाट वाली नायिका अपनी ग्रीवा तथा दृष्टि से हावभावाभिनय कर रही है, वह तो अपने सेवक अर्थात् मुझको कुछ करने के लिए आदेश दे रही है ।। 62 ।।

यहाँ पूर्ण यौवन, गाढ़तारुण्य, कामान्धता, सुरतचातुर्य से आक्रान्त नायकत्व तथा रति भावोन्नता आदि से परिपोषित अवस्था-विशेष से युक्त प्रगल्भा स्पष्ट ही है ।

भीतर क्रोधयुक्त और वाहर आदर दिखाने वाली यह प्रगल्भा धीरा है, जैसे—

हे चन्द्रे ! तू चन्दन का लेप ले आ, हे कले ! तू कालागुरु का धूप कर । ओ री तरले ! ताम्बूल लाकर दे । शिवे ! तू शृङ्गारशोभा कर । सखी-जनों को इस प्रकार कहकर कमलमुखी (नायिका) ने आसन छोड़कर आये हुए प्रियतम से बात नहीं की । इस तरह चतुरता के साथ उसने वही शङ्कारूप अङ्कुर प्रिय के मन में उत्पन्न कर दिया ।। 63 ।।

नायक को (क्रोध से) फटकारती और पीटती हुयी प्रगल्भा अधीरा जैसे—

क्रोध के कारण भ्रूभंग युक्त अपने लाल मुख को उसने नीचा कर लिया । फिर जब वाणी के द्वारा आक्षेप किया तो मैंने हँसकर (सुरत) वन्ध की रचना प्रारम्भ कर दी और उससे कहा—"हे सुदती (श्रेष्ठ दांतों वाली) ! यह (कोप भी) तो तुम्हारा अनुग्रह है । यह कहे जाने पर केवल आँसू बहाती उस वाला ने मेरा मन अधीर कर दिया ।। 64 ।।

सोल्लुण्ठभाषणेन खेदयती धीराधीरा यथा—

1. सति (मू. पा. टि.)
2. हे (मू. पा. टि.)

सुखयति नयनद्वयं ममैषा तव[1] ननु मूर्त्तिरलङ्कृता विचित्रैः ।
निशि सुरतविदग्धयाङ्गरागाञ्जननखरक्षतभूषणैः समन्तात् ।। 65 ।।

इति प्रगल्भा ।

अथानयोर्ज्येष्ठ[2]कनिष्ठत्वम्[3]—

[4]ढक्किअ लोअणजुअलं इअराए हरिसविअसिअ कवोलम् ।
जं चुंविज्झइ वअणं तंचिअ पणअस्स सोहग्गम् ।। 66 ।।

इति त्रयोदशभेदाः ।

परोढा यथा—

किमकाण्ड एव चलचिल्लिलतं[5] नयनाञ्चलेन मम घूर्णयति ।
हृदयं वदेरिति मुरारिपुरस्तव किं न सन्ति गुरवः प्रणयिन्[6] ।। 67 ।।

कन्या तु मालत्यादिः पित्रानर्पितत्वाच्च परकीयात्वम् ।
साधारणस्त्री रक्ता यथा–मृच्छकटिकायां वसन्तसेना ।
[28ब] विरक्ता यथा लटकमेलने मदनमञ्जरी ।

व्यङ्ग्यपूर्वक कथन से दुःखी होती प्रगल्भा धीराधीरा जैसे—

रात्रि में किसी सुरताविदग्धा नायिका द्वारा अपने अङ्गराग, अञ्जन और नखक्षतों के विचित्र भूषणों से पूर्णतया अलंकृत किया हुआ (नायक का) यह शरीर निश्चय ही मेरे दोनों नेत्रों को वहुत सुख प्रदान कर रहा है ।। 65 ।।

ये प्रगल्भा के उदाहरण दिये गये ।

अब इन दोनों (तीन प्रकार की मध्या और तीन प्रकार की प्रगल्भा) के ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा–ये दो-दो भेद होते हैं । उदाहरण जैसे—

(ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों नायिकाओं के एक स्थान पर वैठी होने पर)

---

1. नायकस्य (मू. पा. टि.) 2. ०ष्ट० 3. ० ष्टत्वम्
4. आच्छाद्य लोचनयुगलं इतराया हर्षविकसितकपोलम् ।
   यत् चुम्व्यते* वदनं तदपि प्रणयस्य सौभाग्यम् ।।
   * नायकेनेति शेषः (मू. पा. टि.)
5. चला या चिल्लिलता भ्रूलता यस्मिन् कर्म्मणि तत् (मू. पा. टि.)
6. हे (मू. पा. टि.)

एक के नेत्रयुगल हाथ से ढककर, दूसरी नायिका के हर्ष से खिले हुए कपोल वाले मुख का नायक जो चुम्बन करता है, वह भी प्रणय का सौभाग्य है ।। 66 ।।

इस प्रकार स्वकीया नायिका के 13 भेद होते हैं (धीरामध्या, अधीरा-मध्या, धीराधीरा मध्या, धीरा प्रगल्भा, अधीरा प्रगल्भा और धीराधीरा प्रगल्भा, इन छह प्रकार की नायिकाओं के पुनः ज्येष्ठा और कनिष्ठा इन दो भेदों के अनुसार बारह भेद होते हैं। एक भेद मुग्धा का मिलाकर स्वकीया नायिका के कुल 13 भेद हो जाते हैं।)

परकीया नायिका—

(परकीया नायिका के दो भेद हैं—परोढा और कन्या) परोढा परकीया जैसे—

हे प्रणयी ! क्या तुम्हारे घर में बड़े बुजुर्ग नहीं हैं जो तुम (मेरे बारे में) मुरारि (कृष्ण) के सामने बोल दिये कि यह (नायिका) बिना अवसर के ही भ्रूलता का संचालन करती हुई अपने नेत्रों के अञ्चल (छोर) से मेरे हृदय को घुमाये डाल रही है ।। 67 ।।

कन्या, जैसे ("मालतीमाधव" में) मालती आदि विवाह न होने से पहले पिता आदि के अधीन रहती हैं, अतः परकीया नायिका है।

साधारण स्त्री—

साधारण स्त्री अनुरक्ता रूप में निबद्ध होने पर जैसे—"मृच्छकटिक" में वसन्तसेना (चारुदत्त के प्रति अनुरक्त है)। साधारणस्त्री विरक्ता (अननुरक्ता) होने पर जैसे—"लटकमेलक" में मदनमञ्जरी।

अथ स्वाधीनभर्तृका यथा—

जनकजा[1] ननु का न पतिव्रता जनकजा[2] ननु का न पतिव्रता ।
[3]जनकजानऽनु का न पतिव्रता जनकजा[4] न नु का न पतिव्रता ।। 68 ।।

---

1. जनकात् जाता सत्पितृजा का पतिव्रता न भवति भवत्येवेत्यर्थः । (मू. पा. टि.)
2. जनकेभ्यो जनकदेशोत्पन्नराजभ्यो जाता का न पतिव्रता (मू. पा. टि.)
3. जनकजान् जनकदेशोद्भवान् अनु अर्थात्परिणीता का न पतिव्रता । पत्यौ व्रतं यस्याः (मू. पा. टि.)
4. जनकजा सीता नु वितर्के पत्युर्व्रतं यस्यां तादृशी नेति न । (मू. पा. टि.)

खण्डिता यथा "न मे हृदयराग" इत्यत्र ।
स्वयमभिसरणान्नायकाभिसारणाद्वाभिसारिका यथा—

चन्द्रज्योत्स्ना धवलधवलैरङ्गकैर्मौक्तिकानां
कान्त्या यान्त्याः कुसुमशिशिरा[1]लेपनेपथ्यलक्ष्मीम् ।
कामं काऽपि स्पृशतु न गतिं शारदीषु क्षपासु
श्वासामोदाऽनुगतमधुपान्[2] केन[3] निह्नोतुमिच्छेत् ।। 69 ।।

उत्सिक्तरससिक्ताङ्गविस्मृताऽशेषबन्धना[4] ।
यथोदेति दया मह्यं सखि[5] तस्य[6] तथा कुरु ।। 70 ।।

कलहान्तरिता यथा—

अधिकन्धरं भुजलता न कृता न निभालितोऽपि नयनेन भृशम् ।
अहह क्षणं न पुनरेष्यति तत् विषमं मया प्रियजने विहितम् ।। 71 ।।

विप्रलब्धा यथा—

वञ्जुललतानिकुञ्जे मधुकरपुञ्जोऽपि रुवति किं कुम्भैः ।
अपनय कुसुमसुगन्धं तवाऽपनयमेमि दूति पुरः ।। 72 ।।

अवस्था-भेद से आठ नायिकाएँ—

1. स्वाधीनभर्तृका जैसे—

(जनकजा ननु) श्रेष्ठ पिता जनक से उत्पन्न कौन पुत्री पतिव्रता नहीं होगी ? (जनकजा ननु) जनकदेश में उत्पन्न राजाओं से उत्पन्न कौन पुत्री पतिव्रता नहीं होगी ? (जनकजान् अनु) जनक देशोत्पन्न पुरुषों से विवाहित कौन स्त्री पतिव्रता (पति में व्रतशीला) नहीं होगी ? (जनकजा नु) राजा जनक की पुत्री सीता के विषय में यह सोचना कि पति का व्रत जिसमें हो ऐसी वह नहीं है—

---

1. शिशिरं चन्दनकर्पूरादि (मू. पा. टि.)
2. मधुपान् मत्तान् भ्रमरान्वा (मू. पा. टि.)
3. केन वस्तुना (मू. पा. टि.)
4. विस्मृतमशेषं बंधनं गुरुजनभयादि यस्यां तादृशी दया मह्यमुदेति तथा कुरु (मू. पा. टि.)
5. हे (मू. पा. टि.)
6. नायकस्य (मू. पा. टि.)

ऐसा निश्चय ही नहीं है। (अर्थात् जो जनकजा सीता है वह पतिव्रता न हो, ऐसा हो नहीं सकता।) ॥ 68 ॥

2. खण्डिता जैसे—

"न मे हृदयराग". इत्यादि (श्लोक–59) उदाहरण में वर्णित है।

3. अभिसारिका—जो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे या रमण हेतु नायक को अपने पास बुलाये, वह अभिसारिका होती है, जैसे—

शरद् ऋतु की रात्रियों में चन्द्रमा की श्वेत ज्योत्स्ना जैसे अत्यन्त श्वेत अंगों और मोतियों की कान्ति से अभिसार के लिए जाती हुई नायिका की शीत पुष्प-चन्दनकर्पूरादि के लेपन एवं वेशभूषा की शोभा को तथा गति को भले ही कोई स्पर्श न करे। लेकिन श्वास की सुगन्ध से अनुगत मत्तजनों अथवा भ्रमरों को किस वस्तु के द्वारा छिपा सकोगी ॥ 69 ॥

(नायिका नायक को बुलाने के लिए दूती भेज रही है–) हे सखि ! अत्यधिक रस से सिक्त अंगवाले (नायक) के मन में समस्त गुरुजनों के भय इत्यादि को भुला देने वाली दया जिस किसी प्रकार से मेरे प्रति जाग सके वैसा ही करो ॥70॥

4. कलहान्तरिता जैसे—

उसके कन्धे पर भुजलता नहीं रखी, नेत्रों से अच्छी तरह देखा भी नहीं। हाय, वह क्षण भी अब दुबारा नहीं आयेगा, खेद है कि मैंने प्रियतम के प्रति बड़ा अनुचित व्यवहार किया ॥ 71 ॥

5. विप्रलब्धा जैसे—

वञ्जुलतानिकुञ्ज में भ्रमरसमूह भी क्रन्दन कर रहा है, हम क्या करें ? हे दूति ! पुष्पसुगन्ध को दूर कर दो। मैं तो (अब) तुम्हारे ही सामने मृत्यु (अपनय) को प्राप्त हो रही हूँ ॥ 72 ॥

प्रोषितभर्तृका यथा—

> मलयमरुत्सहचरतां[1] कामः सोमेन[2] सह चरताम्[3]।
> न मया सह च रतां[4] तां[5] कर्तुं प्रभुरस्ति सहचर[6] तां[7] ताम् ॥ 73 ॥

---

1. सहायतां (मू. पा. टि.)
2. चंद्रेण (मू. पा. टि.)
3. गच्छतु (मू. पा. टि.)
4. रक्तां (मू. पा. टि.)
5. तां मम प्रियां (मू. पा. टि.)
6. हे (मू. पा. टि.)
7. तां तां दुःखितां (मू. पा. टि.)

वासकसज्जा यथा—

कुरु मुकुरमिदानीमञ्जनं रञ्जयेयं
रतिसदनमदीनं हारि[1] पाटीरनीरैः ।
[29अ] अपि निकटमुपेतः प्राणनाथस्तथा
मे कथयति गृहवापीकैरवानां विकासः[2] ॥ 74 ॥

विरहोत्कण्ठिता यथा—

करतलनिहितकपोलं विधूय पुष्पाणि[3] निःश्वसती ।
प्रेयान्नाद्यागत इति विचिन्त्य वाला चिरं रौति ॥ 75 ॥

इत्थमवस्थाभिः पूर्वोक्तनायिकानां सम्भेदेऽष्टाविंशत्यधिकशतं भेदास्तेषामुत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुरशीत्यधिकशतत्रयं भेदाः । इह कन्याऽन्योढे सङ्केतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चादभिसरन्त्यावभिसारिके सङ्केतिताऽप्राप्तौ विप्रलब्धे इति [4]अवस्थितैवेति कश्चित् । अन्योन्य-साङ्कर्येऽन्येपि भेदाः सन्तीति विस्तरभयान्नोच्यन्ते । यथा—

"न खलु वयममुष्य[5] दानयोग्या"[6] इत्यादौ वक्रोक्तिपुरुषवचन कर्णोत्पल-ताड़नादिभिः संकीर्णा ।

इत्यालम्बनम् ।

6. प्रोषितभर्तृका जैसे—

हे मेरे सहचर ! कामदेव चन्द्रमा के साथ मलयपर्वत की सहचरता को

---

1. मनोज्ञं (मू. पा. टि.)
2. ० शः
3. ० नि
4. अवस्थतै०
5. पुष्पस्य (मू. पा. टि.)
6. न खलु वयममुष्य दानयोग्या.
   पिवति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
   व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
   भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥
   —दशरूपक 2, पृ. 140.

प्राप्त करे। किन्तु उस अनुरक्ता और वियोगपीड़िता को मेरे साथ करने में वह समर्थ नहीं है। ("सहचरतां" पद में चारों चरणों में भिन्न अर्थ होने के कारण यमक है।) ॥73॥

7. वासकसज्जा जैसे—

अब दर्पण लाओ, मैं (नेत्रों में) अञ्जन लगाती हूँ। चन्दन-जल से समृद्ध क्रीड़ाभवन को आकर्षक बनाओ। अरे, प्राणनाथ समीप आ गये हैं, जैसा कि घर की बावड़ियों के कुमुदों का विकसित होना मुझे बता रहा है ॥74॥

8. विरहोत्कण्ठिता जैसे—

हथेली पर कपोल रखकर, पुष्पों (के शृङ्गार) को बिखेरकर, निःश्वास लेती हुई बाला "प्रिय आज नहीं आये" ऐसा सोचकर चिरकाल तक रुदन करती है ॥75॥

इस प्रकार अवस्था–भेद से 8 प्रकार की नायिकाओं का पूर्वोक्त 16 प्रकार की नायिकाओं के साथ भेद करने पर $16 \times 8 = 128$ भेद हो जाते हैं। इनके भी उत्तम, मध्यम और अधम भेद करने पर $128 \times 3 = 384$ प्रकार हो जाते हैं। यहाँ पर किसी का कहना है कि परकीया नायिका के परोढा और कन्या दोनों संकेत से पूर्व विरहोत्कण्ठिता, बाद में अभिसरण करने पर अभिसारिका, दत्त-संकेत होने पर भी नायक की प्राप्ति नहीं होने पर विप्रलब्धा, इस प्रकार के अवस्था–भेद हो जाते हैं। नायिका-भेदों में परस्पर साङ्कर्य से अन्य भेद भी हो जाते हैं, परन्तु विस्तार के भय से उनका कथन यहाँ नहीं किया जा रहा है। जैसे—

"न खलु वयममुष्य दानयोग्या" (हम इस पुष्प के दान योग्य नहीं हैं) इत्यादि श्लोक में वक्रोक्ति, कठोरवचन, कर्णोत्पल (कानों में पहने कमल) से पीटने आदि के द्वारा संकीर्णा नायिका है।

इस प्रकार आलम्बन का विवेचन समाप्त हुआ।

उद्दीपनानि चन्द्रोदयमलयमारुतकोकिलविरुतवनशोभापुष्पावचय-मदपानभ्रमरझङ्कारादीनि। तत्र चन्द्रोदयो यथा—

पश्यति कुवलयनयनामालिङ्गति वसुमतीं नगोच्च कुचाम्।
चुम्बति कैरववदनां तिमिरकचग्राहमेष शीतांशुः ॥76॥

अयं सम्भोगस्य ।

विप्रलम्भस्य यथा—

क्व चण्डकरचापलं निशि निरस्तचन्द्रातपं
क्व वाडवधनञ्जयो जलधिमन्तरावर्त्तते ।
[29ब] अयं तु गगनाङ्गणे किरति ^ चक्रवालं रुचां[1]
जगन्ति ननु भस्मसाद्रचयितुं विधेरुद्यमः ॥77॥

एवमन्यदूह्यम् ।

अथानुभावाः—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभंगोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका[2] मताः ॥सू. 74॥

[3]सत्त्वमनुभवन्तीति व्युत्पत्तेः । यथा—

उदञ्चद्रोमाञ्चं श्रमजलकणाक्रान्तवदने[4]
परिम्लानं चाङ्गं श्लथवचनमश्रुस्रुतिरिति[5] ।
जडत्वं चेष्टाभिः कथयसि सकम्पा न च मया-
पराद्धं ते किञ्चिल्लयमिव कथं यासि सुभगे ॥78॥

एते चागन्तुका अपि दृश्यन्ते अनु भावयन्तीति व्युत्पत्तेः तदेतन्नट-मात्रगोचरम् ।

चन्द्रोदय, मलयमारुत, कोकिलरव, वनशोभा, पुष्पावचय, मदपान, भ्रमर-झंकार आदि उद्दीपन हैं । चन्द्रोदय का उदाहरण जैसे—

यह शीतांशु चन्द्रमा नीले कुमुदरूपी नेत्रों वाली पृथ्वी को देखता है । पर्वतरूपी विशाल स्तनों वाली पृथ्वी का आलिङ्गन करता है । अन्धकाररूपी बालों को पकड़कर श्वेत कुमुदरूपी मुखवाली वसुमती का चुम्बन करता है ॥76॥

---

1. रुचां कान्तीनां चक्रवालं मण्डलं किरति (मू.पा.टि.)
2. ०त्विका
3. सत्व०
4. हे (मू.पा.टि.)
5. श्रुश्रुतिरिति

यह सम्भोग शृङ्गार में उद्दीपन का वर्णन है ।

विप्रलम्भ शृङ्गार में उद्दीपन का वर्णन जैसे—

चन्द्रमा की चाँदनी को नष्ट करने वाले प्रचण्ड सूर्य की किरणों की चपलता रात्रि में कहाँ होती है ? समुद्र को छोड़कर वडवाग्नि और कहाँ रहती है ? यह गगन के आङ्गन में विधाता जो किरणों का मण्डल बिखेर रहा है (किरण-जाल फैला रहा है) यह तो सारे संसार को भस्मीभूत करने का उसका प्रयत्न है ।।77।।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण जानने चाहिये ।

अनुभाव—

स्तम्भ, स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपथु (कम्पन), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (चेष्टा और ज्ञान नष्ट हो जाना), ये आठ सात्त्विक अनुभाव माने गये हैं ।।सू. 74।।

"सत्त्व गुण से उत्पन्न होते हैं", इस व्युत्पत्ति के अनुसार सात्त्विक कहलाते हैं । जैसे—

हे पसीनों की बूंदों से आक्रान्त मुखवाली ! तुम्हारा शरीर रोमाञ्च-युक्त है तथा अङ्ग परिम्लान हो रहे हैं, शिथिल वचन हैं, आंसू प्रवाहित हो रहे हैं, चेष्टाओं में जड़ता है, कम्पनयुक्त होकर बात कर रही हो । मेरे द्वारा तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया गया तो फिर हे सुभगे ! तुम कुछ प्रलय (नष्टसंज्ञता) की अवस्था को कैसे प्राप्त हो गयी हो ? ।।78।।

(उक्त श्लोक में आठों सात्त्विक भाव वर्णित हैं ।)

ये अनुभाव "अनु भावयन्ति इति अनुभावाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आगन्तुक भी दिखायी देते हैं, जो केवल नट में दिखायी देते हैं ।

अथ व्यभिचारिणः—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ।।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ।।

सुप्तं [1]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादो मरणं त्रास एव च ॥
वितर्कश्चेति विज्ञेयास्त्रयस्त्रिंशत्समासतः ॥ सू. 75॥

अत्र निर्वेद औदास्यम् । ग्लानिरिन्द्रियमालिन्यम् । दैन्यं चाटुकारिता वचसि । अपस्मारः स्मृतिविनाशः । अवहित्थाकारगुप्तिः । मरणमनुकूलावस्थानाशः न विनाशस्तस्य पुनरुदयाभावात् [30अ] शेषऽमति ʌ रोहितार्थम्[2] ।

एते विभावादयः सम्वलिता[3] रसविशेषव्यक्तिहेतवः ।

रसेष्वपि विभावादिभानं यद्वन्न विद्यते ।
एकस्मिन्न तथेत्येकं नैति कारणकार्यताम् ॥सू. 76॥

तावदेव विभावादीनां भावानां भानं नान्यत्र तदाकारत्वाच्चित्तवृत्तीनां, तथा नैकस्मिन् शुद्धे कार्यकारणकल्पनम् ।

व्यभिचारिभाव—

अब व्यभिचारिभावों का वर्णन करते हैं—

(1) निर्वेद, (2) ग्लानि, (3) शङ्का, (4) असूया, (5) मद, (6) श्रम, (7) आलस्य, (8) दैन्य, (9) चिन्ता, (10) मोह, (11) स्मृति, (12) धृति, (13) व्रीडा, (14) चपलता, (15) हर्ष, (16) आवेग, (17) जड़ता, (18) गर्व, (19) विषाद, (20) औत्सुक्य, (21) निद्रा, (22) अपस्मार, (23) सुप्त, (24) विबोध, (25) क्रोध, (26) अवहित्था, (27) उग्रता, (28) मति, (29) व्याधि, (30) उन्माद, (31) मरण, (32) त्रास और (33) वितर्क, ये संक्षेप में 33 व्यभिचारिभाव जानने चाहिये । ।।सू. 75।।

उदासीनता निर्वेद है । इन्द्रियों की मलिनता ग्लानि है । वचन में चाटुकारिता दैन्य है । स्मृति का विनाश अपस्मार है । आकारगोपन अवहित्था है । अनुकूल अवस्था का नाश मरण है, विनाश नहीं, क्योंकि विनाश का पुनः उदय नहीं हो सकता । शेष का अर्थ स्पष्ट ही है ।

ये विभाव आदि ही मिलकर विशेष रस की अभिव्यक्ति के कारण हैं ।

---

1. विवो०
2. प्रकटार्थमित्यर्थः (मू.पा.टि.)
3. मिलिताः (मू.पा.टि.)

जिस प्रकार से (या जिस रस-विशेष से युक्त होने पर) रसादि में विभावादि का मान नहीं होता। इसी प्रकार से एक विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव में भी रस के सम्बन्ध में कार्यकारणता नहीं हो सकती ।।सू. 76।।

(जब तक रसाभिव्यक्ति नहीं होती) तब तक ही विभावादि भावों का मान रहता है, अन्य स्थल पर नहीं। क्योंकि चित्तवृत्तियाँ उस रस के अनुकूल होती हैं। इसी प्रकार एक शुद्ध रस में कार्यकारण की कल्पना नहीं हो सकती।

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
अनुकूलविभावादिव्यक्तः शृङ्गार उच्यते ।। सू. 77।।

अनुकूलेऽर्थे मनसः प्रणवतारूपव्यक्तस्तस्य चोक्तलक्षणा रतिः स्थायी। नायिका चालम्बनं[1] चन्द्रोदयादिरुद्दीपनं, नायिकाविलासः सात्त्विकादिश्चानुभावः मरणालस्यजुगुप्सोग्रतातिरिक्तः सञ्चारी।

यथा—

व्याजनिमीलितनयनामङ्के विनिवेश्य शङ्कितदृशन्तम्।
यच्चुम्बति हरिणाक्षीं तदेव[2] भणितानि शिक्षयति ।।79।।

यथा वा—

तारुण्यं सुन्दरीणां फलमिव तपसश्चन्द्रिका पुण्यभारः
शृङ्गारः[3] पल्लवानां रुचिरिति भवती लज्जते तद् किमेतद्।
इत्युक्त्वा [4]वीक्षमाणां नतनिटिलचलद्भ्रूलतं[5] प्राणनाथः
पर्यङ्केऽङ्केऽपि बालां [6]रतरभसगलन्नीविवासश्चुचुम्ब ।।80।।

अयं सम्भोगः शृङ्गारः ।।

---

1. ०म्बनं
2. चुम्बनमेव (मू.पा.टि.)
3. आभरणादि शृङ्गारः (मू.पा.टि.)
4. वीक्ष्य०
5. नतंयन्निटिलं ललाटं तत्र चलन्ती भ्रूलता यस्मिन् दर्शनक्रियायाम् (मू. पा. टि.)
6. रतरभसाद्गलन्नीविवासो यस्मिन् चुम्बनक्रियायां (मू. पा. टि.)

शृङ्गार रस—

कामदेव का उद्भेद (अङ्कुरित होना) शृङ्ग कहलाता है। उस शृङ्ग की उत्पत्ति के कारणभूत, अनुकूल विभावादि से व्यक्त होने वाला रस शृङ्गार कहा जाता है ॥सू. 77॥

अनुकूल (प्रिय) वस्तु के विषय में तन्मयता (प्रवणता) के रूप में जो व्यक्त होता है वह उस (शृङ्गार रस) का रतिनामक स्थायी भाव है, जिसका लक्षण पहले कह दिया गया है। शृङ्गार रस में नायिका आलम्बन, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन, नायिका के विलास और सात्त्विकादि अनुभाव हैं। मरण आलस्य, जुगुप्सा और उग्रता को छोड़कर (अन्य सभी) सञ्चारी भाव होते हैं।

जैसे—

किसी बहाने से नेत्र बन्द करने वाली मृगनयनी नायिका को अङ्क में सुला-कर उसके शङ्काकुल नेत्रकोरों का नायक जो चुम्बन लेता है, वह चुम्बन ही नायिका की मणित (सम्भोग के समय उच्चारित अस्पष्ट ध्वनि) सिखाता है ॥79॥

अथवा जैसे—

सुन्दरियों की तरुणावस्था तपस्या के फल के समान, चाँदनी पुष्पभार और आभरणादि शृङ्गार पल्लवों की कान्ति के समान होती है, फिर भी तुम लज्जा करती हो, यह क्या है ? ऐसा कहकर चंचल भ्रूलतायुक्त ललाट को नीचा करके देखती हुई बाला का, सम्भोग की आतुरता के कारण जिसकी नीवि (कपड़े की गांठ) खुलने से वस्त्र खिसक रहा था, प्राणनाथ ने पलंग के पार्श्व में भी चुम्बन कर लिया ॥80॥

यह सम्भोग शृङ्गार है।

यत्र तु प्रकृष्टारतिर्नाभीष्टमुपैति तत्र विप्रलम्भः ॥सू. 78॥

स च अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुकः।

अभिलाषहेतुको यथा—

कदा तदमलेक्षणं सुदति[1] वक्त्रपङ्केरुहं
[30ब] पुरो मम भविष्यति प्र Λ णयिनि क्षणं चिन्त्यताम् ।
त्वयि प्रणिहितेक्षणस्त्वयि निबद्धभावः कथं
निशासु भविता जनस्त्वमिह साक्षिणी स्याः स्वयम् ॥81॥

यथा वा—

मृदुमधुरविचेष्टितानि तस्याः कथमिव सन्तु मनोजमन्थराणि ।
स्मृतिविषयमुपागतेषु येषु[3] क्षणमपि नाऽञ्चति चित्तमन्यतो मे ॥82॥

विरहो यथा—

"करतलनिहितकपोलमि"[4] त्यत्र ।

ईर्ष्या यथा—

दयिते[5] परां[6] प्रशंसति[7] साहजिकीं वृत्तिमवलम्ब्य ।
निःश्वसितग्लपिताधरमाननमेतस्य[8] तिर्यगाक्षिपति ॥83॥

प्रवासो यथा—

प्रातः प्रयाणसमये हृदयेश्वरस्य वातायनोन्मुखतया क्षणमायताक्षी ।
निःश्वासशुष्यदधराश्रुनिपातपीतवैर्या[9] धुनोति हृदयानि पुरः सखीनाम्
॥84॥

शापो यथा—

उपक्रान्तं कोकैः कथमपि सशोकैरिव गिरा
निरस्ताशं पाशं विरचयति नम्रेव नलिनी ।

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. हे (मू.पा.टि.) 1 ०यनि
3. येषु मृदुमधुरविचेष्टितेषु स्मरणभावं प्राप्तेषु (मू. मा. टि.)
4. श्लोक–76
5. भर्त्तरि (मू. पा. टि.)
6. अन्यां नायिकां (मू. पा. टि.)
7. प्रसंशति
8. नायकस्य (मू. पा. टि.)
9. ०तधीर्या

अहो धातर्नातःपरमुचितमेतद्यदकृपम्
निरालोकं लोकं [1]रचयितुमुपात्तः परिकरः ।।85।।

इदं तु प्राचामनुरोधेनोदाहृतं वस्तुतस्तु विशेषानुपलम्भादेक एव विप्रलम्भः शृङ्गारो भवति ।

इति शृङ्गारो रसः ।

जहाँ प्रकृष्ट रति अभीष्ट को प्राप्त नहीं होती, वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार होता है ।।सू. 78।।

उस विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शापरूप हेतु होने से वह पाँच प्रकार का होता है ।

अभिलाषहेतुक जैसे—

हे सुदति (श्रेष्ठ दाँतों वाली) ! वह निर्मल तिरछे कमलनेत्र कब मेरे सम्मुख होंगे । हे प्रियतमे ! क्षणभर सोचो । तुम्हारी ओर ही दृष्टि लगाये हुए, चित्तवृत्ति को तुम्हीं से बांधे हुए यह व्यक्ति (मैं) किस प्रकार (विरह की) रात्रि में (जी रहा) होगा, इस विषय में तुम स्वयं ही साक्षिणी बनो ।।81।।

अथवा जैसे—

उस (नायिका) की कामक्रीड़ा में मन्थर कोमल मधुर चेष्टाएँ (अब) किस प्रकार होंगी ? (वियोग में) उन (मृदु मधुर चेष्टाओं) का स्मरण हो जाने पर मेरा चित्त क्षणभर भी कहीं अन्यत्र नहीं जाता ।।82।।

विरह के कारण विप्रलम्भ-शृङ्गार जैसे—

"करतलनिहितकपोलम्" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक–76 ।

ईर्ष्याहेतुक जैसे—

पति द्वारा अन्य नायिका की प्रशंसा करने पर (नारी सुलभ) सहजवृत्ति का आश्रय लेकर वह नायिका (दीर्घ) निःश्वास से मुरझाए अधर वाले मुख को नायक की ओर कुछ-कुछ तिरछा घुमाकर देखती है ।।83।।

---

1. रचय०

प्रवासहेतुक जैसे—

प्रातः हृदयेश्वर के प्रयाण के समय वातायन की ओर क्षणभर उन्मुख होते ही, दीर्घश्वास से सूखते अधर और अश्रु के प्रवाह ने जिसके धैर्य को पी लिया है, ऐसी विशाल नेत्रों वाली नायिका अपने सम्मुख ही सखियों के हृदयों को विकल बनाती है ॥84॥

शापहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार जैसे—

शोकयुक्त चक्रवाक मानों किसी प्रकार आवाज कर रहा है। कमल-समूह आशारहित हो झुककर मानों पाश-रचना कर रहा है। अहो, हे विधाता ! इससे अधिक यह उचित नहीं है कि तुम अकरुण होकर संसार को आलोकरहित करने के लिये अपना परिकर जुटा रहे हो ॥85॥

यह विप्रलम्भ–शृङ्गार के उक्त पाँच भेदों के उदाहरण प्राचीन आचार्यो के अनुरोधवश दिये गये हैं। वास्तव में इनमें किसी विलक्षणता की उपलब्धि नहीं होती है, अतः विप्रलम्भ–शृङ्गार एक ही होता है।

शृङ्गार–रस का विवेचन समाप्त हुआ।

हासश्चेतोविकाशः स्यात्तत्र हास्यो रसः स्मृतः ॥सू.79॥

रागादिवैकृताच्चेतो विकाशपरिपुष्टो रसो हास्यः। तत्र हासः [31अ] स्थायी, विकृताकारादिरालम्बनं[1], तादृक् चेष्टोद्दीपनं अक्षि^ सङ्कोचादिरनुभावः, निद्रालस्यावहित्थाद्या व्यभिचारिणः। यथा—

विपर्यस्तोष्णीषं[2] कटितटनटद्हस्तमभितः
प्रफुल्लाभ्यां मध्ये सन [य] मलससङ्कोचितदृशा ॥
कपोलाभ्यां लोकान् जनयति मृदु स्मेरवदनान्
स्वयं हूहाशब्दैः परिहसति भण्डः पुनरयम् ॥86॥

यथा वा गङ्गावरे—

श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं, न वा कथं रासभधर्मपत्न्याः ॥87॥

---

1. ॰म्बनं
2. परिवर्त्तितोष्णीषं यथा स्यात्तथा (मू. पा. टि.)

इति हास्यः ।

शोकश्चित्तस्य वैक्लव्यं करुणस्तत्र कीर्त्यते ।।सू.80।।

इष्टनाशादिना चेतो वैक्लव्यं शोकः स्थायी तत्र करुणाख्यो रसो भवति । शोच्यमालम्बनं[1], शोच्यस्य दाहादिरुद्दीपनं, भूपातादिरनुभावः, वैवर्ण्योच्छ्वासस्तम्भप्रलपनमोहापस्मारव्याधिग्लानिश्रमविषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।

यथा—

अहह दहति वह्निः क्रन्दमानाः सखायो
भुवि निपतति जातस्तम्भमाभीरवृद्धः[2] ।
कथमिव परिहारश्चिन्तयेत्याकुलस्य
स्रवति सलिलमक्ष्णोः पुण्डरीकेक्षणस्य ।।88।।

गङ्गाधरे तु—

अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम् ।
हा तनय ! विनयशालिन् ! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ।।89।।

इति करुणः ।

हास्य-रस—

चित्त का विकसित होना हास होता है तथा उससे जनित रस हास्य कहा जाता है ।।सू.79।।

रागादि की विकृति होने पर चित्त के विकास से परिपुष्ट हास्य रस होता है । इसका स्थायिभाव हास है । विकृत आकृति आदि आलम्बन है और विकृत चेष्टा उद्दीपन है । नेत्रसंकोच आदि अनुभाव हैं । निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि व्याभिचारिभाव हैं । जैसे—

उलटी पगड़ी पहनकर अपने हाथों को दोनों ओर कटितट पर नचाता हुआ, फूले हुए (प्रफुल्लित) कपोलों के साथ अलसायी आँखों को मिचमिचाता हुआ यह नट लोगों के मुख पर मधुर मुस्कान ला देता है और स्वयं भी हूहा शब्द के साथ हँसता है ।।86।।

---

1. ० म्वनं
2. नन्दः (मू. पा. टि.)

अथवा जैसे "रसगङ्गाधर" (1, पृ. 184) में—

पुत्र की उक्ति—पूज्य पिताजी के द्वारा रचे गये निवन्ध में यह नवीन युक्ति निरूपित है कि जब गायों का पूर्व अंग पवित्र होता है, तो गर्दभ की धर्मपत्नी का अंग पवित्र क्यों नहीं माना जाये। (धर्मशास्त्र में गौ का पश्चार्द्ध पवित्र बताया गया है, पर यहाँ हास्योत्पत्ति के लिये असंगत बात कही गयी है।) ॥87॥

इस प्रकार हास्य रस का वर्णन पूरा हुआ।

करुण-रस—

चित्त की विकलता शोक है, वही करुण-रस का स्थायी भाव है, ऐसा कहा जाता है ॥सू.80॥

इष्टनाश आदि के कारण चित्त की विकलता को शोक कहते हैं। यही शोक स्थायी भाव है, जो (परिणत होकर) करुण नामक रस होता है। (विनष्ट बन्धु आदि) शोचनीय व्यक्ति आलम्बन, शोचनीय व्यक्ति का दाहकर्म आदि उद्दीपन, भूमि पर गिरना आदि अनुभाव हैं। विवर्णता, उच्छ्वास, स्तम्भ, प्रलाप, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं।

जैसे—

खेद है कि अग्नि (दावाग्नि) प्रज्वलित हो रही है, (गोप) सखा क्रन्दन कर रहे हैं, बूढ़े अहीर (बाबा नन्द) स्तम्भित होकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। सोचो तो इसका कैसे परिहार किया जाये, इस चिन्ता से व्याकुल कमलनयन श्रीकृष्ण के नेत्रों से जल बह रहा है ॥88॥

"रसगङ्गाधर" (1, पृ.156) में—

हे विनयशील पुत्र! समस्त बन्धुओं की चिन्ता छोड़कर, गुरुकुल के प्रेम को भी भूलकर तू कैसे परलोक का पथिक हो गया? ॥89॥

करुण-रस का निरूपण समाप्त हुआ।

[31ब] चित्तविक्लवताहेतुर्भयं तत्र भयान^क: ॥सू.81॥

भयहेतुरालम्बनं[1], घोरतरचेष्टोद्दीपनं, रोमाञ्चादिरनुभावः, संत्रासग्लानिदीनताशङ्काद्या व्यभिचारिणः।

---

1. ० म्वनं

यथा—

अवलोक्य मातरमुपागतां रुषा, दधिभाण्डपाणिरपहर्तुमक्षमः[1] ।
अपि कम्पमानतनुराकुलेक्षणः, परिशुष्यदास्यमभवज्जनार्दनः ॥90॥

इति भयानकाख्यो रसः ।

रौद्रस्तैक्ष्ण्यावबोधात्मक्रोधपोषितविग्रहः ॥सू.82॥

क्रोधः स्थायी, अरिरालम्बनं[2] तच्चेष्टोद्दीपनं, भ्रूविभङ्गोष्ठ[3]दंशनबाहुस्फोटनात्मवृत्तकीर्त्तनाक्षेपतर्ज्जनादिरनुभावः, आवेगोग्रतारोमाञ्चस्वेदमदमोहादयो व्यभिचारिणः ।

यथा—

धिगित्यसकृदुच्चरत्यपि जने पुरो निष्कृपं
[4]गुरोर्गलितगौरवं त्वयि शिरो हठाद्वृश्चति ।
असिः समरसाहसोच्छलदखर्वगर्वज्वरे
पतन् कठिनकण्ठतः पिबतु रक्तधारं[5] पयः ॥91॥

"[6]कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं, मनुजपशुभिरि"दं तु वृत्तिविकलत्वान्नोदाहृतम् ।

यथा वा—

आस्फोट्योद्दण्डबाहुद्वयमहमुचितारम्भसम्भावनीय-
स्तावच्चाणूर[7] गर्ज्ज क्षणमिह नममाया[8]श्चपेटाऽतिथिस्त्वम् ।

---

1. भाण्डे पाणिर्यस्य तादृशो दधि अपहर्त्तुमसमर्थः (मू. पा. टि.)
2. ०म्बनं 3. ० ष्ट ०
4. द्रोणाचार्यस्य (मू. पा. टि.)
5. रक्ता धारा यस्य तत् पयः (मू. पा. टि.)
6. कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्भेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥—का. प्र.—4, 39
7. ० नूर । हे (मू. पा. टि.)
8. नायाः नागच्छेस्त्वं (मू. पा. टि.)

संपिण्ड्याऽद्यं वमुष्ट्या करजठरमुखान्यत्र भोजाधमस्य[1]
तृप्त्यै कीनाशमार्गे तव पलविहितं पिण्डमेप क्षिपामि ॥92॥

इति रौद्र: ।

भयानक-रस—

चित्त को व्याकुल बनाने का कारण जहाँ भय स्थायी भाव होता है, वहाँ भयानक रस होता है ॥सू.81॥

भयानक रस में भय का कारण ही आलम्बन, उसकी अत्यन्त भीषण चेष्टाएँ उद्दीपन, रोमाञ्च आदि अनुभाव, सन्त्रास, ग्लानि, दीनता, शंका आदि व्यभिचारिभाव होते हैं ।

जैसे—

माता को क्रोध के साथ पास आई हुई देखकर, दही के पात्र में हाथ डाले हुए कृष्ण (जनार्दन) उसे बाहर निकालने में असमर्थ हो गये, इसलिए उनका शरीर काँपने लगा, नेत्र व्याकुल हो गये और मुख सूखने लगा ॥90॥

यह भयानक रस है ।

रौद्र-रस—

तीक्ष्णता के अवबोध से युक्त क्रोध से पुष्ट विग्रह (स्वरूप) वाला रस रौद्र-रस होता है ॥सू.82॥

रौद्र-रस में क्रोध स्थायी भाव, शत्रु आलम्बन और उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव होती हैं । भ्रूभंग, ओष्ठ-दंशन, भुजाओं को फैलाना, अपने किये हुए (वीरता आदि) कार्यों की प्रशंसा करना, प्रहार, तर्जन (डांटना) आदि अनुभाव होते हैं । आवेग, उग्रता, रोमाञ्च, स्वेद, मद, मोह आदि व्यभिचरिभाव होते हैं ।

जैसे—

"धिक्कार है" ऐसा बार-बार लोगों द्वारा कहे जाने पर भी निर्दय होकर अपने सामने गुरु द्रोणाचार्य की गुरुता का तिरस्कार करके उनके मस्तक को हठात् (बलपूर्वक) काट देने वाले तथा युद्ध में अपने साहस के छलकते हुए अखण्डित गर्व के ज्वर से युक्त तुम्हारे (धृष्टद्युम्न के) ऊपर गिरती हुई मेरी यह तलवार तुम्हारे कठोर कण्ठ मे रक्त धार वाला जल पिये ॥91॥

---

1. कंसस्य (मू. पा. टि.)

(काव्यप्रकाशकार द्वारा उद्धत) "कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्" इत्यादि पद्य रौद्र-रस के उदाहरण-स्वरूप नहीं देना चाहिये, क्योंकि इसकी रचना में रौद्र-रस को अभिव्यक्त करने वाली आरभटी वृत्ति नहीं है।

अथवा अन्य उदाहरण—

मजबूत बाहुद्वय को फड़काकर उचित रणकौशल के साथ स्वागत करने के योग्य मैं उपस्थित हूँ। चाणूर, तू गर्जन भले ही करले, किन्तु मेरे चपेट-प्रहार का अतिथि बनने के लिए आगे मत बढ़ जाना। आज अपने मुक्कों से नीच कंस के हाथ, पेट और मुख को गठरी की तरह इकट्ठा करके तृप्ति के लिए यह मैं तुम्हारे कच्चे मांस के बने पिण्ड को यम-मार्ग की ओर फेंक रहा हूँ ॥92॥

रौद्र-रस का विवेचन समाप्त हुआ।

[32] संरम्भऽरूपोत्साहाऽन्तःपातीवीरश्चतुर्विधः ॥सू.83॥

चतुर्विध इत्युपलक्षणम्।उत्साहपरिपोषो वीरः, अस्य विजेतव्यादय आलम्बनं[1] तच्चेष्टोद्दीपनं, विपक्षान्वेषणादिरनुभावः, धृतिमतिगर्वरोमाञ्चादयो व्यभिचारिणः।

क्षुद्राः केऽमी क्षितीशाः क्व च स्मरकथाप्रेक्षणीयाः कुमाराः[2]।
संरम्भारम्भदम्भोद्भटभुजयुगलं कञ्चिदन्वेषयामि।
इत्थं जल्पत्यनल्पं कुरुकुलतिलके[3] वायुसूनोः[4] सवर्ग
सभ्रूभंगं कटाक्षाः करकलितगदागौरवं भावयन्ति ॥93॥

चतुर्विध इति दानदयाधर्म[युद्ध] भेदात्।

दानवीरो यथा—

अजाविकमिवेभानां यूथं केमी तुरङ्गमाः।
कणतां कनकं याति दानोद्यतकरे मयि ॥94॥

इदं तु नोदाहार्यम्—

त्वयि दातरि दानवेन्दो[5] लज्जाभरनम्रः सुरकाश्यपीरुहः[6]।
कतिचिद्दिवसेषु भूमिलोकैः कृतपुष्पावचयो भविष्यति ॥95॥

---

1. ०म्वनं
2. नकुलादयः (मू.पा.टि.)
3. दुर्योधने (मू.पा.टि.)
4. भीमस्य (मू.पा.टि.)
5. ०वेन्दु
6. कल्पवृक्षः (मू.पा.टि.)

वर्णनीयविषयिककविरतेरेव मुख्यत्वात् ।

धर्मवीरो यथा[1]—

किमिदं वस्तु वा नृपासनं न च धर्मादपयाति मन्मनः ।
अपि कौशिक[2] दासताऽस्तु[3] मे, न कथञ्चिन्मयि रुष्यतां भवान् ।।96।।

दयावीरे नागानन्दः[4]—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतोऽगुरुत्मन्[5] ।।97।।

[32ब] एवमेव पाण्डित्यवीरक्षमावीरसत्यवीराणामुदाहरणमुन्नेयम् । वस्तुतस्तु अरिविषय एव वीरः दानदयादिकं तु शान्तस्य नर्ममात्रम् ।

इति वीर ।

वीर-रस—

कार्य करने में उत्कट आवेश (संरम्भ) रूप उत्साह नामक स्थायिभाव-युक्त वीर-रस चार प्रकार का होता है ।।सू. 83 ।।

"चतुर्विध"—यह उपलक्षण है । उत्साह नामक स्थायीभाव से परिपुष्ट वीर रस है । जीतने योग्य (व्यक्ति) इस वीर रस का आलम्बन, उस (व्यक्ति) की चेष्टा उद्दीपन और विपक्ष का अन्वेषण आदि अनुभाव होते हैं । धृति, मति, गर्व, रोमाञ्च आदि व्यभिचारिभाव हैं ।

क्या हैं वे क्षुद्र राजा और कहाँ हैं युद्धकथा में देखने योग्य नकुल आदि कुमार ? मैं तो क्रोधयुक्त युद्ध से विशिष्ट अहंकारयुक्त भुजयुगल वाले किसी (योद्धा) को खोज रहा हूँ । इस प्रकार दुर्योधन के बहुत अधिक बोलने पर भीम के गर्व और भ्रूभंग से युक्त कटाक्ष उसके हाथों में सुशोभित गदा का गौरव प्रकट कर रहे हैं ।।93।।

---

1. *हरिश्चन्द्रस्य वचः (मू.पा.टि.)
   *हहञ्च०
2. विश्वामित्र (मू.पा.टि.)
3. किंकरत्वमस्तु (मू.पा.टि.)
4. नाटकः (मू.पा.टि.)
5. हे (मू.पा.टि.)

(उपर्युक्त युद्धवीर के अतिरिक्त) दान, दया और धर्म के भेद से वीर चार प्रकार का होता है।

दानवीर जैसे—

दान देने को मेरा हाथ उद्यत होने पर ये घोड़े तो क्या हाथियों का समूह भी बकरियों (छोटे पशुओं) के समान लगता है और स्वर्ण कण-स्वरूप (तुच्छ) हो जाता है ।।94।।

दानवीर का ऐसा उदाहरण नहीं होना चाहिये—

हे दानवेन्दु ! तुम्हारे दान देने के लिए उद्यत होने पर लज्जा के भार के कारण नम्र हुआ कल्पवृक्ष कुछ ही दिनों के लिए पृथ्वी के राजाओं द्वारा पुष्प चुनने योग्य हो जायेगा ।।95।।

यहाँ कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव ही प्रधान है। (अतः उत्साह "दानवीर" रसरूप में परिणत नहीं हो सकता। इसलिए यह श्लोक भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, रसध्वनि का नहीं।)

धर्मवीर जैसे—

(हरिश्चन्द्र का कथन—) यह धन अथवा राजसिंहासन क्या है ? मेरा मन धर्म से नहीं हट सकता। इसके अतिरिक्त विश्वामित्र की दासता मेरे लिए हो, आप किसी प्रकार भी मेरे ऊपर क्रोधित न हों ।।96।।

दयावीर का उदाहरण "नागानन्द" नाटक में—

(गरुड़ के प्रति जीमूतवाहन की उक्ति—) हे गरुड़ ! छिन्न नाड़ियों के मुख से अब भी रक्त निकल रहा है, मेरे शरीर में मांस भी है। मैं देखता हूँ कि अब भी तुम्हारी तृप्ति नहीं है। फिर भी तुम खाने से विरक्त क्यों हो गये हैं ? ।।97।।

इसी प्रकार पाण्डित्यवीर, क्षमावीर, सत्यवीर के उदाहरण भी हो सकते हैं। वास्तव में शत्रुविषयक ही वीर होता है, दानदया आदि तो शान्त के नर्म-मात्र हैं।

वीर-रस का विवेचन समाप्त हुआ।

दोषेक्षणाद्‌गर्हणादिवृत्तो वीभत्स उच्यते ।।सू. 84।।

जुगुप्सादि परिपोषो वीभत्सः पिशिताद्यालम्वनं[1], तत्र कृमिपाताद्युद्दीपनं, [2]निष्ठीवननेत्रसङ्कोचाद्यनुभावः, मोहापस्मारव्याद्याया व्यभिचारिणः। यथा—

मेदो मांसाऽस्रपङ्कं पलभुजि[3] तरलं पश्यति प्रेतरङ्कः
कृत्वाऽङ्के कश्चिदोष्ठं[4] दशति करपुटीमेष गृध्रो लुनीते।
इत्थं [5]वीभत्सुरुच्चैः करपिहितमुखाकुञ्च्यमाणाऽक्षिघोणं
सायं संग्राममूर्मौ हरिमुचितपदं याहि याहीत्यवोचत् ॥98॥

इति वीभत्सः।

चेतोविकाशो यस्तत्र लोकसीमातिवर्तिनि अद्भुतो ॥सू. 85॥

अलौकिकचमत्कारजनकं वस्त्वालम्वनं[6], तन्महिमोद्दीपनं, स्तम्भस्वेदरोमाञ्चनेत्रविकाशादिरनुभावः, वितर्कावेगहर्षाद्या व्यभिचारिणः। यथा—

अहो रक्ताभ्राणां पटलमिमचर्माभमधुना
पुराकारं भूयो व्रजति विरलं [7]संहतमथ।
पुनश्चित्राकारं करधृतनवोष्णीषमभित—
श्चलदृष्ट्या स्पष्टं सचकितमिदं पश्यति जनः ॥99॥

[33अ] इत्यद्भु ^ तः।

अन्यो रसः शान्तः प्रशमादौ स भासते ॥सू. 86॥

शमपरिपोषः शान्तः, अशेषवस्तुनिस्सारतालम्वनं[8], पुण्यतीर्थाद्युद्दीपनं, रोमाञ्चादिरनुभावः, निर्वेदादयो व्यभिचारिणः। यथा—

निस्सारसंसारविहारखिन्नं परिभ्रमन्तं व्रजवीथिकासु
सहेलमानन्दसमाधिमग्नं तिरस्करिष्यन्ति कदा कुमाराः ॥100॥

---

1. ०म्वनं
2. निष्टी०
3. राक्षस (मू.पा.टि.)
4. ०ष्टं
5. वीभत्सुरर्ज्जुनः (मू.पा.टि.)
6. ०म्वनं
7. मिलितं (मू.पा.टि.)
8. ०म्वनं

अत्र प्रीतप्रेयान्वत्सलादयोऽन्तर्भाविता द्रष्टव्याः ।

रसाभासादयस्तु पूर्वमुक्ताः ।

इति श्री काव्यालोके तृतीयो रसविलासप्रकाशः समाप्तः ॥3॥

वीभत्स-रस—

दोष-दर्शन के कारण (किसी वस्तु के प्रति) घृणा (गर्हना) आदि वृत्ति होने पर वीभत्स रस कहा जाता है ।।सू. 84।।

जुगुप्सा आदि का परिपोष वीभत्स-रस है। मांस आदि आलम्बन है। वीभत्स रस में कृमिपात (कीड़े पड़ जाना) आदि उद्दीपन विभाव हैं। थूकना, नेत्र बन्द कर लेना आदि अनुभाव हैं। मोह, अपस्मार, व्याधि आदि व्यभिचारिभाव हैं, जैसे—

चमकदार चर्वी, मांस और रुधिर के ढेर को मांसभक्षी राक्षस देखता है। प्रेतरूपी रंक गोद में रखकर किसी ओष्ठ को काटता है। यह गिद्ध कटी हुई हाथ की अंजलि को खाता है। इस प्रकार युद्धभूमि में सांयकाल घृणा करते हुए (अर्जुन) ने हाथ से मुख छुपाकर आँख और नासिका को संकुचित करते हुए उच्च स्वर से "उचित स्थान पर जाइए, जाइए", ऐसा हरि (श्रीकृष्ण) से कहा ॥98॥

वीभत्स-रस का विवेचन कर दिया ।

अद्भुत रस—

पदार्थ या वस्तु के लोकसीमा का अतिक्रमण करने पर जो चित्त का विस्तार (विस्मय) है, वही अद्भुत-रस है ।।सू. 85।।

अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाली वस्तु अद्भुत रस का आलम्बन, वस्तु की महिमा उद्दीपन है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, नेत्र-विकास आदि अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारिभाव हैं। जैसे—

अहो, इस समय रक्तिम बादलों का समूह हाथी के चर्म की कान्ति जैसा दिखता है, अब पुर के आकार को प्राप्त करता है, फिर विरल हो जाता है, पुनः मिलकर सघन हो जाता है। पुनः विचित्र आकार धारण कर लेता है। अपने सम्मुख आकाश में इस बादल को लोग हाथ से नवीन उष्णीष को पकड़कर चंचल दृष्टि से चकित होकर स्पष्ट देखते हैं ॥99॥

अद्भुत रस का निरूपण कर दिया है ।

शान्त रस—

(उक्त आठ रसों के अतिरिक्त) अन्य शान्त रस है। वह प्रशम आदि से भासित होता है ॥सू. 86॥

शम स्थायिभाव से परिपुष्ट शान्त रस होता है। इसमें समस्त वस्तु की निस्सारता आलम्बन, पुण्य तीर्थ आदि उद्दीपन हैं। रोमाञ्च आदि अनुभाव और निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव हैं। जैसे—

निस्सार संसार के विहार से खिन्न व्रज की गलियों में घूमते हुए तथा हेला के साथ आनन्द-समाधि में मग्न होने वाले का कुमारजन कब तिरस्कार करेंगे ॥100॥

स्नेही व्यक्ति के प्रति प्रदर्शित वात्सल्य आदि रस का अन्तर्भाव देखना चाहिये। (पृथक्रूप से यह रस नहीं मानने चाहिये)।

रसाभास आदि का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

इस प्रकार काव्यालोक का तृतीय "रसविलास" नामक प्रकाश समाप्त हुआ।



चतुर्थः प्रकाशः

निर्दोषं[1] गुणवत्काव्यं सालङ्कारं सुखाप्तये ।
इति दोषा विविच्यन्ते समासात्काव्यशुद्धये ।। सू. 87 ।।

दोषाणां मलरूपत्वात् विवेकवह्निसन्निधाने काव्यसुवर्णस्य परिशुद्धि-रित्याशयः ।

अपकर्षः प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ[2] ।। सू. 88 ।।

दोषः प्रधानस्यापकर्षः प्रधानो रसः रसमात्रप्रतिवंधकतावच्छेदरूपः । तेन श्रोत्रकटुत्वादिरनित्यः । तथाह गङ्गानन्दः—

रसत्वव्याप्यधर्म्मावच्छिन्नोपस्थितिवाध्यतानिरूपित-
प्रतिवन्धकतावच्छेदकरूपत्वं तत्त्वं[3] आह्लादक्षतिः ।।

[4]इति तु युक्तम् ।

दोषाः श्रुतिकटुर्वर्णः कार्त्तार्थ्यं प्राप्यते कदा ।

माधुर्याऽव्यञ्जकपरुषवर्णमयत्वमित्यर्थः । यथा कार्त्तार्थ्यमिति[5] ।
[6]च्युतसंस्कृतिकं प्रोक्तं ते स्तनावनुनाथते[7] ।

तत्तद्व्याकरणाऽसाधुपदसमभिव्याहारादित्यर्थः । आशिष्येव [33ब] नाथतेरात्मनेपदनियमात् ।

---

1. ० दोंषं
2. आह्लादेति स्वमतं (मू. पा. टि.)
3. रसत्वं (मू. पा. टि.)
4. पाण्डुलिपि में सन्धि करके "आह्लादक्षतिरिति" लिखा है ।
5. कृतार्थस्य भावः (मू. पा. टि,)
6. च्युतिसं ०
7. याचते (मू. पा. टि.)

दोष–विवेचन —

दोष-रहित, गुणयुक्त तथा अलंकारसहित काव्य आनन्द की प्राप्ति के लिये होता है। अतः काव्य की शुद्धि के लिये, संक्षेप में, दोषों का विवेचन किया जा रहा है ॥ सू. 87 ॥

अभिप्राय यह है कि दोष मलरूप है और विवेक रूपी अग्नि में रखने पर काव्यरूपी स्वर्ण की शुद्धि होती है।

प्रधान (रस) का अपकर्ष अथवा आह्लाद का क्षय जिससे होता है वह दोष है। ("आह्लादक्षति" हरिप्रसाद का स्वमत है।) ॥ सू. 88 ॥

दोष प्रधान का अपकर्ष करने वाले हैं। प्रधान का अभिप्राय है "रस"। दोष रस में अवरोध करने वाले होते हैं। इनमें श्रुतिकटु आदि दोष अनित्य हैं। जैसा कि गङ्गानन्द ने कहा है—

रसत्व में व्याप्त धर्म से अवच्छिन्न उपस्थिति बाध्यता से निरूपित प्रतिबन्धकतावच्छेदक रूपत्व तत्त्व (रसत्त्व) ही "आह्लादक्षति" है—ऐसा कहना उचित है।

(1) श्रुतिकटु—

कठोर वर्णरूप श्रुतिकटु दोष होता है, जैसे—वह कब कार्तार्थ्य (कृतार्थत्व) प्राप्त होगा।

माधुर्य की अभिव्यञ्जना न करने वाले कठोर वर्णों का जब प्रयोग किया जाये तो श्रुतिकटु दोष होता है। जैसे यहाँ "कार्तार्थ्य" पद (श्रुतिकटु) है।

(2) च्युतसंस्कार—

च्युतसंस्कार दोष का उदाहरण दिया है—तुम्हारे स्तनों के लिये प्रार्थना करते हैं।

व्याकरण के नियम के अनुसार साधुपद नहीं होने पर च्युतसंस्कार दोष होता है, यह अर्थ है। "आशिषि नाथः" इस सूत्र से "नाथ्" धातु से आशीः अर्थ में ही आत्मनेपद का विधान किया गया है। परन्तु यहाँ याचना अर्थ में आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है। अतः "अनुनाथते" पद च्युतसंस्कार दोष से युक्त है।

अप्रयुक्तं पिशाचोऽस्य दैवतः क्रूरकर्म्मणः ।

आम्नातमपि महाकविभिरनादृतम् । यथा दैवतशब्दस्य पुंस्त्वमादृत-मप्यप्रयुक्तम् ।

असमर्थमयं गङ्गां हन्ति सम्प्रति सादरम् ।

प्रयुक्तार्थे प्रयोजितमप्यगृहीतशक्तिकं पदम् । यथा हन्तीति गमनार्थे ।

[1]निहतार्थं यथा पादलाक्षाशोणित[2]कुंतल ।

रूढ्योपात्तसङ्केतस्य यौगिकसङ्केतप्रापणम् । यथोज्ज्वलीकृतरूपार्थस्य ।

रणाऽश्वमेधपशुतास्वर्गायाऽनुचितार्थकम् ।

स्तोतव्यनिन्दार्थयोः प्रतिकूलार्थबोधकमनुचितार्थम् । पशुपदं कात-रताव्यञ्जकमित्यनुचितम् ।

निरर्थकं यथा शम्भोः कान्तयश्च[3] हिमप्रभाः ।

वाक्यार्थानुपकारमव्ययमित्यर्थः ।

अवाचकं यथा जन्तुः[4] किं गणस्य करिष्यति ।

अत्र जन्तुपदं विवक्षितार्थस्याऽवाचकं तात्पर्यविषयीकृतवस्तुप्रकार-कज्ञानाऽभावबोधकमित्यर्थः ।

(3) अप्रयुक्त—

अप्रयुक्त दोष जैसे—क्रूरकर्म करने वाले इसका उपास्य देवता कोई पिशाच है ।

कोश आदि में उस अर्थ में पढ़ा हुआ होने पर भी कवियों द्वारा अपनाया हुआ नहीं होने पर अप्रयुक्त दोष होता है । जैसे यहाँ दैवत शब्द का पुंल्लिङ्ग में

---

1. निहि ०
2. शोणितशब्दो रुधिरे रूढः उज्ज्वले तु यौगिकः (मू. पा. टि.)
3. अत्र चकारोऽनर्थकः (मू. पा. टि.)
4. जन्तुपदं कीटादौ अत्र तु सूरादि पदापेक्षा (मू. पा. टि.)

प्रयोग ("दैवतानि पुंसि वा" इस प्रकार अमरकोश में) कहा गया है फिर भी महाकवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं हुआ है, अतः अप्रयुक्त दोष है।

(4) असमर्थ—

असमर्थ का उदाहरण जैसे—अब यह आदरसहित गङ्गा जा रहा है।

प्रयुक्त अर्थ में कहे जाने पर भी पद की उस अर्थ में शक्ति न होने पर असमर्थ दोष कहते हैं। जैसे यहाँ "हन्ति यह पद गमनार्थ में असमर्थ है।

(5) निहतार्थ—

निहतार्थ जैसे—चरणों के लाक्षारस से उज्ज्वल कुन्तल हैं।

रूढ्यर्थ में संकेतित शब्द का यौगिक अर्थ में संकेत प्राप्त कराना (दोनों अर्थों का वाचक होने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में शब्द प्रयुक्त हो वह) निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे यहाँ शोणित शब्द रुधिर अर्थ में रूढ है और उज्ज्वल अर्थ में यौगिक है। पर यहाँ उज्ज्वल अर्थ में प्रयोग किया गया है।

(6) अनुचितार्थ—

अनुचितार्थ का उदाहरण—रणरूपी अश्वमेध यज्ञ में पशु के समान (वीर लोग) स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

स्तुति और निन्दा बोधक शब्दों में प्रतिकूल अर्थ का बोध होना अनुचितार्थ दोष है। जैसे यहाँ पशु-पद (मारे जाने वाले की) कातरता का अभिव्यञ्जक है, अतः (वीरता के वर्णन में) अनुचित है।

(7) निरर्थक—

निरर्थक दोष का उदाहरण जैसे—शम्भु की कान्तियाँ हिम की प्रभा वाली हैं।

वाक्यार्थ में उपकारक (सहायक) न होने वाले (पादपूर्ति मात्र के लिये प्रयुक्त चकार आदि) पद निरर्थक होते हैं। जैसे उक्त उदाहरण में "कान्तयश्च" में प्रयुक्त चकार अनर्थक है।

(8) अवाचक—

अवाचक जैसे—एक जन्तु (व्यक्ति) गण का क्या कर लेगा।

("जन्तु" पद कीट आदि अर्थ का वाचक है, यहाँ व्यक्ति आदि पद की अपेक्षा में प्रयुक्त है। अतः जन्तुपद विवक्षित अर्थ का वाचक नहीं है। अर्थात् तात्पर्य के विषयीभूत वस्तु-प्रकारक ज्ञान के अभाव का बोधक है, यह आशय है।

ग्राम्यं कटिस्तवाऽत्यर्थं मदीयं हरते मनः ।

लोकमात्रप्रसिद्धं ग्राम्यं यथा कटिपदम् ।

सन्दिग्धमबले पश्य नखे रागोऽभ्रसंभवः ।

तात्पर्यसंशयकृत् करावयवे गगननिषेधेवेति तात्पर्यसंशयः ।

अप्रतीतं यथा ज्ञानदलिताशयनिर्मलः ।

[34 अ] शास्त्रैकप्रसिद्धमित्यर्थः । यथा आशयशब्दो योगशास्त्रे वासनायां प्रसिद्धः ।

व्रीडाजुगुप्साऽमाङ्गल्यपदमश्लीलमुच्यते ।
साधनं[1] सुमहद्वायुर्विनाशयति पार्थिवान् ॥

साक्षाद्व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलद्योतकं पदं यथा क्रमेण साधनवायुविनाशशब्दाः ।

नेयार्थमिन्दुं कुरुते चपेटापातनाऽतिथिम् ।

निषिद्धलाक्षणिकमित्यर्थः । चपेटापातने निर्जितत्वं लक्ष्यम् ।

क्लिष्टमत्रिदृगुल्लासभासिभिः सदृशं यशः ।

व्यवधानेनार्थप्रत्ययः । यथा अत्रिदृगुल्लासश्चन्द्रः तेन भासिभिः कुमुदैः समानं यशः ।

(9) ग्राम्य—

ग्राम्य दोष का उदाहरण जैसे—तुम्हारी कमर मेरे मन को अत्यधिक आकर्षित कर रही है ।

जो शब्द केवल लोक में प्रसिद्ध होता है वह ग्राम्य है जैसे "कटि" पद ग्राम्य है ।

(10) सन्दिग्ध—

सन्दिग्ध दोष जैसे—हे अबले ! देखो बादल से उत्पन्न राग नख में है (नखे) अथवा आकाश में नहीं है (न खे) ।

जहाँ अर्थ संशययुक्त होता है, वहाँ सन्दिग्ध होता है । यहाँ "नखे" शब्द में हाथ के अवयव नख से अभिप्राय है या आकाश का निषेध किया गया है, इस अर्थ में संशय होता है ।

---

1. साधनपदं गुदे वायुपदं अपानवायौ (मू. पा. टि.)

(11) अप्रतीत—

अप्रतीत दोष का उदाहरण जैसे—ज्ञान से "आशय" (अर्थात् वासना नामक संस्कारों) को विनष्ट करके जो निर्मल हो गया है।

जो शब्द किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध है (अर्थात् पारिभाषिक शब्द है उसका साधारण रूप में प्रयोग करना) अप्रतीत दोष होता है। जैसे 'आशय' शब्द योगशास्त्र में वासना (शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न संस्कार) के वाचक रूप में प्रसिद्ध है (लोक में नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में इस शब्द का प्रयोग अप्रतीत दोष है)।

(12) अश्लील—

व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल के व्यञ्जक पद होने पर अश्लील नामक दोष कहा गया है। जैसे—इसका साधन अत्यन्त बड़ा है तथा वायु पार्थिवों को तितर-बितर कर देती है।

इन वाक्यों में "साधन" पद (गुदा का वाचक होने से) व्रीडा (लज्जा) का द्योतक है। "वायु" शब्द (अपानवायु का सूचक होने से) जुगुप्सा का व्यञ्जक है और विनाश शब्द (मरण का बोधक होने से) अमङ्गल का व्यञ्जक है।

(13) नेयार्थ—

नेयार्थ दोष का उदाहरण जैसे—(तुम्हारा मुख) चन्द्रमा को भी चपत लगा रहा है।

निषिद्ध लक्षणावाला पद नेयार्थ है (अर्थात् लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव में भी लक्षणा का प्रयोग करने पर नेयार्थ दोष होता है।)जैसे यहाँ थप्पड़ लगाने से "तिरस्कृत कर देना" (जीत लेना), यह अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है (परन्तु रूढ़ि अथवा प्रयोजनरूप लक्षणा के हेतु न होने से नेयार्थ दोष है)।

(14) क्लिष्ट—

क्लिष्ट दोष जैसे–अत्रिमुनि के नेत्र के प्रकाश (चन्द्रमा) से खिलने वाले (कुमुदों) के समान यश है।

व्यवधान से अर्थ की प्रतीति होने पर क्लिष्ट दोष होता है। जैसे उक्त उदाहरण में अत्रिमुनि के नेत्रों का प्रकाश चन्द्रमा है, उससे (चन्द्रमा से) खिलने वाले "कुमुदों" के समान यश है, यह अर्थ व्यवधान से प्रतीत होता है। अतः क्लिष्ट दोष है।

अविमृष्टविधेयांशो विधेयस्याऽविमर्शनात् ।
अयथावद्विनिर्देशो[1] यथोदाहृतिरूह्यताम् ।।

स्पष्टम् । यथा वा[2]—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताऽविरलगल[3]गलद्रक्तसंसक्त[4]धारा
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्[5] ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरी[6]रक्षणे यत्प्रयासः ।। 101 ।।

यथा वा—

रसैः कथा यस्य सुधावधीरणीनलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्त्रितज्वलत्प्रतापानलकीर्त्तिमण्डलः[7] ।। 102 ।।

यथा वा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः ।
[34ब] सोप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः ।।
धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा ।
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठ[8]नवृथोच्छूनैः[9] किमेभिर्भुजैः ।। 103 ।।

अकार्यमित्रमित्यादौ विरुद्धमतिकृद्यथा ।

---

1. विधेयांशोविमृष्ट इत्यपेक्षितं । अविमृष्टेत्यादि कथनमेवोदाहृतिः । (मू. पा. टि.)
2. मुरारिनाटके रावणवाक्यं (मू. पा. टि.)
3. कंठ (मू. पा. टि.)
4. संसिक्त०
5. अत्र विधेयं दोष्णां* मिथ्यामहिमत्वं तत्समासेन पिहितं दोषः मूर्ध्नां (मू. पा. टि.)
   * दोष्णा
6. लङ्का (मू. पा. टि.)
7. अत्र सितातपत्त्रितं विधेयं तत्समासेन पिहितं अविमृष्टविधेयांशो दोषः (मू. पा. टि.)
8. ०ण्ट०
9. अत्र भुजनिष्ठं वृथोच्छूनत्वं विधेयं तत्समासेन पिहितमतो दोषः (मू. पा. टि.)

विरुद्धबु[1]द्धिहेतुरित्यर्थः कार्य्यं विनेति विवक्षिते अकार्येपु मित्रमिति प्रतीतिः ।

(15) अविमृष्टविधेयांश—

जहाँ विधेय अंश का विमर्श (प्रधानरूप से परामर्श) न होने से अयथावद् विनिर्देश होता है, वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है। यह अविमृष्टविधेयांश उदाहरणों के अनुरूप समझ लेना चाहिये।

यह स्पष्ट ही है अथवा अन्य उदाहरण है—

("मुरारिनाटक" में रावण की उक्ति है—) उद्धतता के साथ निरन्तर काटे गये कण्ठों से बहती हुई रक्त की अविच्छिन्न धारा से धोये हुए शिवजी के चरणों के प्रसाद से प्राप्त विजय से जगत् में मिथ्या महिमा को प्राप्त हुए मेरे इन दस सिरों का और कैलास को उठाने की कामना के सूचक तीव्र अभिमान से गर्वित मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है कि इस लंका नगरी की रक्षा में प्रयास करना पड़े ? ॥ 101 ॥

यहाँ मिथ्यामहिमशालित्व विधेय है। इसके समास में आ जाने से प्रधानता नष्ट हो गयी है अतः अविमृष्टविधेयांश दोष है।

अथवा अन्य उदाहरण—

रसों के कारण जिसकी कथा सुधा का तिरस्कार करने वाली है, वह गुणों में अद्भुत, सुवर्ण दण्ड से युक्त श्वेत छत्र से मण्डित तथा प्रताप रूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित कीर्ति मण्डल वाला यह पृथ्वीपति राजा नल हुआ ॥ 102 ॥

यहाँ "सितातपत्रित" विधेय है जिसके समास में आ जाने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है।

अथवा अन्य उदाहरण—

(रावण की गर्वोक्ति है—) संसार में शत्रुओं का होना ही मेरा अपमान है, उस पर भी यह तपस्वी (मेरा शत्रु) है। वह भी यहीं है और राक्षस वीरों का नाश कर रहा है, इस पर रावण जीवित है, यह आश्चर्य की बात है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है। अथवा जगाये गये कुम्भकर्ण से भी क्या लाभ हुआ ? स्वर्गरूपी तुच्छ ग्राम को लूटकर व्यर्थ ही गर्व से फूली हुई भुजाओं से क्या फल है ? ॥ 103 ॥

---

1. ०न्यु०

यहाँ भुजनिष्ठ वृथा उच्छ्वनत्व विधेय है अतः वृथात्व को समास में नहीं रखना चाहिये। परन्तु यहाँ वृथात्व को समास में रखने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है।

(16) **विरुद्धमतिकृत्**—

विरुद्धमतिकृत दोष जैसे—(वह) निःस्वार्थ मित्र है।

विरुद्ध बुद्धि को पैदा करने वाला विरुद्धमतिकृत् दोष है। जैसे यहाँ बिना कार्य (बिना स्वार्थ) के मित्र यह अर्थ विवधित है परन्तु "अकार्यमित्रम्" पद से बुरे कार्य में सहायक मित्र, इस अर्थ की प्रतीति होती है (अतः यह प्रयोग विरुद्ध-मतिकृत् दोष है)।

एतेवाक्यगता[1]स्तद्वत्सोऽध्यैष्टागमसंहिताः।

इदं श्रुतिकटोरुदाहरणम्[2]।

तदुक्तम्—

> अपास्य च्युत[3]संस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
> वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन॥

पदस्यांशे यथा—

> अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्।
> परिणतिविरसत्वात् सङ्गमेनाङ्गनायाः॥ 104 ॥[4]

अत्र त्वादिति[5]।

---

1. एते दोषा यथा पदस्याः तथा वाक्येऽपि भवन्तीति (मू. पा. टि.)
2. स आगमसंहिता अध्यैष्टेति वाक्ये श्रुतिकटुदोषः (मू. पा. टि.)
3. च्युति॰
4. अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्
   परिणतिविरसत्वात् संगमेनांगनायाः।
   इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम–
   स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा॥ का. प्र. 7–197
5. पुनः पुनरुच्चरित त्व पदांशेन दोषः (मू. पा. टि.)

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।।[1] 105 ।।

अत्र ल्यप्बाहुल्यं इत्याद्युदाहार्यम् ।

वर्हिनिर्ह्लादिना[2] हेयमित्यादौ ते समासगाः ।
ते श्रुतिकट्वादयः एवमन्येप्युदाहर्त्तव्याः ।।

वाक्यगत दोष—

ये दोष जिस प्रकार पद में होते हैं, वैसे ही वाक्य में भी होते हैं । जैसे—उसने आगम संहिता का अध्ययन किया ।

यह वाक्यगत श्रुतिकटु दोष का उदाहरण है ।

("काव्यप्रकाश" में) यह कहा गया है—

च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक, इन तीन पद-दोषों को छोड़कर ये दोष वाक्य में भी होते हैं और कुछ पदांश में भी होते हैं ।

पदांश दोष—

पदांश (श्रुतिकटु) दोष का उदाहरण जैसे—

अत्यन्त चञ्चल, स्वप्न और माया के समान (भ्रान्तिस्वरूप) और परिणाम में नीरस (दुःखकारी) होने के कारण स्त्री का संग नहीं करना चाहिये ।। 104 ।।

यहाँ बार-बार उच्चरित (प्रयुक्त) "त्वात्" यह पदांश श्रुतिकटु दोष है । (अन्य उदाहरण-)

नायिका ने अपने शयनकक्ष को शून्य (सखियों से रहित), देखकर अपने विस्तर से कुछ धीरे से उठकर नींद का बहाना करके लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देखकर…………।। 105 ।।

1. शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन्नै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।।
—का. प्र.–4, 30.

2. वर्हिणा निर्ह्लदति इत्येवं शीलेन (मू. पा. टि.)

यहाँ ल्यप् प्रत्यय का बाहुल्य होने से पदांश श्रुतिकटु दोष है। इसी प्रकार पदांश दोष के अन्य उदाहरण हैं।

समासगत दोष—

समासगत श्रुतिकटु का उदाहरण जैसे—
मोर के ध्वनि करने के कारण यह त्याज्य है।

यहाँ ("वर्हिनिर्ह्रादिना" यह) समस्तपद श्रुतिकटु है। इसी प्रकार अन्य दोषों के भी समासगत उदाहरण समझ लेने चाहिये।

अथ वाक्यदोषाः—

प्रतिकूलाक्षरः कण्ठे सुकण्ठ्यागुण्ठ्यस्व[1] माम।

रसाऽननुकूलवर्णत्वम्। तत्र शृंगारे कण्ठेति।
एवमन्यत्र।

प्राप्तोत्व[2] लुप्तसर्गस्तु भीतो नीतोव[3] ईदृशः।

अयं असकृद्दोषः।
न सकृत् तथा—

[35अ] धीरो विनीAतो निपुणो वराकारो नृपो[4]ऽत्र सः।
यस्य भृत्या बलो[5]त्सिक्ता भल्ला[6] बुद्धिप्रभाविताः ॥ 106 ॥

विसन्धिश्चन्द्रवदने[7] इमौ पश्य कुमारकौ।
उर्व्यसावत्र[8] तर्वाभ्यां [9]चलण्डामरचेष्टितः ॥

---

1. हे सुकण्ठि मां कण्ठे आगुण्ठ्यस्वेत्यत्र शृङ्गारे ठकार बहुपठनं दोषः (मू. पा. टि,)
2. अत्र प्राप्तोत्व त्वं (मू. पा. टि.)
3. व इत्यत्र लुप्तविसर्गत्वम् (मू. पा. टि.)
4. नयो ०
5. वलो ०
6. मल्लाः श्रेष्ठाः (मू. पा. टि.)
7. हे (मू. पा. टि.)
8. असौ उर्वी तत्र तर्वाभ्यां तरुपंक्तौ (मू. पा. टि.)
9. चलड्डा ०

अयं दोषः प्रगृह्यनिमित्तः सकृदपि स्वेच्छानिर्मितः ॥
अश्लीलकष्टसूत्रान्तरनिमित्तश्चेति पञ्चविधः ॥ सू. 89 ॥

इहैव विकृतस्यान्तर्भावः। यथा—एयरुर्नृपतयः सुरकल्पाः।

जोहोत्यादिकत्वेनश्लुविकरणस्य ऋगताविव्यस्य श्लौ द्वित्वे "उरद"-त्वे रेफलोपे "अर्त्तिपिपर्त्योश्चे"त्यभ्यासेत्वे"ऽभ्यासस्याऽसवर्णे" इति यङि, "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्चे"ति, "जुसि[1] चे"तिगुणे, आडागमे "आटश्चे"ति वृद्धौ ऐयरुरिति रूपम्। तत्र सूत्रान्तरनिमित्तम्। सन्ध्यनुगतं भिन्नं विकृतं तु धातोर्दूरविकृतेर्भिन्नमितिनान्तर्भावमन्ये मन्यन्ते।

वाक्यगत दोष के भेद—

(1) वाक्यगत प्रतिकूलता दोष का उदाहरण जैसे—हे सुकण्ठि! मेरे कण्ठ में अवगुण्ठन (आलिङ्गन) करो।

रस के अनुकूल वर्णों का प्रयोग नहीं होने पर प्रतिकूल वर्ण दोष होता है। यहाँ शृङ्गार रस के वर्णन में "ठ" वर्ण का प्रयोग अनेक बार किया गया है। (जो शृङ्गार रस के प्रतिकूल है अतः वाक्यगत प्रतिकूल वर्णता का उदाहरण है)।

इसी प्रकार अन्य (रसों के वर्णन में प्रतिकूल वर्ण होने पर) वाक्यगत दोष होते हैं।

(2) (उपहतविसर्गत्व के दो भेद हैं–प्राप्तोत्वविसर्गत्व और लुप्तविसर्गत्व) जहाँ विसर्ग ओकार के रूप में परिणत होते हों अथवा वाक्य में सर्वत्र विसर्ग का लोप होता हो, ऐसा अनेक बार करने पर वहाँ उपहतविसर्गता दोष होता है, जैसे—"भीतो नीतोव ईदृशः"।

वाक्य में यह बार-बार होने पर दोष होता है।

एक बार नहीं होने पर (अर्थात् अनेक बार विसर्ग का लोप तथा विसर्ग का ओकार होने का उदाहरण) जैसे—

यहाँ (संसार में) वह राजा धैर्यवान्, विनीत, निपुण और सुन्दर है, जिसके सेवक बलाभिमानी, श्रेष्ठ और बुद्धि से प्रभावित हों॥ 106॥

(इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में धीरो, विनीतो, निपुणो और नृपो में विसर्ग का "ओ" हो गया है, इस प्रकार अनेक बार विसर्ग का ओत्व एक साथ प्रयुक्त किया

---

1. जसि

गया है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में मृत्या, बलोत्सिक्ता तथा मल्ला इन शब्दों में विसर्ग का लोप किया गया है। अतः यहाँ उपहतविसर्गता दोष कहा गया है।)

(3) विसन्धि दोष के उदाहरण हैं—

1. चन्द्रवदने इमौ पश्य कुमारकौ
2. उर्व्यसावत्र तर्वाभ्याम्
3. चलण्डामरचेष्टितः

(यहाँ प्रथम उदाहरण में "चन्द्रवदने+इमौ" के मध्य "एचोऽयवायावः" सूत्र से अयादेश प्राप्त होता है परन्तु "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा हो जाने से सन्धिविश्लेष हो गया है जो कवि की अशक्ति का सूचक होने से दोष है। उर्वी+असौ" में सन्धि होकर "उर्व्यसौ" पाठ बना है, "उर्व्यसौ तर्वाभ्यां" –यह पाठ सुनने और अर्थज्ञान में कष्टदायक है, अतः कष्टसन्धि का उदाहरण है। "चलण्डामर" में "लण्डा" अंश पुरुष के लिंग का सूचक होने से इस सन्धि में अश्लीलता है।)

विसन्धि दोष (1) प्रगृह्यनिमित्तक, (2) अपनी इच्छा से एक बार भी किया हुआ सन्धिविश्लेष, (3) अश्लीलता, (4) कष्टजन्य विसन्धि और (5) अन्य सूत्र निमित्तक (विकृत), इस प्रकार पाँच प्रकार का होता है ॥सू.89॥

यहीं विकृत का अन्तर्भाव होता है। जैसे—ऐयरुर्नृपतयः सुरकल्पाः (देवताओं के समान राजा आये)।

इस वाक्य में प्रयुक्त "ऐयरुः" पद में "ऋ गतौ" इस धातु के जुहोत्यादिगणीय होने से (ऋधातु, लङ्लकार, प्र. पु., बहु व. में) "श्लु" विकरण के योग से धातु को द्वित्व हुआ (ऋ ऋ झि) और "उरत्" से ऋ को अत् ("उरण् रपरः" से अर् = अर् ऋ झि होकर = "हलादिः शेषः" से) रेफ का लोप होकर (अ ऋ झि), "अर्तिपिपर्त्योश्च" सूत्र से अभ्यास को इत्व हुआ ("उरण् रपरः", "हलादिः शेषः" होकर = इ ऋ झि)। फिर "अभ्यासस्याऽसवर्णे से "इ" के इयङ् होने पर (इय् ऋ झि)। "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च" के अनुसार ("झि" को) जुस् होने पर (इय् ऋ उस्), "जुसि च" से ऋ को गुण हुआ (इय् अर् उस्), "आडजादीनाम्" से आट् का आगम हुआ (आ इय् अर् उस्) और "आटश्च" सूत्र के आट् को वृद्धि होकर (ऐ य् अर् उस् =) "ऐयरुः" यह रूप सिद्ध हुआ।

इस उदाहरण में सूत्रान्तरनिमित्तक दोष है। सन्धि का अनुगत दोष होकर भिन्न रूप से होने वाला विकृत दोष तो धातु की दूरगामिनी विकृति के कारण भिन्न होता है, अतः विकृत का अन्तर्भाव अन्य कुछ विद्वान् नहीं मानते हैं।

हतवृत्तमिदं पश्याञ्जनाञ्जितविलोचने ।

इदं पुनर्दुरुच्चारमशोभनं पादान्तप्राप्तगुरुलघुसुलक्षणहीनं रसाननुगुणं चेत्यश्रव्यमेव । यथा वा—

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नाऽन्यथा
मधुरमधुरं चूतस्यापि प्रसन्नरसं वलम् ।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात् प्रियारदनच्छदात् ॥107॥

शेषमूह्यम् ।

न्यूनं त्वत्सरसिक्तेऽस्मिन् द्विषद्वाधे भयं कुतः ।

[35ब] अत्र धारा[1]पदमपेक्षितम् । यथा वा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्[2]चालतनयां
वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ॥[3]108॥

[4]इत्यत्राऽस्माभिरिति ।

पल्लवाकृति रक्तोष्ठी[5] सा वालेत्यधिकं मतम् ।

अत्र आकृतिपदमधिकम् ।

यथा वा "वाचमुवाच कौत्स" इत्यत्र वाचमिति ।

पुनरुक्तं सिताम्भोजसितहासरुचिः पुमान् ।

अत्र सितपदम् ।

---

1. त्वद्धारासिक्ते इति युक्तम् (मू. पा. टि.)
2. पञ्चा०
3. तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
   वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
   विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
   गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

   —वेणीसंहार–1, 11
4. पाण्डुलिपि में श्लोक के पश्चात् "इति" को मिलाकर, सन्धि करके वरै-रित्य." इत्यादि लिखा है ।
5. ०ष्ठी

(4) हतवृत्त दोष का उदाहरण जैसे-अञ्जन से युक्त नेत्र देखो।

यह हतवृत्त दोष (तीन प्रकार का होता है—छन्द के लक्षण के अनुसार होने पर भी) 1. उच्चारण में दुष्कर लगने पर अशोभन होता है। 2 पद के अन्त में प्राप्त गुरु-लघु के नियम से रहित (अन्त में ऐसा लघु हो जो गुरुत्व को प्राप्त न हो सके) और 3. रस के अनुरूप छन्द का प्रयोग नहीं होना, ये अश्रव्य हतवृत्त दोष के तीन भेद हैं। उपर्युक्त उदाहरण अश्रव्य हतवृत्त का है। अथवा अन्य उदाहरण—

अमृत अमृत ही है, इसमें क्या सन्देह है ? शहद भी (मधुर है) अन्य प्रकार का नहीं है। सुस्वादु रस वाला आम्र-फल भी अत्यधिक मधुर होता है। पर अन्य रसों को जानने वाला एक भी व्यक्ति पक्षपात-रहित होकर कहे कि इस संसार में प्रिया के ओष्ठ से स्वादिष्ट अन्य क्या वस्तु है ॥107॥

(यहाँ "यदिहान्यत्स्वादु स्वाद्" यह पूरा पद अश्रव्य है। क्योंकि छन्द में "वदतु यदिहा" के पश्चात् यति होनी चाहिये, परन्तु यह यति यहाँ सुनने में अश्रव्य हो जाती है।)

इसी प्रकार शेष भेदों के उदाहरण जानने चाहिये।

(5) न्यूनपद वाक्य दोष का उदाहरण जैसे—

तुम्हारी जल की धारा से गीले इस शत्रु से विरोध में भय कहाँ ?

यहाँ ("सरसिक्ते" पद में "सरधारासिक्त" पद होना चाहिये अतः) 'धारा' पद अपेक्षित है (यह पद नहीं होने से न्यूनपदता दोष हो जाता है)।

अथवा अन्य उदहारण ("वेणीसंहार" नाटक के श्लोक की पंक्तियाँ हैं)।

राज्यसभा में द्रौपदी की उस प्रकार की स्थिति को देखकर, और फिर वन में वल्कल धारण करके बहुत समय (बारह वर्ष) तक व्याधों के साथ रहा गया, इत्यादि ॥108॥

यहाँ (कर्त्ता के रूप में) "अस्माभिः" (हमारे द्वारा) पद होना चाहिये (उसके नहीं रहने से न्यूनपदता दोष आ गया है)।

(6) अधिकपद दोष जैसे—वह बालिका पल्लव की आकृति के समान रक्तिम ओष्ठ वाली है।

यहाँ "आकृति" पद अधिक है।

अथवा अन्य उदाहरण—कौत्स ने यह कथन कहा।

यहाँ "वाचम्" पद अधिक है ("उवाच" कहना ही पर्याप्त है अतः अधिक-पदता का उदाहरण हो जाता है)।

(7) पुनरुक्त दोष का उदाहरण है—श्वेत कमल के समान श्वेत हास्य की कान्ति से युक्त यह पुरुष है।

यहाँ "सित" पद (दो स्थान पर प्रयुक्त हुआ है) अतः पुनरुक्त या कथित पद दोष है।

पतत्प्रकर्षः प्रारब्धघटनाव्यत्ययः स्फुटम्।

स्पष्टं उदाहरणमपीदमेव।

समाप्तपुनरात्तं तु बाला पश्यति भामिनी।

यथा वा—

नाशयन्तो घनध्वान्तं भावयन्तो वियोगिनः।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥109॥

शेषवाचकमिच्छन्ति यदि पूर्वोत्तरार्द्धयोः। उदाहरन्ति च—

इंदुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करैः।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि मानं पादानते प्रिये ॥110॥

अत्र जगदिति प्रथमार्धे पठितुमुचितम्।

अभवन्मतमित्युक्तं यथा जितमिदं जगत्।
या विस्मेरसरोजाक्षी यां विना जीवितं न मे ॥111॥

अत्र विस्मेरसरोजाक्षीशब्देन यच्छब्दनिर्दिष्टानां सम्बन्धो[1] दुर्घटः।

अपराधलवं वीक्ष्य कं रुष्टाऽनुक्तवाच्यता।

अत्र लवमपीत्यपि वाच्यः[2]।

(8) पतत्प्रकर्ष वाक्यदोष जैसे—प्रारब्ध पदघटना के उत्तरोत्तर स्फुट रूप से व्यत्यय (पतन) होने पर पतत्प्रकर्ष दोष होता है।

यह स्पष्ट है और उदाहरण भी यही है।

1. ०बन्धो
2. वा०

(9) समाप्तपुनरात्त दोष—(वाक्य की समाप्ति के बाद पुनः एक और विशेषण का प्रतिपादन किया जाये वह समाप्तपुनरात्तत्व होता है) जैसे–बाला देखती है भामिनी।

अथवा अन्य उदाहरण—

गहन अन्धकार का नाश करते हुए, वियोगिनी को सन्तप्त करते हुए चन्द्रमा के चरण पड़ते हैं। पृथ्वीतल को चमकाते हुए ॥109॥

(यहाँ श्लोक के तृतीय चरण "पतन्ति शशिनः पादाः" में वाक्य की समाप्ति हो जाने पर भी चतुर्थ चरण में पुनः एक विशेषण दिया गया है अतः समाप्तपुनरात्त वाक्यदोष है।)

(10) अर्धान्तरैकपदत्व दोष वहाँ होता है जहाँ पूर्वार्द्ध का एक पद उत्तरार्द्ध के कथन के लिये शेष रह जाता है। उदाहरण है—

कपूर के समान श्वेत किरणों से धवल बनाता हुआ चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है। संसार को, अतः हे कृशाङ्गि ! अपने प्रिय के चरणों में नत होने पर मान मत करो ॥110॥

यहाँ "जगत्" शब्द (का सम्बन्ध पूर्वार्द्ध से है अतः इसे) प्रथमार्ध में ही पढ़ना चाहिए। (इस एक पद के शेष रहने पर, उत्तरार्द्ध में रखने से यहाँ 'अर्धान्तरैकपद' वाक्यदोष हो गया है)।

(11) अभवन्मतसम्बन्ध दोष (वाक्य में अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध विद्यमान नहीं होने पर होता है) उदाहरण जैसे—

यह जगत् जीत लिया गया है, जो अच्छी तरह खिले हुए कमल के समान नेत्रवाली है, जिसके बिना मेरा जीवन नहीं है ॥111॥

यहाँ "विस्मेरसरोजाक्षी" शब्द के द्वारा "यत्" शब्द से निर्दिष्ट वाक्यों का सम्बन्ध घटित नहीं होता (अतः अभवन्मत दोष कहा गया है)।

(12) अनुक्तवाच्यता दोष (जहाँ अवश्य कहने योग्य शब्द को न कहा जाये वहाँ होता है) उदाहरण जैसे—

किसी तुच्छ से (भी) अपराध को देखकर रुष्ट हो।

यहाँ "लवमपि"—"तुच्छ भी"–यह कहना चाहिये (अर्थात् "अपि" का प्रयोग भी करना चाहिये। इसके अभाव में वाक्यदोष हो गया है)।

स्रजं न काचिद्विजहावित्यस्थानपदं मतम् ।

अत्र काचिन्न विजहाविति वाच्यम् ।

[36अ] केऽचिदक्रमतामाहुः अस्य[1] दोषस्य । यथा—

इयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ 112 ॥

इत्यत्र त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानात् अक्रमता । स्वातन्त्र्येणार्थ-बोधनविरहान्न च तस्य वाचकतानिश्चयः ।

अस्थानस्थसमासता यथा—

अद्यापि स्तनतुङ्गशैलशिखरे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छ[2]ति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
उद्यन् दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ[3] तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिस्सरदलिश्रेणीकृपाणीं शशी ॥ 113 ॥

अत्र क्रोधे समासो न कृतः, कवेरुक्तौ तु कृतः ।

सङ्कीर्णं गगने पश्य मानमिदं परित्यज ।

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेश इत्यर्थः ।

(13) अस्थानपद दोष माना गया है—किसी स्त्री ने माला को नहीं उतारा ।

यहाँ "कान्चिन्न विजहौ" इस प्रकार ("काचित्" के पश्चात् "न" का प्रयोग करके कहना चाहिये । "न" का प्रयोग पूर्व में करने से अस्थानपद दोष आ गया है) ।

(14) अक्रमता दोष—

कुछ लोग इस अस्थानपद दोष के उदाहरण में अक्रमता दोष बताते हैं ।

---

1. अस्थानपददोषस्य अक्रमनामा दोषमूचुः (मू. पा. टि.)
2. वांच्छ०
3. चंद्रः (मू. पा. टि.)

(अक्रमता दोष का उदाहरण) जैसे—

कपाल धारण करने वाले शिव के समागम की प्रार्थना से इस समय चन्द्रमा की सुन्दर कला और इस संसार के नेत्रों की कौमुदीरूप तुम (पार्वती) दोनों शोचनीय हो गयी हो ॥ 112 ॥

यहाँ "त्वम्" पद के आगे चकार रखना चाहिये था, पर इसका प्रयोग यहाँ नहीं करने से अक्रमता दोष आ गया है। "नञ्" स्वतन्त्रता से अर्थबोधक नहीं माना जाता अतः उसकी ("न" की) वाचकता निश्चित नहीं है। (अतएव कुछ लोगों के मतानुसार "द्वयं गतं" इस पद्य में "च" की तरह "स्रजं न" इत्यादि में "न" शब्द के स्थान में स्थित होने पर भी यहाँ अक्रमत्वदोष होता है, अस्थान-पदत्व दोष नहीं)।

(15) अस्थानस्थसमास दोष जैसे—

अब भी (चन्द्रमा के उदय होने पर भी) स्तनरूपी ऊँचे पर्वतशिखर और स्त्रियों के हृदय में यह मान रहना चाहता है, इसे धिक्कार है। इससे मानो क्रोध के कारण लाल हुआ यह चन्द्रमा दूर तक (किरणरूपी) हाथ फैलाकर तुरन्त ही खिले हुए कुमुदों के भीतर (कलीरूपी म्यान) से भ्रमरपंक्तिरूप तलवार खींच रहा है॥ 113 ॥

यहाँ (पूर्वार्द्ध में क्रोधी चन्द्रमा की उक्ति है वहाँ) समास नहीं किया गया और उत्तरार्द्ध में कवि की उक्ति है वहाँ समास किया गया है (अतः अस्थानस्थ-समास दोष है)।

(16) संकीर्णता दोष का उदाहरण, जैसे—आकाश में देखो मान को चन्द्रमा को छोड़ो। (अर्थात् आकाश में चन्द्रमा को देखो, मान छोड़ो।)

एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में आ जाने पर संकीर्ण दोष होता है। (यहाँ "इन्दु" का सम्बन्ध "पश्य" के साथ है और "मानं" का "परित्यज" के साथ, परन्तु ये शब्द एक दूसरे वाक्य में प्रवेश हो गये हैं।)

गर्भितं दुरिताकारैः खलैरेकान्तसङ्गतिः।
कथयन्ति पुराणानि श्रेयसे न कदाचन॥

वाक्यमध्ये वाक्यान्तरानुप्रवेशः।

प्रसिद्धिहतमुन्मत्तवीराणां समरे रवः।

रवो मण्डूके न पुनर्वीरगर्ज्जिते प्रसिद्धः।

भग्नप्रक्रमतोद्देश्य प्रतिनिर्द्देश्यहीनता।

[36 ब] उद्देश्यं प्रतिनिर्देश्याऽव्यतिरिक्तविषय एव पुनरुक्तदोषाऽसम्भवात् तत्र त्वपुनरुक्तौ दोषः भग्नप्रक्रमतेत्यर्थः । यथा—

म्लाने कमलिनीवंधौ[1] विवर्णा कमलिन्यपि ।
कुलाङ्गनानामेवं हि प्रायशो भवति स्थितिः ।। 114 ।।

अत्र म्लाने इत्युक्ते मम्लौ कमलिनीति युक्तम् । यथा—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।। 115 ।।

अन्यथा पदान्तरेण प्रतिपद्यमानः स एवार्थोऽर्थान्तर इव भासमानः प्रतीतिं स्थगयति ।

कटाक्षशरसंभिन्नानुरागरुधिरोत्थिता ।
जीवितेशालयं यातेत्यादावमतमुच्यते[2] ।। 116 ।।

प्रकृतरसविरुद्धरसव्यञ्जकार्थप्रतीत्या दोष इत्यर्थः ।

(17) गर्भित वाक्यदोष जैसे—बुराई में लगे हुए दुष्टों के साथ सदैव संगति पुराण कहते हैं कभी भी श्रेयस्कर नहीं है ।

एक वाक्य के मध्य दूसरा वाक्य आ जाने पर गर्भितत्व दोष होता है (यहाँ श्लोक का तृतीय चरण अलग वाक्य है जो दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो गया है अतः गर्भितत्व दोष है) ।

(18) प्रसिद्धिविरुद्धता दोष का उदाहरण है—युद्धभूमि में उन्मत्त वीरों की ध्वनि ।

(कविप्रसिद्धि का उल्लंघन होने पर प्रसिद्धिविरुद्धता दोष होता है । यहाँ प्रयुक्त) "रव" शब्द मेढ़क आदि में प्रसिद्ध है, वीरों के गर्जन में नहीं (अतः प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है) ।

(19) भग्नक्रमता दोष वहाँ होता है जहाँ उद्देश्य के प्रति निर्देश्यभाव से युक्त स्थल पर उसी पद का प्रयोग नहीं किया जाये ।

1. सूर्ये (मू. पा. टि.)
2. अमतनामा दोष : इत्यर्थ (मू. पा. टि.)

उद्देश्य के प्रतिनिर्देश्यभाव से भिन्न स्थल पर (एक पद का दो बार प्रयोग करने पर) पुनरुक्ति दोष होता है पर (उद्देश्य–प्रति निर्देश्यभाव होने पर) पुनरुक्ति दोप नहीं होता है। (अतः उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव वाले स्थल पर) उस पद का ही दुबारा प्रयोग करना चाहिये, ऐसा नहीं होने पर भग्नक्रमता दोष होता है। उदाहरण जैसे—

सूर्य के म्लान होने पर कमलिनी भी विवर्ण हो गयी। क्योंकि कुलांगनाओं की प्रायः यही स्थिति होती है ।। 114 ।।

यहाँ "म्लान" कहे जाने पर "मम्लौ कमलिनी" यह कहना चाहिये।

अथवा अन्य उदाहरण—

सूर्य लाल ही उगता है और लाल ही अस्त होता है। महापुरुष सम्पत्ति और विपत्ति में एक जैसे ही रहते हैं ।। 115 ।।

यहाँ (उद्देश्यस्थल और प्रतिनिर्देश्यस्थल, दोनों ही स्थल पर "ताम्र" शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि यहाँ प्रतिनिर्देश्यस्थल "ताम्र" के स्थान पर 'रक्त' शब्द का प्रयोग किया जाय तो) अन्य पद से प्रतिपादित वही (ताम्रत्व) अर्थ उस अर्थ के समान प्रतीत होता है और (सम्पत्ति-विपत्ति की एकरूपता की) प्रतीति में बाधा उत्पन्न करता है (इसलिये "रक्त एवास्तमेति" पाठ करने पर भग्नक्रमता दोष हो जाता है)।

(20) अमतपरार्थता दोष जैसे—

कटाक्षरूपी बाण से आहत होकर अनुरागरूपी रक्त उत्पन्न होने पर वह (नायिका) यमपुरी (जीवितेश-यम-दूसरे पक्ष में प्राणनाथ की पुरी) को गई है। ।। 116 ।।

प्रकृत रस के विरुद्ध दूसरे रस के व्यञ्जक अर्थ की प्रतीति होने पर अमतपरार्थता दोष होता है। यहाँ प्रकृत (वीभत्स) रस के विपरीत शृङ्गाररस का व्यञ्जक दूसरा अर्थ होने से अमतपरार्थता दोष है।

अथार्थदोषाः—

अपुष्टो वितते व्योम्नि विलोक्येन्दुं त्यज क्रुधम्।

मुख्यार्थानुपकारित्वमपुष्टत्वम् तस्य क्वचिदत्यन्तानुपयोगित्वं अन्यथा लब्धरूपं चेति भेदः। यथा विततशब्दस्य मानपरित्याजनानुपयोगित्वम्।

कष्टं दुरूहतार्थस्य दूरे वा प्रस्तुतश्रुतिः ।

यस्याम्बु[1] वारिदो वर्षत्यादायेति मुनेर्वचः ।
तत्करेषु मृगी वेत्ति न तोयं यमुनापितुः ॥117॥

अत्र यस्य यमुनापितुर्भानोर्जलमादाय वारिदो वर्षति ततश्च मुनि- [37अ] वाक्यं सत्यमिति विश्वा ^ साद्भानुकरेषु तोयप्रत्ययो न्याय्य- स्तथापि रविकिरणेषु भ्रान्तत्वान्मृगी जलं न वेत्तीति संक्षेपार्थः ।

व्याहतं न मनोहारिनवेन्दुकलिकोत्सवः ।
येषामेषा दृशं याति लोकलोचनचन्द्रिका ॥

अनुत्कर्षेण व्यक्त उत्कर्ष आरोप्यमाने व्याहतम् । येषामिन्दुकलो- त्सवो नानन्दहेतुस्तदानन्दाय चन्द्रिकात्वारोपः ।

अर्थदोष—

अब अर्थदोषों को कहते हैं—

(1) अपुष्टार्थ का उदाहरण जैसे—विस्तृत आकाश में चन्द्रमा को देखकर क्रोध त्याग दो ।

(जब कोई पदार्थ) मुख्य अर्थ का उपकारी न हो तो अपुष्टार्थ दोष होता है । वह पदार्थ उस मुख्य अर्थ का कहीं पर अत्यन्त अनुपयोगी होता है और कहीं पर "अन्यथा प्राप्त" हो जाता है, इस प्रकार इनका भेद हो जाता है । जैसे उक्त उदाहरण में "वितत" शब्द क्रोध-त्याग में उपकारी नहीं है अतः अपुष्टार्थ दोष है ।

(2) कष्टत्व अर्थदोष वहाँ कहा जाता है जहाँ अर्थ दुर्बोध हो अथवा प्रस्तुत श्रुत अर्थ की व्यञ्जना दूर की बात है । जैसे—

जिस सूर्य ने जल ग्रहण करके बादल वर्षा करता है, यह वचन व्यास मुनि के हैं । परन्तु फिर भी यमुना के पिता उस सूर्य की किरणों में हरिणी जल नहीं पाती ॥117॥

जिस यमुना के पिता सूर्य से जल लेकर बादल वर्षा करता है और यह मुनि का वाक्य सत्य है, इस विश्वास से सूर्य को किरणों में जल रहता है यह निश्चित होता है, परन्तु फिर भी भ्रान्त रहने के कारण मृगी सूर्य की किरणों में जल नहीं पाती । यह संक्षेप में अर्थ है (यहाँ यह अप्रस्तुत अर्थ भी दुर्बोध है, फिर

1. ० म्बू

उससे मुग्धा नायिका के नायक पर अविश्वास रूप प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना दूर की बात है, अतः यहाँ कष्टार्थ दोष है)।

(3) व्याहतार्थ दोष जैसे—

चन्द्रमा की नवीन कला का आनन्द जिसके मन को नहीं हरता, यह संसार के नेत्रों की चाँदनी उनको दिखायी पड़ी।

किसी वस्तु का अनुत्कर्ष बताकर उसकी व्यर्थता वर्णित की जाये और पुनः दूसरी वस्तु का उत्कर्ष बताने के लिये उस वस्तु का आरोप किया जाये वहाँ व्याहतार्थ दोष होता है। जैसे यहाँ उदाहरण में जिन लोगों को चन्द्रमा की नवीन कला आनन्द नहीं देती उन्हीं को आनन्दित करने के लिये (प्रकृत कामिनी) में चन्द्रिकात्व का आरोप किया गया है अतः व्याहतत्व दोष है।

पुनरुक्तः सखे कार्यं विचार्यार्यैर्मनीषितम्।
विमृश्यकारिणां लोके भवन्त्यभिमताः श्रियः॥

अत्र द्वितीयार्थ व्यतिरेकेन स एवार्थ इति पुनरुक्तता।

तुरङ्गमं वा मातङ्गं देहि दुष्क्रममिष्यते।

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः।

ग्राम्यं स्वपिहि मत्पार्श्वे स्वपिम्येषा तवाप्यहम्।

अत्रार्थो ग्राम्यः।

सन्दिग्धं सुन्दरी सेव्या दरी वेति विचार्य्यताम्।

अत्र प्रकरणाभावाच्छृङ्गारशान्तयोः को वक्तेति नियमाभावात्संदेहः।

कामस्य चक्रं कटकं करे लोकप्रथातिगम्।

लोकप्रथातिगं लोकप्रसिद्धिविरुद्धम्। कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धमिति विरोधः।

विद्याविरुद्धं मुक्तोऽसौ विवेकख्यातिसंश्रयात्।

अत्र संप्रज्ञातानन्तरं मुक्तिर्न तु विवेकख्याताविति योगविद्या विरोधः। इत्थमन्यत्।

निर्हेतुः संपरित्यक्तं त्वयास्त्रं संत्यजाम्यहम् ।

[37व] अत्र शस्त्रत्यागे ^ हेतुर्नोक्तः ।

नित्यमुष्णः सहस्रां[1]शुर्नित्यमुष्णं द्विषन्मनः ।
नित्यं प्रमुदिताः सन्त इत्यादावनवीकृतम् ।।

अत्र नित्यमिति न नवीकृतम्

(4) पुनरुक्त दोष का उदाहरण—

हे सखे ! आर्यजनों को विचार करके इच्छित कार्य करना चाहिये । संसार में सोचकर कार्य करने वाले लोगों को ही अभीष्ट समृद्धियाँ मिलती हैं ।

यहाँ उत्तरार्द्ध में कहा गया अर्थ पूर्वार्द्ध का व्यतिरेक से कहा गया ही अर्थ है, अतः पुनरुक्त दोष है ।

(5) दुष्क्रमत्व दोष जैसे—

मुझे घोड़ा अथवा हाथी दो ।

यहाँ हाथी का निर्देश पहले करना चाहिये (क्योंकि जो घोड़ा नहीं दे सकता वह हाथी कैसे दे सकेगा । अतः वस्तुओं का क्रम बिगड़ने से दुष्क्रमत्व दोष होता है) ।

(6) ग्राम्यत्व अर्थदोष—

मेरे पार्श्व में सो जाओ, यह मैं भी तुम्हारे पार्श्व में सोती हूँ ।

(7) सन्दिग्धत्व अर्थदोष—

सुन्दरी अथवा पर्वतकन्दरा में से कौन सेवनीय है, इस पर विचार करिये ।

यहाँ प्रकरण का अभाव होने से यह निर्णय करना कठिन है कि वक्ता शृंगार है या शान्त, अतः अर्थ में सन्दिग्धत्व दोष है ।

(8) लोकप्रसिद्धिविरुद्धता अर्थदोष जैसे—

हाथ (में पहना हुआ) कङ्कन कामदेव का चक्र है ।

---

1. सहस्रांशु०

लोक-प्रथा का अतिगामी होने का अर्थ है—लोक में प्रसिद्ध नहीं होना। लोकप्रसिद्धिसम्मत नहीं होने पर प्रसिद्धिविरुद्धता अर्थदोष होता है। जैसे यहाँ उदाहरण में वर्णित काम का चक्र लोक में प्रसिद्ध नहीं है, अतः प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है।

(9) विद्याविरुद्धता दोष—

यह (योगी) विवेकख्याति को प्राप्त करने से मुक्त हो गया।

यहाँ (योगशास्त्र के क्रम में) सम्प्रज्ञात समाधि के बाद मुक्ति होती है, विवेकख्याति (प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञानरूप) होने पर मुक्ति नहीं होती, अतः यह योगशास्त्र के विपरीत होने से विद्याविरुद्ध है।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के विरुद्ध होने पर विद्या-विरुद्ध दोष होता है।

(10) निर्हेतु अर्थदोष का उदाहरण है—

तुमने अस्त्र छोड़ दिया, मैं (भी) छोड़ता हूँ।

यहाँ अस्त्रत्याग का कारण नहीं बताया गया (अतः निर्हेतुत्व अर्थ-दोष है)।

(11) अनवीकृत दोष—

सहस्र किरणों वाला सूर्य नित्य उष्ण होता है। शत्रु का मन नित्य उष्ण रहता है। सज्जन नित्य प्रसन्न रहते हैं।

यहाँ "नित्य पद का प्रयोग बार-बार किया गया है, अतः इसमें नवीनता नहीं रहने से अनवीकृत दोष हो गया है।

दृगम्बुजं[1] भृङ्ग एव तारकानियमान्वितम्।

स नियमम्[2]। भृङ्ग एवेति नियमो न वाच्यः।

आरम्भरुचिरे भोगे रमेताऽनियमं मतम्।

आरम्भ एव नियमो वाच्यः।

साकांक्षं धनुषो भङ्गं स्त्रीरत्नं मृत्यतां कथम्।

अत्र स्त्रीरत्नमित्युपेक्षितुमित्याकांक्षति।

1. ० म्बुजं
2. दोषः (मू.पा.टि.)

नीलांशुका याति रात्रौ विशेषपरिवर्त्तितम् ।

अत्र तमिस्रायां[3] यातीति विशेषो वाच्यः ।

अविशेषो यथा सिन्धोर्म्मौक्तिकाकरता मता ।

अत्र रत्नाकरतेत्यविशेषो वाच्यः ।

पदमुक्तमयं योग्यो वरः सन्त्वन्यतो गुणाः ।

अत्र वर इत्यन्त एव समाप्यम् ।

विलश्यन्ते साधवो व्योम्नि शशाङ्को मलिनद्युतिः ।
खलः सम्पूज्यते सेयं सहचारिविभिन्नता ॥

अत्र शशाङ्कसाधू शोभनौ खलस्त्वशोभनः ।

प्रकाशितविरुद्धत्वं पुत्रस्ते राज्यमृच्छतु ।

अत्र "त्वं म्रियस्वे" ति विरुद्धार्थप्रकाशः ।

(12) अनियमपरिवृत्त अर्थदोष (जहाँ नियम नहीं करना चाहिये, वहाँ नियम या अवधारणा का प्रयोग) जैसे—नेत्र-कमल हैं, तारका (आँख की पुतली) भ्रमर ही है ।

यहाँ "भृङ्ग एवेति", "तारका भ्रमर ही है", यह नियम नहीं करना चाहिए (यह कह देने से "अनियम परिवृत्त" दोष हो गया है) ।

(13) सनियमपरिवृत्त अर्थदोष—जिसका प्रारम्भ रुचिर (मधुर, स्वादिष्ट) हो, ऐसे भोग में रमण करना चाहिये ।

यहाँ "आरम्भ एव" यह नियम करना चाहिये ("एव" शब्द का प्रयोग न करने से "सनियमपरिवृत्त" रूप अर्थदोष आ गया है) ।

(14) साकांक्षता अर्थदोष—धनुष का टूटना और स्त्रीरत्न (की उपेक्षा करना) आप कैसे सहन कर सकते हैं ।

---

3. °स्रायां

यहाँ "स्त्रीरत्नं" के आगे "उपेक्षितुं" पद की आकांक्षा होने से साकांक्षता अर्थदोष है।

(15) विशेषपरिवृत्त अर्थदोष जैसे—रात्रि में नीलांशुका (कृष्णाभिसारिका) जा रही है।

(जिस स्थल पर विशेषवाचक शब्द का प्रयोग करना चाहिये वहाँ सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग कर दिया जाये तो विशेषपरिवृत्त दोष होता है। उक्त उदाहरण में कृष्णाभिसारिका का वर्णन है और सामान्यवाचक "रात्रि" शब्द का प्रयोग किया गया है परन्तु) यहाँ "तमिस्रा" इस प्रकार रात्रि-विशेष का कथन करना चाहिये।

(16) अविशेषपरिवृत्त अर्थदोष (जहाँ सामान्यवाचक पद का प्रयोग करना चाहिये, वहाँ विशेषवाचक पद का प्रयोग किया जाये) जैसे—सिन्धु (समुद्र) को मोती की खान माना गया है।

यहाँ "मौक्तिकाकरता" इस विशेष पद के स्थान पर "रत्नाकरता" यह सामान्य शब्द कहा जाना चाहिये। इस प्रकार के प्रयोग से अविशेषपरिवृत्त अर्थदोष आ गया है।

(17) अपदयुक्तता (अनुचित स्थान ने अनावश्यक पदों का प्रयोग) का उदाहरण जैसे—यह वर योग्य है (भले ही) गुण दूसरे प्रकार से रहें।

यहाँ "वरः" के पश्चात् ही समाप्त कर देना चाहिये।

(18) सहचरभिन्नता अर्थदोष जैसे—साधु क्लेश पाते हैं, आकाश में चन्द्रमा की द्युति मलिन है, दुष्ट पुरुष की पूजा की जाती है।

यहाँ "शशाङ्क" और "साधु" पद शोभन हैं और इनके साथ "खल" शब्द अशोभन है।

(19) प्रकाशितविरुद्धता अर्थदोष का उदाहरण—आपका पुत्र राज्य प्राप्त करे।

यहाँ "तुम मर जाओ" यह विरुद्ध अर्थ प्रकाशित हो रहा है। (क्योंकि राजा के जीते जी पुत्र को राज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः प्रकाशितविरुद्धत्व दोप है।)

अनुवाद्यविधेयं चाऽयुक्तमेव क्वचिद्यथा।

तत्राद्यमुदाहरति—

न मां खेदय शीतांशो विरहिप्राणनाशन ।

अत्र विरहिप्राणनाशन इति नानुवाद्यम् ।

[38अ] द्वितीयो यथा—

स्वीयानानन्दयन्नेष परकीयान् हनिष्यति ।

अत्र परकीयान् हत्वा स्वीयानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।

स्तब्धोऽयं विवरान्वेषी पतत्यश्लीलमीदृशम् ।

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

व्यक्तस्वीकृतमित्युक्तमर्थस्य पुनरुक्तितः ।

यथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥118॥

अत्र विदितं तेस्तु इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः । लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत् । अक्रमश्च प्रकाशितविरुद्धता चेत्येवमन्येऽपि दोषाः सन्तीति दोषाकरस्य पद्यस्य गुणागुणदृष्टीनां कौमुदीप्रमोदायेत्यलम् ।

(20) अनुवादायुक्तता (21)विधेयायुक्तता–कहीं पर अनुवाद की अयुक्तता तथा विधेय की अयुक्तता होने पर दोष होता है ।

इनमें से प्रथम अनुवादायुक्तता का उदाहरण जैसे—

हे विरहीजनों के प्राणों का नाश करने वाले शीतांशु (चन्द्रमा) ! मुझे दुःख न दो ।

यहाँ "विरहिप्राणनाशन" यह पद अनुवाद के योग्य नहीं है । (क्योंकि यह विरही की उक्ति है और चन्द्रमा से दुःख न देने की प्रार्थना है, परन्तु वाद में विशेषण विरहिप्राणनाशन" दिया है ।)

द्वितीय विधेयायुक्तता दोष का उदाहरण है—

स्वपक्ष को आनन्दित करता हुआ यह परपक्ष का नाश करेगा ।

यहाँ परपक्ष का हनन किये बिना स्वपक्ष को आनन्दित करना सम्भव नहीं, अतः "परकीयान् हत्वा स्वीयानन्दयिष्यति" इस प्रकार विधेय करना चाहिए ।

(22) अश्लीलता अर्थदोष—उद्धत अभिमानी (खड़े हुए) और छिद्रान्वेषी (व्यक्ति या लिंग) का पतन होता है ।

यहाँ पुरुष के लिंग की प्रतीति होती है (अतः व्रीडाजनक अश्लीलता का उदाहरण है) ।

(23) त्यक्तपुनःस्वीकृतत्व या समाप्तपुनरुक्तत्व अर्थदोष वहाँ होता है, जब उपसंहार हो जाने के पश्चात् उसे पुनः उठा लिया जाये । जैसे—

(राजा की स्तुति करते हुए कवि का कथन है कि मानो लक्ष्मी राजा की कीर्त्ति को अपनी दूती बनाकर अपने पिता समुद्र के पास यह सन्देश भेज रही है-) जो तलवार राग (अनुराग या रुधिर के रंग) से युक्त होकर शत्रुओं के गले में लग जाती है, जिसको अन्य लोगों ने मातङ्गों (हाथियों या चाण्डालों) के भी ऊपर गिरते हुए देखा है, उसी तलवार में आसक्त होकर यह राजा मेरी कुछ परवाह नहीं करता और उसने मुझे सेवकों को दे दिया है, यह आपको मालूम रहे । लक्ष्मी की आज्ञा से मानों यह सन्देश सुनाने के लिये उस राजा की कीर्त्ति (लक्ष्मी के पिता) समुद्र के पास गयी है ।।118।।

यहाँ "विदितं तेऽस्तु" यहाँ वाक्य पूरा हो गया है, उसे "तेन" इत्यादि से पुनः उठाया गया है अतः समाप्तपुनरात्तत्व अर्थदोष हो गया है । लक्ष्मी उसको छोड़ रही है, इस विरुद्ध बुद्धि की प्रतीति होने से विरुद्धमतिकृत् दोष भी यहाँ है । अक्रमता, प्रकाशितविरुद्धता आदि ऐसे अन्य दोष यहाँ हैं, अतः दोष की खान इस पद्य को गुण और दोष की दृष्टि रखने वालों के समक्ष "कौमुदी प्रमोद" (मनोविनोद) हेतु प्रस्तुत किया गया है । अर्थदोषों का यह प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है ।

अथ रसदोषाः—

रसस्य शब्दवाच्यत्वं कष्टाद्व्यक्तिर्विभावजा
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः
अकाण्डेप्रथनोच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः
अङ्गिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः
अनङ्गस्याभिधानं च रसदोषाः प्रकीर्त्तिताः ।।सू.90।।

रसविभावावुपलक्षणौ तेन व्यभिचारिस्थायिभावादयो गृह्यन्ते ।

यथा—

[384] कोऽपि तस्या रसो जज्ञे यत्र व्रीडादिविभ्रमः । A

अत्र रसव्रीडादीनां शब्दवाच्यत्वम् ।

शृङ्गारः सुखदो वाला[1] रतिकल्पलताफलम् ।

अत्र रसस्थायिभावयोः शब्दवाच्यत्वम् ।

यथा वा—

शृङ्गारी गिरिजानने सकरुणो रत्यां प्रवीरः स्मरे ।

इति रसाकारान्तः[2]करणवृत्तेः शब्दज्ञानतिरस्कृतिर्दोषवीजम् ।

विकाशिनि विधौ वाला[3] वीक्षिताक्षिप्तलोचना ।

अत्र शृङ्गारोद्दीपनालम्ब[4]नविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना ।

मा विधेहि प्रिये[5] मानमिदं यौवनमस्थिरम् ।

अत्र यौवनास्थैर्यकथनं शान्तस्याङ्गमिति शृंगारे प्रतिकूलम् ।

रस-दोष—

अब रसदोष का निरूपण करते हैं—

(1) रस की [(2) व्यभिचारिभावों की अथवा (3) स्थायिभावों की] स्वशब्द वाच्यता, [(4) अनुभाव और] (5) विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (6) प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, (7) रस को बार-बार दीप्त करना, (8) रस का अनुचित स्थान में विस्तार कर देना या (9) विच्छेद कर देना, (10) अंगभूत रस को अतिविस्तृत करना, (11) अंगी(प्रधान) को भुला देना, (12) प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय करना और (13) जो अंग नहीं है उसका कथन करना, ये तेरह रस-दोष कहे गये हैं ।।मू.90।।

---

1. बाला
2. ०न्तःक०
3. बाला
4. ०म्बन०
5. हे (मू. पा. टि.)

रस और विभाव शब्द उपलक्षण हैं उनसे व्यभिचारिभाव, स्थायिभाव आदि का भी ग्रहण होता है।

(1–2)–(रस और व्यभिचारिभावों की स्वशब्द से वाच्यता का उदाहरण) जैसे—

उसके किसी रस का बोध हुआ जिसमें व्रीडा आदि का विभ्रम था।

यहाँ रस और व्रीडा आदि व्यभिचारिभावों का अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होने से स्वशब्दवाच्यता दोष है।

(3) शृङ्गार सुखदायक है और बाला रतिरूपी कल्पलता का फल है।

यहाँ रस और स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता होने से रसदोष है।

(4–5) अथवा जैसे—

गिरिजा के मुख पर शृङ्गारी, रति पर सकरुण और कामदेव पर प्रकृष्ट वीर हैं।

इस वाक्य में अन्तःकरण की रसाकार चित्तवृत्ति का शब्दज्ञान द्वारा तिरस्कार ही दोष का बीज है।

चन्द्रमा के विकसित होने पर बालिका ने देखने के लिए नेत्रों को आक्षिप्त किया (नजर उठायी)।

यहां शृङ्गाररस का उद्दीपन विभाव और आलम्बन विभाव "अनुभावपर्यवसायी" होकर स्थित हैं अर्थात् अनुभाव की कठिनता से कल्पना कराते हैं।

(6) हे प्रिय ! मान मत करो, यह यौवन स्थिर नहीं रहता।

यहाँ यौवन की अस्थिरता का कथन शान्त रस का अंग है, अत: शृंगाररस के प्रतिकूल भावों का ग्रहण होने से दोष है।

पुनः पुनः समुद्देशो दीप्तिर्वाक्येषु कल्पिता ।।सू.91।।

वाक्येष्विति प्रकरणं सन्दर्भपरिहारः काव्यत्वेनाभिमतस्य शब्दस्यैव निर्दोषत्वे लक्षणस्वरसात् ध्वनेस्तु भिन्नो विषय इति न शङ्कास्पदम्। नापि सन्दर्भस्य रसोपस्थापकत्वनियमः तादृशवाक्येनापि तदुद्बोधात्। एतेन कुमारसम्भवे रतिप्रलापे दीप्त्युदाहरणं परास्तम् तदेवमुदाहार्यम्—

रमयति परिचुम्बिता नितान्तं
सुखयति सा परिरम्भिता भुजाभ्याम्।
मदयति मदनं परिस्फुरन्ती
सुतनुरियं सुरतेषु रंरमीति ।।119।।

अकाण्डे प्रथनं यथा—

[39अ] गच्छाम्युद्दण्ड चापच्युतविशिखशिखोन्मूलिताराविमुण्डैः
क्रीडाहेतोस्तथायं रसति रणभुवि न्यस्तढक्कानिनादः।
इत्थं जल्पत्यनल्पं प्रणयिनि सुदती कण्ठमालिङ्ग्य कान्तं
तैस्तैरानन्दलीलासमुचितरचनैश्चित्तमन्यं चकार ॥120॥

न चैवं संहारकाले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारकथने सर्वोऽप्यङ्कः कलङ्कयितुमुचितः।

(7) बार-बार निर्देश किया जाना दीप्ति है जो वाक्यों में कल्पित की जाती है ॥ सू. 91 ॥

"वाक्येषु" का अभिप्राय प्रकरण है, इसके कथन से सन्दर्भ का निराकरण होता है। काव्यत्व के रूप में अभिमत शब्द की ही निर्दोषता में लक्षण की स्वरसता (अनुकूलता) के कारण ध्वनि का कोई भिन्न विषय है–ऐसी शंका का यहाँ स्थान नहीं है। न ही सन्दर्भ का ही रस की उपस्थापकता का नियम होता है (क्योंकि) उस प्रकार के वाक्य के द्वारा भी उस (रस) का उद्बोध किया जा सकता है। अतएव "कुमारसम्भव" का रतिप्रलाप दीप्ति के उदाहरण के रूप में अस्वीकृत हो जाता है। इसलिये यह उदाहरण देना चाहिये—

वह चुम्बन किये जाने पर अत्यधिक प्रसन्न होती है, भुजाओं से आलिगन करने पर सुख देती है, काम को जगाती हुई वड़कने मदविह्वल करती है, इस प्रकार यह कृशांगी सुरत में विशेष रमण करती है ॥ 119 ॥

(8) रस के अनवसर में प्रतिपादन का उदाहरण जैसे—

ऊपर उठे हुए धनुष से छूटे हुए बाण के अग्रभाग से काटे गये शत्रुओं के मस्तकों से क्रीड़ा के लिये जाता हूँ। वैसे ही युद्धभूमि में रखे हुए बड़े ढोल का निनाद गूंज रहा है। इस प्रकार से बहुत सी बातें बोलते हुए पति का सुन्दर दांतों वाली पत्नी ने कण्ठ में आलिगन करके उन-उन आनन्ददायक क्रीड़ाओं के समुचित प्रयोग से चित्त को अन्य प्रकार का कर दिया ॥ 120 ॥

इसी प्रकार ("वेणीसंहार" नाटक के द्वितीय अंक में भीष्म आदि अनेक वीरों के) संहार के समय भानुमती के साथ दुर्योधन के शृंगाररस का वर्णन किया गया है। इसमें सम्पूर्ण अंक को ही दोषयुक्त बताना उचित नहीं है।

छेदो यथा वीरचरित[1]द्वितीयेऽङ्के भार्गवराघवयोर्धाराधिरूढेऽन्यो-

---

1. नाटक (मु. पा. टि.)

न्यसंरम्भे कङ्कणमोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्तिः ।

अङ्गस्य विसृतिर्यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्रव्यगमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

प्रकृतयो द्विव्याऽदिव्या दिव्यादिव्याश्च, धीरोदात्ताद्या, उत्तमाद्याश्च । तेनाताद्दशवर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतच्छद्मना वालिवधः । यथा वा कुमारे परमेश्वरयोः सम्भोगवर्णनं पित्रोरिवात्यन्तमनुचितम् ।

अनङ्गस्याऽनुपकारकस्य वर्णनं यथा कर्पूरमञ्जर्यां राज्ञा नायिकया च स्वयं कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य [1]बन्दिवर्णितप्रशंसा[2] ।

इत्युक्ता रसदोषाः ।

(9) अनुचित स्थान में रसभंग कर देना (भी दोष है ।) जैसे—

"महावीरचरितनाटक" के द्वितीय अंक में परशुराम और राम के परस्पर प्रारम्भ हुए संवाद के चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर "कंकण खोलने के लिये जा रहा है," यह रामचन्द्र का कथन (रसानुभूति में बाधक होने से रसदोष है) ।

(10) अङ्ग (अप्रधान) रस का विस्तार किये जाने पर दोष का उदाहरण जैसे (कश्मीरी भर्तृमेण्ठकवि विरचित नाटक) "हयग्रीववध" में (प्रतिनायक) हयग्रीव का वर्णन ।

(11) अङ्गी (प्रधान नायक या नायिका) का विस्मरण होने पर भी रसदोष होता है जैसे "रत्नावली" नाटिका के चतुर्थाङ्क में वाभ्रव्य (नामक कञ्चुकी) के आने पर (उदयन को मुख्य नायिका) सागरिका की विस्मृति हो जाती है (अतः शृङ्गार-रस में विच्छेद-सा आ जाने पर दोष हो जाता है)।

(12) प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं–दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य । फिर ये नायक धीरोदात्त आदि (धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशान्त भेद से चार प्रकार के होते हैं) और उत्तम आदि (उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद) होते हैं । इनमें से जो जैसी प्रकृति का है उसके स्वरूप के अनुरूप ही वर्णन होना चाहिये, ऐसा वर्णन न होने पर प्रकृतिविपर्यय दोष होता है ।

---

1. व०
2. ०प्रसंशा

जैसे धीरोदात्त नायक राम का धीरोद्धत की भाँति छद्म से बाली का वध करना अथवा "कुमारसम्भव" में शिव और पार्वती के सम्भोग का वर्णन माता-पिता के (सम्भोग-वर्णन के) समान अत्यन्त अनुचित है।

(13) अनङ्ग अर्थात् प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन, जैसे—"कर्पूर-मंजरी" नाटिका में राजा के द्वारा स्वयं किये हुए और नायिका के किए हुए वसन्तवर्णन की उपेक्षा करके बन्दियों द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की (राजा के द्वारा) प्रशंसा की जाती है।

इस प्रकार रसदोष कहे गये हैं।

[39ब] [1]सर्वेषामप्यदोषत्वं कस्याप्यनुकृतौ भवेत् ॥ सू. 92 ॥

अनुकरणे तु सर्वेषामित्युक्तत्वात्—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम्[2]।

वक्त्राद्यौचित्यमात्रे तु गुणत्वं नोभयं क्वचित् ॥ सू. 93 ॥

वैयाकरणे वक्तरि रौद्रादौ व्यङ्ग्ये च दुःश्रवत्वं कष्टत्वं गुणः। यथा-[3]औनाहंन्तीघर्णगुंण्यैः।

यथा वा—

अदह्यताग्निज्वालाभिर्यदाखण्डलखाण्डवम्[4]।
अकाण्डोद्दण्डपाण्डित्यमेतत्पाण्डवताण्डवम्[5] ॥ 121 ॥

अर्थोद्भवं वाच्यम्।

[6]कामिनीगण्डपाण्डुर्मां क्षिणोति क्षणदासु यत्।
आस्तामस्ताचलोदस्त[7]मस्तकश्चन्द्रमाश्चिरम् ॥ 122 ॥

---

1. अथ दोषाङ्कुशमाह (मू. पा. टि.)
2. अत्रानुकरणे श्रुतिकटुदोषो न (मू. पा. टि.)
3. औनाहंन्तो घर्णगुंण्यैर्नहृपिनिरहादिवम्।
   नोऽकृतमानोऽत्यगुणो विनुर्विजयतेतराम् ॥
4. यत (मू. पा. टि.)
5. अर्जुनस्य साम्यं (मू. पा. टि.)
6. कामिनी गण्डवत्पाण्डुश्चन्द्रो मां रात्रिषु पीडयति तत्फलमस्ताचलेनेति।
   (मू. पा. टि.)
7. नाम (मू. पा. टि.)

अत्र विप्रलम्भे कुपितो वक्ता।

दोषों की अनित्यता—

अब दोषों की अनित्यता (दोषाङ्कुशों) को कहते हैं—

(1) यदि किसी का अनुकरण किया जाय तो कोई दोष, दोष नहीं रहता ।। सू. 92 ।।

अनुकरण किये जाने पर सब दोषों की अदोषता जैसे—

वह (व्यक्ति) "मैंने मृगनयनी को देखा" इत्यादि कहता है।

यहाँ (शृङ्गाररस के वर्णन में "अद्राक्षम्" श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग किया गया है अतः दोष होना चाहिये। परन्तु यहाँ वक्ता दूसरे के द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अनुकरण करके निर्देश कर रहा है अतः) अनुकरण में श्रुतिकटुदोष नहीं माना जायेगा।

(2) वक्ता आदि का औचित्य होने पर (कहीं दोष भी) गुण हो जाता है और कहीं (गुण और दोष) दोनों ही नहीं होता ।। सू. 93 ।।

1 वैयाकरण के वक्ता होने पर और रौद्र आदि रस व्यङ्ग्य होने पर श्रुतिकटु और कष्टत्व दोष गुण हो जाते हैं, जैसे "औत्राहंन्तीचरणैर्गुण्यैः"। (सम्पूर्ण श्लोक का अर्थ है—वेद के अध्येता और वेदविहित कर्म के योग्य रूप में प्रसिद्ध गुणों से सम्पन्न महर्षियों के द्वारा प्रतिदिन अत्यधिक स्तूयमान निर्गुण भी विभु = सर्वव्यापक परमेश्वर सर्वोत्कर्षरूप में स्थित है।)

(यहाँ कठोर वर्णों का प्रयोग होने से दुःश्रवत्व दोष माना जा सकता है, परन्तु वैयाकरण वक्ता होने से दोष भी गुण ही हो जाता है।)

अथवा जैसे—

इन्द्र का खाण्डववन अग्नि की ज्वलाओं से जल गया, यह अर्जुन की आकस्मिक उद्दण्डतापूर्ण दक्षता से युक्त क्रीड़ा थी ।। 121 ।।

यहाँ उद्धत वाच्य है (अतः दुःश्रवत्व यहाँ गुण है, दोष नहीं)।

कामिनियों के कपोलों के समान श्वेत चन्द्रमा मुझे रात्रि में पीड़ित करता है, अतः (मेरी कामना है कि) चिरकाल तक अस्ताचल से उसका मस्तक भग्न होता रहे ।। 122 ।।

यहाँ विप्रलम्भ (शृङ्गार कोमल रस है पर चन्द्रमा के ऊपर) कुपित वक्ता होने से श्रुटिकटुत्व गुण है।

रौद्रबीभत्सादौ दुःश्रवत्वं गुणः। सुरतारम्भगोष्ठ्या[1]दावश्लीलत्वं तथा गुणः। यथा—

करिहस्तेन सम्बाधे[2] प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः[3] साधनान्तर्विराजते॥ 123॥

शान्ते यथा—

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे प्रीतिरकृमेः[4] कस्य जायते॥ 124॥

[5]निर्वाणवैर[6]दहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
[7]रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था[8] भवन्तु कुरुराजसुताः[9] [10]सभृत्याः॥ 125॥

अत्र भाव्यमङ्गलम्।

[40अ] एवं "पृथुकार्तस्वरपात्रमि"[11]त्यादौ वाच्यमहिम्ना व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे सन्दिग्धो गुणः।

विदूषकाद्युक्तौ ग्राम्यो गुणः।
ख्यातेऽर्थे निर्हेतुताया अदोषः।

---

1. ० ष्ठ्या ०
2. ० म्बाधे
3. पुंसां
4. कृमिं विना (मू. पा. टि.)
5. वेणीसंहारे युधिष्ठिरं प्रति सहदेववाक्यम् (मू. पा. टि.)
6. ० वैरि ०
7. रक्तः रुधिरं प्रसाधनं (मू. पा. टि.)
8. पक्षे स्वः स्थाः स्वर्गस्था इत्यर्थः (मू. पा. टि.)
9. दुर्योधनादयः (मू. पा. टि.)
10. सभृ ०
11. पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
 विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥

2. जैसे रौद्र, वीभत्स आदि रसों में दुःश्रवत्व (श्रुतिकटुत्व) गुण हो जाता है, उसी प्रकार सुरत के आरम्भकाल की बातों में अश्लीलता गुण हो जाती है, जैसे—

हाथी की सूँड के द्वारा (अथवा करिहस्त–तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तीनों अंगुलियों को मिलाकर) शत्रुओं के साथ युद्ध में (अथवा रति क्रीड़ा में) भीतर प्रविष्ट होकर विलोडित करने पर पुरुष की ध्वजा (अथवा लिंग) उस (शत्रु) के समीप चलते हुए शत्रुसेना के (अथवा योनि के) बीच में जाकर सुशोभित होती है ।। 123 ।।

(यहाँ कामशास्त्र की रहस्य वस्तु को सुरतारम्भगोष्ठी के समय व्यक्त किया गया है अतःव्रीडाजनक अश्लीलता भी गुण हो गयी है।)

शान्त में (वैराग्यविषयक चर्चा में जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता गुण हो जाती है) जैसे—)

ऊपर पेट करके पड़े हुए और फूले हुए (अथवा किसी रोग से सूजे हुए) मेंढ़क के फाड़े हुए पेट के समान, मवाद बहाते हुए (मदनजल से युक्त) स्त्री की योनि में कीड़ों के अतिरिक्त और किसकी प्रीति हो सकती है? ।। 124 ।।

3. (अमंगल व्यञ्जक अश्लीलता के गुणत्व के उदाहरण रूप में "वेणी-संहार" नाटक के प्रथम अंक में सूत्रधार की उक्ति हैं। पादटिप्पणी में इसे युधिष्ठिर के प्रति सहदेव का वाक्य कहा गया है, परन्तु नाटक में यह सूत्रधार का कथन है—

शत्रुओं के नष्ट हो जाने से जिनकी वैराग्नि शान्त हो गयी है, ऐसे पाण्डव कृष्ण के साथ आनन्दित हों। अपने आसक्त मित्र आदि को भूमिदान देने वाले और आपसी विग्रह को नष्ट करने वाले दुर्योधन आदि कौरव भृत्यों के साथ स्वस्थ हों। (श्लोक के उत्तरार्द्ध का द्वितीय अर्थ है–अपने रक्त से पृथ्वी को रंगने वाले और घायल शरीर वाले वे कौरवगण अपने भृत्यों-सहित स्वर्ग चले जायें) ।।125।।

यहाँ भावी अमंगल की सूचक (अश्लीलता गुण हो गयी है)।

4. इसी प्रकार "पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्" इत्यादि श्लोक में वाच्य के प्रभाव से व्याजस्तुतिपर्यवसायी होकर सन्दिग्धत्व भी गुण हो जाता है।

5. विदूषक आदि (अधमप्रकृति के पात्रों) की उक्ति में ग्राम्यत्व दोष भी गुण हो जाते हैं।

6. प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता (हेतु न होना) दोष नहीं है।

कविसमयख्याते ख्यातविरुद्धता गुणः । यथा—

> मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो
> रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
> तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
> ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥ 126 ॥

> पादाघातादशोको विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै-
> र्यूनामङ्गेषु हाराः[1]: स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
> मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो[2]-
> र्भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ 127 ॥

> अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे,
> मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
> न स्याज्जाती वसन्ते न च कुसुमफले[3] गंधसारद्रुमाणा[4]-
> मित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ 128 ॥

[5]निहतार्थाऽप्रयुक्तौ च न दुष्टौ कविवर्त्मनि । यथा—

> येन ध्वनिस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो[6]
> यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोगंगां च योऽधारयत् ।
> यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामाऽमराः
> [40ब] पायात्स स्वयमंधकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः[7] ॥ 129 ॥

अथ शशिमदन्धकक्षयकरशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ[8] ।

---

1. ० रः
2. कामस्य (मू. पा. टि.)
3. मूलं भुजङ्गैः शिखरं विहङ्गैः शाखा प्लवङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैरिति तु कविसमयविरुद्धम् (मू. पा. टि.)
4. चन्दनानाम् (मू. पा. टि.)
5. निहिता ०
6. ० कृतौ
7. माधवः श्रीकृष्णः । उमाधवो रुद्रश्च (मू. पा. टि.)
8. ० हितार्थौ

7. कवि-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध होने पर ख्यातविरुद्धता दोष भी गुण हो जाता है, जैसे—

आकाश और पाप (रूपरहित होने पर भी कविसम्प्रदाय में) मलिन प्रसिद्ध है। यश, हास और कीर्त्ति में श्वेतता वर्णित की जाती है। क्रोध और अनुराग को रक्तिम कहा जाता है। नदी और समुद्र में लाल कमल, नील कमल आदि का वर्णन किया जाता है (जबकि बहते पानी में और समुद्र में कमल सम्भव नहीं है)। सम्पूर्ण जलाशयों में हंसादि पक्षियों का वर्णन होता है। चकोरों के द्वारा चन्द्रिका का पान किया जाता है, वर्षा ऋतु में हंस मानसरोवर जाते हैं, युवतियों के पादाघात से अशोक पुष्पित होता है, उनके मुख की मदिरा से बकुल (मौलसिरी) विकसित होता है। युवकों के अंगों में हार होते हैं और वियोग के सन्ताप से उनका हृदय फटता है। कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा भ्रमर-पंक्ति होती है, उसके धनुष-बाण पुष्पों के होते हैं और उसके बाणों से तथा उसी के समान स्त्रियों के कटाक्षों से युवकों के हृदय विद्ध होते हैं। दिन में कमल और रात में कुमुद खिलते हैं। शुक्लपक्ष में चाँदनी होती है, मेघ-गर्जन पर मयूरों का नृत्य होता है। अशोक वृक्ष में फल नहीं होता। वसन्त ऋतु में चमेली नहीं होती और चन्दन के वृक्ष पर पुष्प और फल नहीं होते (इस वृक्ष की जड़ सर्पों से, शिखर पक्षियों से, शाखा बन्दरों से, पुष्प भ्रमरों से युक्त होते हैं) इत्यादि कवि-सम्प्रदाय की अन्य प्रसिद्धियाँ भी सत्कवियों के प्रबन्ध में देख लेनी चाहिये।

॥ 126–8 ॥

8. कविमार्ग में "निहतार्थत्व" तथा "अप्रयुक्तत्व" दोष नहीं होते, जैसे—

(विष्णुपक्ष में श्लोकार्थ—) जिस (अभवेन अनो ध्वस्तं) अजन्मा विष्णु ने (बाल्यावस्था में) शकटासुर को नष्ट किया। पहले (अमृतहरण के समय) राजा बलि को जीतने वाले, अपने शरीर को स्त्रीरूप (मोहिनीरूप) कर लिया। जो दुष्प्रवृत्ति वाले कालियनाग को मारने वाले हैं, जिसमें रव श्रुतिरूप वेद का लय होता है अथवा जिनका लय अकाररूप में शब्द में होता है। जिसने 'अंग"—गोवर्धन पर्वत तथा "गां" वराहावतार के समय पृथ्वी को धारण किया। देवता जिनका "शशिमच्छिरोहर" (राहु का सिर काटने वाले) यह प्रशंसनीय नाम बताते हैं। यादवों का नाश करने वाले और सब कामनाओं को देने वाले विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

(शिवपक्ष में श्लोकार्थ–)कामदेव का नाश करने वाले जिन शिव ने (पुरा) त्रिपुरदाह के समय विष्णु के शरीर को (अस्त्रीकृतः) बाण बनाया। जो भयानक

नागों को हार और कंगन के रूप में पहनते हैं और जिन्होंने गङ्गा को धारण किया है, जिनका शिर चन्द्रमा को धारण करता है। देवता जिनको 'हर' यह प्रशंसनीय नाम कहते हैं। अन्धकासुर का नाश करने वाले (उमा धव) उमापति शंकर सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ 129 ॥

यहां (विष्णुपक्ष में) "शशिमद्" तथा "अन्धकक्षय" शब्द अप्रयुक्त और निहतार्थक हैं।

"वद वद जितः स शत्रुरि"त्यादौ हर्षभयशोकादियुक्ते वक्तरि अधिकं न दोषः।

लाटानुप्रासे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये कथितपदं गुणः, विहितानुवाद्यत्वे च। इत्थमन्यत्रापि गुणत्वं वक्तृप्रतीत्यादिना बोध्यम्।

स्वशब्देनाप्युक्तौ क्वचिद्व्यभिचारिणामदुष्टता ॥ सू. 94 ॥

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया।
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ॥[1]

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने न झटिति प्रतीतिः।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बा[2]ध्यत्वेन वचनं गुणो ॥ सू. 95 ॥

यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः[3] क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सेति।[4]

---

1. औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥—का. प्र.—331
2. बा०
3. चन्द्रस्य (मू. पा. टि.)
4. क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥—का. प्र.—53.

अत्र शमाङ्गानां वितर्कादीनामभिलाषादिना तिरस्कारः ।

अङ्गिन्यङ्गत्वप्राप्तौ विरोधिनोऽपि स्मरणे न दोषो ।। सू. 96 ।।

यथा—"अयं स रसनोत्कर्षी"ति[1] इत्थमन्यत् ।

इति काव्यालोके चतुर्थः प्रकाशः ।। 4 ।।

9. (अधिकपदत्व का गुण होना जैसे -) बताओ, बताओ वह शत्रु जीत गया (या नहीं) । इत्यादि उदाहरणों में हर्ष, भय, शोक आदि से युक्त वक्ता होने से अधिकपदत्व दोष नहीं रहता ।

10. लाटानुप्रास, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा विहित का अनुवाद करने में कथितपदत्व (पुनरुक्तत्व) गुण हो जाता है । इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी वक्ता के विचार आदि के अनुसार गुणत्व जानना चाहिये ।

(3) कहीं-कहीं पर व्यभिचारी भावों का स्वशब्द से कथन होने पर भी दोष नहीं माना जाता ।। सू. 94 ।।

जैसे (रत्नावली का मङ्गलाचरण का श्लोक)—

(प्रथम समागम के समय शिवजी से) मिलने की उत्सुकता के कारण (पार्वती) शीघ्रता करती हुई, फिर लज्जा के कारण लौटती हुई, पुनः बन्धुओं की वधुओं के उस समय प्रयुक्त वचनों के साथ शिव के सम्मुख पहुँचाई गयी ।

यहाँ "औत्सुक्य" का अनुभाव त्वरा (भयादि का भी अनुभाव हो सकता है अतः त्वरारूप) अनुभाव के द्वारा यदि प्रतिपादन किया जाये तो औत्सुक्य की प्रतीति जल्दी नहीं हो सकती (अतः यहाँ औत्सुक्य और ह्री रूप व्यभिचारिभावों का स्वशब्द से कथन करना आवश्यक हो गया है) ।

(4) विरुद्ध रस के सञ्चारी आदि भावों का बाध्य रूप से कथन करना गुण होता है ।। सू. 95 ।।

जैसे—

कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रमा का वंश (तर्क), क्या वह फिर कभी देखने को मिलेगी (औत्सुक्य) ?

यहाँ (शृङ्गार रस के विरोधी) शान्त रस के पोषक वितर्क आदि का

---

1. अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ।।—का. प्र.—338

अभिलाष के अंगभूत औत्सुक्य आदि से तिरस्कार होता है (अतः वितर्क आदि दब जाते हैं और चिन्ता ही प्रधान रहती है, अतः विप्रलम्भ शृङ्गार रस पुष्ट होता है)।

यदि दो विरोधी रस किसी तीसरे प्रधान (अङ्गी) रस में अङ्गता प्राप्त कर लें (तो दोष नहीं रहता) तथा विरोधी रस का स्मरण के रूप में कथन हो तो दोष नहीं माना जाता है ।।सू.96।।

जैसे—"अयं स रसनोत्कर्षी" इत्यादि (श्लोक में स्मर्यमाण शृङ्गाररस प्रधान करुण रस का पोषक होने से दोष नहीं है)

इसी प्रकार अन्य दोषों का भी गुणत्व (अदोषत्व) माना जाता है।

"काव्यालोक" का चतुर्थ प्रकाश समाप्त हुआ ।। 4 ।।



पञ्चमः प्रकाशः

गुण-निरूपणम्

विशिष्टशब्दधर्माणां गुणानामथ निर्णयः ॥सू. 97॥

शब्दस्य विशिष्टत्वं व्याख्यातं प्राक्। शब्दार्थरसरचनागतत्वेन काव्यधर्मत्वं गुणत्वम्।

अत्रेत्थं मूलग्रन्थाभिप्रायः न काव्यधर्मो गुणः अपितु रसस्य अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां[1] गुणानां रसधर्मत्वनिश्चयात्।

अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्।

[41अ] इत्यत्रालङ्कारमहिम्नैव काव्य ^ पदप्रयोगात्।

"अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चै" रित्यादौ सत्यपि गुणे तदप्रयोगात्।

तस्मादात्मन एव शौर्यादयो नाकारस्य तस्मिं[2]स्तूपचरिताः। तथाहि वितताकृतित्वमात्रेणाऽशूरेऽपि शूरत्वव्यवहारस्याऽऽकृतिलघुत्वे शूरेऽप्यशूरत्वव्यवहारात् रसधर्मत्वं गुणत्वं समुचितवर्णव्यज्यत्वं न पुन-र्वर्णमात्राश्रयत्वं गुणानामिति।

नव्यास्तु[3] निर्गुणस्यात्मनो गुणत्वानुपपत्तिवत् तादृशस्य रसस्यापि माधुर्यादिगुणानुपपत्तेः। "शृङ्गारो मधुर" इत्यादिव्यवहारस्तु वाजिगन्धो-स्येतिवदस्तु। अथैवं द्रु ति[4]दीप्तिविकाशाख्यचित्तवृत्तिप्रयोजकतासम्बन्धो

1. रससत्वे गुणत्वं रसाभावे गुणाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकौ (मू.पा.टि.)
2. आकारे (मू.पा.टि.)
3. रसगङ्गाधरकारादयः (मू.पा.टि.)
4. द्रवत्व (मू.पा.टि.)

द्रुत्यादिकमेव माधुर्यादिकमस्तु । प्रयोजकत्वं वाश्ष्टादिविलक्षणशब्दार्थ-रसरचनागतमेवेत्याहुः ।

गुण-निरूपण—

अब विशेष शब्द के धर्म गुणों का विवेचन किया जा रहा है ।

॥ सू. 97 ॥

शब्द की विशिष्टता की व्याख्या पहले की जा चुकी है । शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहने वाला काव्य का धर्म गुण है ।

इस विषय के मूलग्रन्थ (काव्यप्रकाश) का अभिप्राय है कि गुण काव्य के धर्म नहीं है, अपितु रस के (धर्म) होते हैं । अन्वय और व्यतिरेक (रस होने पर गुण रहते हैं और रस का अभाव होने पर गुण का अभाव होता है), से निश्चय होता है कि गुण रस के ही धर्म हैं । (यदि गुणों को काव्य का धर्म माना जाये तो—)

इस (नारी) के अधरपान का रस अमृत का भी तिरस्कार करता हैं ।

इत्यादि उदाहरण में (गुणों के बिना व्यतिरेक) अलंकार के प्रयोग से ही काव्य पद का प्रयोग होता है । (अतः गुणों को काव्य-व्यवहार का प्रयोजक नहीं माना जा सकता) ।

"इस पर्वत पर बहुत तेज आग जल रही है" इत्यादि (रसविहीन काव्य) में (ओज आदि) गुण होने पर भी काव्यपद का प्रयोग नहीं होता है (अतः इन दो युक्तियों से स्पष्ट होता है कि गुण काव्य के धर्म नहीं है, अपितु रस के धर्म हैं) ।

जिस प्रकार शौर्य आदि (धर्म) आत्मा के ही होते हैं, आकार (शरीर) के नहीं । परन्तु उस (शरीर) में (शौर्य आदि गुणों की स्थिति) उपचार से मानी जाती है । क्योंकि (कहीं-कहीं) अशूर (शरीर) में भी केवल लम्बी-चौड़ी आकृति को देखकर यह "शूर है" इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है (और कहीं पर) शूर में भी शरीर के छोटे होने के कारण यह "शूर नहीं है" इस प्रकार का व्यवहार होने लगता है । अतः यह निश्चित होता है कि (माधुर्य आदि) गुण रस के धर्म हैं, और माधुर्य आदि गुण योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णों के आश्रित रहने वाले नहीं हैं ।

नवीन आलोचक रसगङ्गाधरकार आदि का मत है कि जिस प्रकार आत्मा निर्गुण होने से उसमें गुण नहीं रहता है, उसी प्रकार रस में भी माधुर्य आदि

गुण नहीं रह सकते। 'शृङ्गार-रस मधुर होता है" इत्यादि व्यवहार "इसकी वाजिगन्ध" ("यह औषध अश्वगन्धा है" इस व्यवहार के समान है।) उसी प्रकार द्रुति, दीप्ति और विकास चित्तवृत्तियों के प्रयोजकतासम्बन्ध से माधुर्य आदि गुण कहलाते हैं (अर्थात् द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ प्रयोजकता-सम्बन्ध रखती है, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं और "शृङ्गार रस मधुर होता है" इत्यादि व्यवहार होता हैं)। और (रस में रहने वाली द्रुत्यादि) प्रयोजकता अदृष्ट आदि से विलक्षण (अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि में नहीं रहने वाली), शब्द, अर्थ, रस और रचना, इन सब में रहने वाली है (अतः माधुर्य आदि गुण शब्द, अर्थ, रस और रचना में रहते हैं)। ऐसा ("रस-गङ्गाधर" में) कहा गया है।

सर्वेषां गुणानां रसधर्मत्वे मानाऽभावात् ओजः प्रभृतीनामेव गुणत्वे रसधर्मत्वे च सगुणं काव्यमिति व्यवहारानुपपत्तेः। न ह्योजः प्रभृतीनां स्वतन्त्रत्वं मुख्यस्य व्याघातात्। अपितु द्रुतिदीप्तिविकासानां[1] तत्तद्गुण-विशिष्टरसचर्वणाजन्यत्वमाश्रित्य गुणानां वृत्तिजन्यत्वं तज्जनकत्वं वा वक्तव्यम्। न तावज्जन्यत्वं प्रयोजनाभावात् नापि तज्जनकत्वं रसरूप-त्वेनानुत्पाद्यत्वात्। किन्तु समुचितवर्णव्यज्यत्वमेव तथात्वे सगुणाविति शब्दार्थयोर्विशेषणं पायन्नतिचातुरीमारोहसि। किं च [41ब] "अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधामि" त्यादौ स[2] ∧ र्वरस-साधारणस्य प्रसादस्येवान्यत्रापि यथायथ्यं गुणदर्शनात् अलौकिकाह्लादस्य विशिष्टशब्दत्वे काव्यप्रयोगात्, "अद्रावत्रेत्यादा" वप्रयोगात् शब्दार्थो-पस्कारेणाह्लादस्य धर्मिणो धर्मा गुणा इत्यस्मत्तातचरणाः।

> **विशेषाधायकस्तेन गुणः शौर्यादिवत्सतः**
>
> **आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मः सर्वत्र धर्मिणः ।।सू. 98।।**
>
> **रसे त्रेधापि कथितः[3] प्राचीनैर्दशधा स्फुटम् ।। सू. 99।।**

सर्वत्र काव्ये धर्मिण आह्लादस्य न खलु वस्त्वलङ्कारप्रधाने वक्तृ-यदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मो द्विविधः सिद्धः साध्यश्च। आद्यो

---

1. ०काशानां
1. सर्वरस्यसा०
2. काव्यप्रकाशकारेण त्रेधा रस उक्तः (मू.पा.टि.)

द्विविधः पदार्थप्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । विशेषाधानहेतुर्विशेषाधायको धर्मविशेषः न चालङ्कारेऽतिव्याप्तिः शौर्यादिविलक्षणत्वात् ।

स च त्रिविधः ।।सू. 100।।

ओजः प्रसादो माधुर्यं चेति मूलग्रन्थः ।

तत्र द्रुतिकारणमाह्लादकम् माधुर्यं शृङ्गारवृत्ति सातिशयं चेत् करुणविप्रल[1]म्भशान्तेषु ।

विस्ताररूपदीप्तिजनकत्वमोजः वीरवृत्ति सातिशयं चेत् बीभत्स-रौद्रयोः ।

स्वच्छजलवच्चित्तव्यापको धर्मविशेषः प्रसादः सर्वरसवृत्ती ।

शब्दार्थयोर्भाक्तस्तदेतत्परीक्षितं लक्षणे ।

सभी गुणों को रस का धर्म मानने में प्रमाण के अभाव के कारण ओज आदि का ही गुणत्व और रसधर्मत्व मानने पर "सगुणं काव्यम्" (काव्य गुण से युक्त है) यह व्यवहार उपपन्न नहीं होगा । न ही ओजः आदि गुणों की स्वतन्त्र सत्ता है क्योंकि उनसे मुख्य (रस) का व्याघात होता है । बल्कि द्रुति, दीप्ति और विकास (ये तीनों चित्तवृत्तियाँ) उन-उन गुणों से (क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों से) विशिष्ट रसों के आस्वाद से उत्पन्न होने के कारण ही गुणों को उन चित्तवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले या उनका जनक कहना चाहिये । (वे चित्तवृत्तियाँ) न तो उन गुणों से उत्पन्न हैं क्योंकि वह (गुण) इनका (चित्त-वृत्तियों का) प्रयोजन नहीं है और न ही वे (गुण) उन (चित्तवृत्तियों) को उत्पन्न करने वाले हैं, क्योंकि रस के रूप में उन चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति नहीं होती । किन्तु (तीनों गुण) समुचित वर्णों से ही व्यञ्जित होते हैं, ऐसा होने पर "सगुणौ" को शब्दार्थ के विशेषण के रूप में जोड़ना अत्यधिक चतुरता का आरोपण करना है । और "अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्" (इस नारी के अधरपान का रस अमृत का भी तिरस्कार करता है) इत्यादि उदाहरण में सभी रसों में रहने वाले प्रसाद गुण के समान अन्यत्र भी यथोचित गुणों का दर्शन होने से, अलौकिक आह्लाद से युक्त विशिष्ट शब्द में काव्य का प्रयोग होने से "अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः" (इस पर्वत पर बहुत तेज आग जल रही है) इत्यादि में (ओजः गुणयुक्त वाक्य में काव्य-पद का) प्रयोग नहीं होने से,

---

1. ०विप्रल०

शब्दार्थ की शोभा द्वारा आह्लाद रूपी धर्मी के धर्म ही गुण हैं, यह हमारे तात-चरण (गुरु) का मत है।

इसलिए शौर्य आदि के समान विशेषता पैदा करने वाला (कारणभूत सिद्ध) धर्म गुण होता है। इस प्रकार (काव्य में) सर्वत्र अविशिष्ट आह्लादरूप धर्मी का धर्म, (सत्पुरुष के शौर्य आदि के समान विशेषाधानहेतु) गुण हैं ॥ सू. 98 ॥

काव्यप्रकाशकार ने रस में (अर्थात् रस के धर्मरूप गुणों को) तीन प्रकार का बताया है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने गुण के दस भेद किये हैं ॥ सू. 99 ॥

काव्य में सर्वत्र धर्मी आह्लाद का (धर्म गुण होता है) वस्तु और अलङ्कार प्रधान (काव्य) में वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित धर्म गुण नहीं होता। (शब्द की उपाधि मुख्यरूप से दो प्रकार की होती है(1) वस्तुधर्म वस्तु का यथार्थ-धर्म और (2)वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से सन्निवेशित)। वस्तुधर्म दो प्रकार का होता है, (1) सिद्धरूप और (2) साध्यरूप (क्रिया)। प्रथम (सिद्धरूप वस्तु-धर्म भी) दो प्रकार का होता है—(1) पदार्थ का प्राणप्रद धर्म (जाति) और (2) (वस्तु में) विशेषता पैदा करने का कारण (गुण होता है)। वस्तु का विशेषाधान हेतु विशेष का आधायक धर्मविशेष (गुण) होता है। शौर्य आदि से विलक्षण होने के कारण उसकी अलङ्कार में अतिव्याप्ति नहीं होती।

मम्मट द्वारा उक्त तीन गुण—

वे (गुण) तीन प्रकार के होते हैं ॥ सू. 100 ॥

मूलग्रन्थ ("काव्यप्रकाश") में ओजः, प्रसाद और माधुर्य (ये तीन गुण कहे गये हैं)।

(चित्त के) द्रवीभाव का कारण आह्लादरूप माधुर्य (गुण होता है)। यद्यपि यह (माधुर्य गुण सम्भोग) शृङ्गार में रहता है, परन्तु करुण, विप्रलम्भ (शृङ्गार) और शान्त रस में भी (उत्तरोत्तर) अधिक चमत्कारजनक होता है।

(चित्त के) विस्ताररूप दीप्ति का हेतु (उत्पन्न करने वाला) ओजः गुण कह-लाता है। यद्यपि (यह ओजः गुण सामान्यतः)वीररस में रहता है, परन्तु वीभत्स और रौद्र रस में भी क्रमशः चमत्कारजनक होता है।

स्वच्छ (वस्त्र में) पानी के समान जो चित्त में व्याप्त हो जाता है वह धर्म-विशेष प्रसाद गुण होता है। (यह प्रसाद गुण) सभी रसों में रहने वाला है।

(मुख्यरूप से गुण रस के धर्म होते हैं परन्तु) गौणीवृत्ति से शब्द और अर्थ में भी उनकी स्थिति मानी जाती है—इसकी परीक्षा लक्षण में की जा चुकी है।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ सू. 101 ॥

तत्र बहूनां पदानामेकवद्भानं शब्दश्लेषः । असम्भावितार्थस्य सिद्धत्वेन कथनमर्थश्लेषः । स च शब्दे बन्धगाढत्वापरपर्यायो । यथा—

जटाजूटकूटावटा[1]दस्खलन्ती
महेशस्य सेयं पुरः स्वः स्रवन्ती[2] ।
जगज्जालजम्बालमस्यां सरस्या—
मपास्यापरे ब्रह्मभावं भजन्ते ॥ 130 ॥

[42अ] एते निस्तीर्णवेलाव^नमटनपरिक्लेशमंदाः क्षिपन्तः
कार्णाटीचन्दनाम्भःकणमुरुमुरलातीरभाजः समीराः ।
आयान्त्यायान्ति यान्तु प्रियसविधमिति प्रेयसीर्विप्रयुक्ताः
सन्दिश्योच्चैः पिकानां विरुतमनुकृतं हुङ्कृतेनापि यूथैः ॥ 131 ॥

इह तु बन्धगाढतामात्रं अर्थश्लेषो वा ।

अन्ये तु क्रियाकौटिल्यानुज्वलत्वोपपत्तियोगरूपघटना श्लेष इत्याचक्षते ।

यथा—

दृष्ट्वा कश्चित्प्रियतमे सहै[3]कासनसंस्थिते ।
निमील्य नेत्रे कस्याश्चिच्चुचुम्बान्यां रसाकुलः ॥ 132 ॥

अत्र दर्शनादयः क्रिया उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यं लोक-व्यवहाराऽविरोधोऽनुज्ज्वलत्वं नेत्रनिमीलनादिकमुपपादकक्रिया । इदमप्यसिद्धार्थस्य सिद्धत्वेन कथनमेव । गाढत्वशैथिलाभ्यां व्युत्क्रमेण बन्धस्य मिश्रणम् ।

वामनोक्त दस गुण—

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओजः, कान्ति और समाधि (ये दस शब्द गुण और दस ही अर्थ गुण वामन मानते हैं) ॥ सू. 101 ॥

1. गर्तात् (मू. पा. टि.)
2. गङ्गा (मू. पा. टि.)
3. सहैकत०

अनेक पदो की एक पद के समान प्रतीति शब्द श्लेष है। असम्भावित अर्थ का सिद्धरूप में कथन करना अर्थश्लेष है। और शब्द में (अर्थात् शब्दश्लेष में) इस प्रकार की रचना का दूसरा नाम "बन्धगाढत्व" भी बताया गया है। जैसे—

यह सामने शिवजी की जटा-समूह के गर्त (विवर) से निरन्तर प्रवाहित होती हुई स्वर्ग की नदी (गङ्गा) है। बहुत से लोग गङ्गा के जल में जगत्-बन्धन रूपी कल्मष को दूर करके ब्रह्मभाव (परमात्मा में लीन होने) का अनुभव करते हैं।) ॥ 130 ॥

विस्तीर्ण मुरला (नदी) के तीर पर बहने वाली तथा तटवर्ती वनों में घूमने के क्लेश से मन्द-मन्द चलने वाली ये हवाएँ कर्णाटक की स्त्रियों के चन्दन-जल के कणों को बिखराती हुई आ रही हैं। इस समय वियुक्त प्रियाएँ प्रिय के समीप जायें, इस प्रकार वियोगिनी प्रेमिकाओं को सन्देश देकर सखि-समूहों के द्वारा उच्च हुंकार से कोयल की ध्वनि का अनुकरण किया गया (अर्थात् उनका स्वर कोयल के समान मीठा था) ॥ 131 ॥

यहाँ रचना का गाढबन्धत्वमात्र है अथवा अर्थश्लेष है।

अन्य लोग (वामन आदि) "क्रिया", "कौटिल्य", "अनुज्वलत्व" और उपपत्ति के योगरूप घटना के विशेष प्रकार से श्लिष्ट होने को श्लेष कहते हैं। जैसे—

नायक ने अपनी दोनों नायिकाओं को एक ही आसन पर साथ-साथ बैठी हुई देखकर एक नायिका की आंखे बन्द करके रसाविष्ट हो दूसरी नायिका का चुम्बन लिया ॥ 132 ॥

उक्त पद्य में दर्शन आदि "क्रिया", उभयसमर्थनरूप "कौटिल्य" लोकव्यवहार का अविरोध अर्थात् लोकव्यवहाररूप "अनुल्वणत्व", नेत्रनिमीलन आदि उपपादक युक्तिरूप "उपपत्ति" का योग होने से श्लेष नामक अर्थगुण है। यह भी प्रसिद्ध अर्थ का सिद्ध रूप से कथन ही है। गाढत्व और शैथिल्य के लिए व्युत्क्रम से बन्ध का मिश्रण होता है।

प्रसादः यथा—

> किं ब्रूमस्तव वीरे[1] वारणघटासङ्घट्टघण्टारणत्—
> कारेणैव पलायनप्रवणतामापादिता वैरिणः।
> तूणीरेष्वसिपुत्रिकासु कवचेष्वस्त्रेषु सम्प्रत्यमी
> शोभायै रचयन्तु पाणिकमलं नासीरसेनाभटाः ॥ 133 ॥

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. सेनामुखं तु नासीर इति (मू. पा. टि.)

रसे झटिति प्रतीयमानत्वं झटिति प्रत्यायकत्वं वा रचनायाः स्वच्छतारूपः प्रसाद इत्यन्ये । प्रसिद्धार्थत्वमिति तु दण्डी ।यथा—

अति धवलोऽपि [1]शशाङ्कः कलङ्कमङ्के निवेशयति ।
मलिनसहवासदोषः कस्य न गगनेऽपि शुद्धस्य ॥ 134 ॥

रीत्यभेदः समता यथा—

कुटिलतामलके चलतां दृशोः कठिनता मनसि ध्रुवमादधत् ।
विधिरिमास्तनुते वनिताः परं मनसिजस्य हहा विषमः क्रमः ॥
॥ 135 ॥

[42ब] संयोगपर^ह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक् पदत्वं माधुर्यम् । अर्थे तु चित्तद्रवीभावजनकं वैचित्र्यम् । यथा—

कुञ्जे कुञ्जे मधुपरणितं माधवीनां लतानां
मध्ये मध्ये मधु[2]ररचना कोमलो वेणुनादः ।
अस्माकं तु त्रिभुवनसुखं नन्दसूनोः कटाक्षै-
र्वृन्दारण्ये स्वपतु भगवान् शेषशायी सुखेन ॥ 136 ॥

अत्र भगवता नास्ति किञ्चित् प्रयोजनमित्येषोऽर्थः सुखस्वापप्रेरणरूपोक्तिवैचित्र्याभिहितः ।

पूर्वा यथा—

रणितं वलयेषु पुरो भणितं वचनेषु भवति वनितानाम् ।
रणरणकविलसितानां[3] तद[4]नन्तरमेव साधिमा जयति ॥ 137 ॥

प्रसाद गुण जैसे—

हे वीर ! (तुम्हारे विषय में) हम क्या कहें ? तुम्हारे हाथियों के समूह के परस्पर टकराने पर घण्टों की आवाज (रणत्कार) से ही शत्रुजन पलायन के लिए

1. शशा॰
2. मधुपर॰
3. रणरणकः कामस्तस्य विलसितानां ततः माधुर्यं जयति (मू. पा. टि.)
4. तदनन्त॰

तत्पर हो गये। अब सेना के अग्रभाग में स्थित योद्धा तूणीरों, छुरियों, कवचों और अस्त्रों का अपने हस्तकमल की मात्र शोभा के लिए प्रयोग करते रहे ॥133॥

रस में शीघ्र ही प्रतीत होने वाला अथवा जिस रचना से शीघ्र ही अर्थ की प्रतीति हो जाये, स्वच्छतारूप वह प्रसादगुण कहा जाता है, यह अन्य विद्वानों का मत है। दण्डी ने प्रसिद्धार्थक अर्थात् वाक्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग हो, जिसके सुनते ही अर्थ प्रकट हो जाये, ऐसे वाक्य को प्रसादगुण युक्त माना है। जैसे—

आकाश में भी किस शुद्ध का मलिन के साथ सहवास दोष नहीं है, श्वेत चन्द्रमा भी अपने अङ्क में कलङ्क को निवेशित रखता है ॥134॥

(प्रारम्भ से अन्त तक) एक ही प्रकार की रीति होने पर "समता" कहते हैं। जैसे—

केश में कुटिलता, नेत्रों में चञ्चलता और मन में निश्चय ही कठोरता का आधान करता हुआ विधि इन वनिताओं को अत्यन्त विशिष्ट अवस्था में पहुँचा देता है। अहो, कामदेव का क्रम भी कितना विषम है ॥135॥

संयुक्त वर्ण आगे रहने पर (जिनकी गुरु संज्ञा होती है ऐसे) ह्रस्व स्वरों के अतिरिक्त वर्णों की सहायता से रचित होने पर तथा पदों की पृथक्ता (समास-रहित पदों का प्रयोग) होने पर माधुर्य गुण कहते हैं। (एक ही) अर्थ में चित्त के द्रवीभाव की जनक विचित्रता माधुर्य नामक अर्थगुणहै। जैसे—

प्रत्येक कुञ्ज में भ्रमर का गुञ्जन है, माधवी लताओं के बीच-बीच में मधुर रचनायुक्त कोमल वेणुनाद है। वृन्दारण्य (गोकुल के निकट वन) में नन्दनन्दन (श्रीकृष्ण) के कटाक्षों से ही हमें त्रिभुवन का सुख प्राप्त होता है। (अतः) भगवान् विष्णु शेषशैय्या पर सुखपूर्वक शयन करें ॥136॥

यहाँ "भगवान् विष्णु से कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं," इस एक अर्थ को "सुख पूर्वक शयन करें" इस प्रेरणात्मक उक्तिवैचित्र्य से कहा गया है।

प्रथम (माधुर्य नामक शब्दगुण का उदाहरण) जैसे—

पहले स्त्रियों के कङ्कण में ध्वनि होती है, वातों में अस्पष्ट ध्वनि (स्त्री-सम्भोग के समय उच्चारित अस्पष्ट सीत्कार) होती है। उसके पश्चात् ही काम-क्रीडा की साधना की जय होती है ॥137॥

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता। यथा—

> स्वेदाम्बुकणमनोहरकपोलतलतुलितकान्तिभरैः।
> पश्य सहसा हसति प्रभातशरदमलकमलकुलम् ॥138॥

अत्र हसतीति।

सौकुमार्यं पुरुषार्थस्याऽपरुषार्थत्वप्रापणं वा। "[1]जीवितेशवसतिं जगाम से" त्यादिवद्बोध्यम्

झटितिप्रतीयमानार्थत्वमर्थव्यक्तिः यथा—

> उद्यामोन्मदकालकूटकवललक्लेशो जगद्रक्षणे
> पादैकस्थितिरस्थिरत्रिपुरहृद्दाहे तथावादृता।
> यच्चण्डीश[2] ललाटलोचनपुटज्वालाजटालं क्षणा—
> त्कामं कोमलमातनोपि भगवान् तत् किं न जानीमहे ॥139॥

पदानां नृत्यप्रायत्वमुदारता विकटत्वं वा। यथा—

> पुरः प्रचलितैर्यया श्रवणयोर्दृशः प्रापिताः
> [3]पदैर्वलितकन्धरं स्थितमुदञ्चिताक्षं तथा।
> चलत् पदमटद्भ्रु वंनटदमन्दसङ्गीतकं
> कणक्कणनकं कृति ध्वनिरकाण्ड एवोद्भूत् ॥140॥

कठोर वर्णों से रहित अर्थात् कोमल वर्णों से युक्त रचना होने पर सुकुमारता नामक गुण होता है। जैसे—

देखो, पसीने जलकणों से मनोहर कपोलस्थल के समान सौन्दर्यराशि के द्वारा प्रभातकालीन शरद् ऋतु का निर्मल कमल–समूह सहसा हँसता है ॥138॥

यहाँ "हसति" पद सुकुमारता का द्योतक है।

परुष (कठोर) अर्थ के निरूपण में परुष (कठोर) अर्थ न आने देना सौकुमार्य अर्थ गुण है। जैसे (रघुवंश में राक्षसी ताडका की मृत्यु को) "वह जीवितेश (यम और प्राणेश) के घर चली गयी", इस प्रकार सुकुमारता से कहा गया है। इसी

---

1. राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
   गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥—रघुवंश—11, 20
2. हे (मू. पा. टि.)
3. पर्वैः

के समान (परुष अर्थ को सुकुमाररूप से कहने पर सौकुमार्य नामक अर्थगुण) जानना चाहिये।

शीघ्र ही अर्थ की प्रतीति होना अर्थव्यक्ति नामक गुण है। जैसे—

हे चण्डीश्वर (महादेव)! जगत् के रक्षण में आपने उद्दाम और उन्माद-कारी कालकूट (विष) को कण्ठस्थ करने का क्लेश उठाया उसी प्रकार चञ्चल त्रिपुरासुर के हृदय को जलाने में चरण की एक (दृढ़) स्थिति को आदर दिया। अब क्षणभर में ही यथेच्छया आप ललाट के तीसरे नेत्रपुट के ज्वालापुञ्ज कोमल बना रहे हैं—वह क्या (रहस्य) है—हम नहीं जानते ॥139॥

पदों के नृत्य के समान प्रतीत होने का नाम उदारता अथवा विकटता गुण है (अर्थात् रचना को पढ़ते समय उसके पद नाचते हुए से प्रतीत होते हैं, वही उदारता या विकटता है) जैसे—

सबके समक्ष नृत्य में संचालित पदों के साथ जिस तरह उसने कानों तक नेत्रों को पहुँचा दिया (विशाल नेत्रों की बंकविस्फारित मुद्रा से मोह लिया) उसी प्रकार कंधे मोड़ कर नेत्रों को ढंककर वह स्थिर खड़ी हो गई। चंचल पदसंचार, घूमती भौंहों से तीव्र संगीतक (गायनादि) के साथ नृत्य करते समय (उन मुद्राओं के साथ) बड़े बेमौके कणक्कणन की कर्कश ध्वनि उद्भूत होने लगी ॥140॥

संक्षेपप्रौढोक्तिरूपमोजः। यथा—

अखर्वगुरुगर्वभृद्गरुडगण्डकण्डूलन-
प्रशामनमहौषधप्रवलमस्त्रमद्यापि नः।
[43अ] त्रिकूटत ^ टताडनोद्र[1]वितलोकशोकाकरे।
करे कथय रे कथं त्यजतु रावणो जानकीम् ॥141॥

अत्र संक्षेपोक्तिः स्पष्टा कण्डप्रशमनकर्तृत्वाऽनाश्रयस्याप्यस्त्रस्या-श्रयत्वोक्तेः प्रौढोक्तिः।

लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं[2] कान्तिः। यथा "कुञ्जे कुञ्जे" इत्यत्र।

गाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः। यथा—

---

1. ०नोदृवि०
2. ०ज्वल्यं

जगच्चङ्गिमानङ्गतुङ्गैस्तरङ्गैरनङ्गा[1]रिसङ्गोज्ज्व[2]लाङ्गैर्विभङ्गैः ।
कृपापाङ्गरङ्गायमानैर्विमुक्तैः[3] कृतार्थी करिष्यामि गाङ्गैरिहाङ्गम् ॥142॥

अवरोहावरोहौ क्रमेण समाधिरर्थमहिमेत्यन्ये[4] ।

चपलितचापे मदने तरलितनयने च वपुषि गिरिजायाः ।
सममुभयत्र पतन्ती विभिन्नभावा जयति हरदृष्टिः ॥143॥

संक्षेप में प्रौढोक्तिरूप (अर्थात् विचित्रता से प्रदिपादन करना ही) ओजः गुण है । जैसे—

समस्त महान् गर्व को तोड़ने वाला,गरुड के गालों की खुजलाहट को शान्त करने के लिए प्रबल महौषध रूप अस्त्र, हमारे त्रिकूट पर्वत (जिस पर लंका स्थित थी) के तट को तोड़ने से भागने वाले लोगों के लिए शोकाकार स्वरूप हाथ में आज भी स्थित है, तब कहो, रावण जानकी को कैसे छोड़ दे ॥141॥

यहाँ संक्षेपोक्ति स्पष्ट है । खुजलाहट को दूर करने के कर्तृत्व अनाश्रय अस्त्र में भी आश्रयत्व की उक्ति होने के कारण यहाँ प्रौढोक्ति है ।

अलौकिक शोभारूप उज्ज्वलता कान्ति नामक गुण है । जैसे–'कुञ्जे कुञ्जे' इत्यादि" पद्य (136) में ।

गाढ़ता और शिथिलता का क्रम से स्थित रहना ही समाधि है ।

जैसे—

जगत् की विषमयता को तोड़ने से तङ्गरूपा, प्रवाहमय और वक्रता की भंगिमा से ऊंची-ऊंची, रुद्र के सम्पर्क से उज्ज्वल रूप वाली, विशिष्ट भंगिमा वाली, कृपा-कटाक्ष रूपी रंग (अभिनय) का आचरण करने वाली, सर्वथा मुक्त (विशिष्ट मुक्ति के कृपाकटाक्ष के अभिनय का आचरण करने वाली) गङ्गा की तरंगों से अपने अंग को मैं कृतार्थ करूँगा ॥142॥

यहाँ आरोह और अवरोह क्रम से होने पर समाधि (गुण है) । अन्य मतानुसार इसे अर्थमहिमा कहा जाता है । (अर्थात् भरत, दण्डी आदि आचार्यों ने इसे अर्थगुण माना है) ।

---

1. रुद्र (मु. पा. टि.)
2. ॰ ज्व॰
3. मुक्तिभिरिव: कृपाकटाक्षरङ्गाचरितैः (मु. पा. टि.), ॰क्तैः
4. ॰न्दन्ते

धनुष चढ़ाने वाले कामदेव और चञ्चल नेत्रों वाले पार्वती के शरीर, इन दोनों पर एक साथ ही पड़ने वाली विभिन्न भावयुक्त शिव की दृष्टि विजय प्राप्त करती है (अतः शिवदृष्टि की जय हो) ॥143॥

एते गुणाः शब्देऽर्थे च भवन्त्येते ॥सू. 102॥

चकाराद्रसे मतान्तरमाह ।

केचिदत्राङ्गतां गताः दोषाभावस्य ॥सू. 103॥

यथा—

ग्राम्यत्वाऽभावो माधुर्य्यं अश्लीलत्वाभावः सौकुमार्य्यम् ।
नेयार्थत्वाभावोऽर्थव्यक्तिरित्यादि मतान्तरमाह ॥

त्रयाणां शेषतां यान्ति[1] तदन्ये केचिदन्यथा ॥ सू. 104॥

त्रयाणामोजः प्रसादमाधुर्याणाम् । तथा च श्लेषार्थव्यक्तिसमाध्युदारतानामोजस्यन्तर्भावः । मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः । प्रौढिर्वैचित्र्यं न पुनर्गुणः एवमर्थश्लेषोऽपि अनधिकपदात्मा प्रसादः, उक्ति-वैचित्र्यं, अपारुष्यं, सौकुमार्य्यं, ग्राम्यत्वाभाव औदार्य्यं, भग्नक्रमस्याभावः समता, अपुष्टार्थत्वाभाव ओजः । एवं केषाञ्चिद्दोषाभावरूपत्वं केषाञ्चिदुक्तगुणेष्वन्तर्भाव इति न पृथग्गुणकल्पनेति मूलग्रन्थाभिप्रायः ।

ये दस गुण शब्द में और अर्थ में होते हैं ॥सू. 102॥

कुछ लोग यहाँ पर चकार का प्रयोग होने से रस में भी गुण मानते हैं ।

इन (दस गुणों) में भी कुछ दोषाभाव की अंगता को प्राप्त होते हैं ॥ सू. 103 ॥

जैसे—

ग्राम्य का अभाव माधुर्य, अश्लीलत्व का अभाव सौकुमार्य, नेयार्थत्व का अभाव अर्थव्यक्ति इत्यादि विभिन्न मत कहे गये हैं ।

कुछ गुण तो इन तीनों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं और कुछ अन्य प्रकार से अन्तर्भूत होते हैं ॥सू. 104॥

---

1. याति

वामनोक्त दस गुणों में से कुछ गुण ओज, प्रसाद और माधुर्यरूप तीनों गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। श्लेष, अर्थव्यक्ति, समाधि और उदारता (इन चार गुणों का) ओजः गुण में अन्तर्भाव होता है। मार्गभेदरूप समता कहीं पर दोष होती है। प्रौढ़ि (रूप ओजः) विचित्रतामात्र है, गुण नहीं। इसी प्रकार अर्थ-श्लेष भी (विचित्रतामात्र है)।

अनधिकपदरूप प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप (माधुर्य), अपारुष्यरूप सौकुमार्य, ग्राम्यत्व का अभावरूप उदारता, भग्नक्रम का अभाव समता, अपुष्टार्थ का अभाव ओजः गुण है। इस प्रकार इनमें से कुछ गुण दोषाभाव के अन्तर्गत आ जाते हैं, कुछ का (माधुर्य, ओज और प्रसाद) गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इनको अलग से गुण नहीं मानना चाहिये, यह मूलग्रन्थ ("काव्यप्रकाश") का अभिप्राय है।

अथ गुणविशेषे वर्णघटनाविशेषः मधुरः प्रौढपरुषौ ललितो भद्र इत्यपि ॥सू. 105॥

[43अ] गुणेषु वर्णविन्यासो यथावत्स म्प्रदर्श्यते। A
स्पष्टं तत्र मधुरः।

वर्ग्यात्ययुङ्भूर्द्विवर्ग्योलश्च ह्रस्वौ रणौ मितौ।
न पञ्चम्योधिका वर्ग्या मधुरो रचनाक्रमः॥

तथाह रुद्रटः।

भण तरुणि[1] रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥144॥

मुक्त्वान्त्यटान् वर्ग्ययणाः सोर्ध्व[2]रेफाः कयुक् च तः।
स प्रौढ़ः कार्यमाकर्ण्ययुक्तैरुक्तं विधीयते॥

स्पष्टम्।

सर्वः सो रेफयुक्तो[3]ऽन्योद्विर्हापि शपयुक्परः।

1. हे (मू.पा.टि.)
2. सोर्द्ध्वरे०
3. सर्ववर्गान्त्यः सकारः। रकारेण युक्तोऽन्यः (मू.पा.टि.)

परुष इत्यर्थः ।

अन्तर्व्रह्मणि लिप्सा ते शेषे जिह्रेति कर्मणि ।

स्पष्टम् ।

लघवो धवतरसयुता अयुक्त लो ललितमथ भद्रः शेषैः श्रवणैक-सुखैरित्येवं विरचिता रचना ।

अत्र मधुरादिरचनाविशेषो यथायथं गुणेषूहनीयः ।

रीतिः समासभेदेन सापि तत्सहचारिणी ।।सू. 106।।

गुणसहचारिणीत्यर्थः । असमस्ता समस्ता च ।

वैदर्भी प्रथमा मता ।

असमस्ता वैदर्भीरीतिः तत्राख्यातानामुपसर्गयोगो नानिष्टः ।

समस्ता द्वित्रिभिः पञ्चसप्तभिर्बहुभिः पुनः ।
पाञ्चाललाटगौडानां तास्तिस्रो रीतयः क्रमात् ।।

समस्तद्वित्रिपदापाञ्चाली एवमन्यत्रेति[1] गुणलक्षणम् ।

इति श्री काव्यालोके गुणनिरूपणं नाम पञ्चमः प्रकाशः ।।5।।

गुणों की व्यञ्जक पांच वृत्तियाँ—

गुण-विशेष में वर्ण और पदघटना (रचना) विशेष होने पर मधुरा, प्रौढा, परुपा, ललिता और भद्रा (ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ) भी होती हैं ।
।। सू. 105 ।।

गुणों में वर्णविन्यास यथानुसार बताया जा रहा है—

इनमें मधुरा स्पष्ट है ।

वर्ग्य (कवर्ग इत्यादि पाँचों वर्गो के 25 स्पर्श वर्ण) अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, संयुक्त लकार का प्रयोग, ह्रस्व रकार तथा णकार, मकार तथा तकार का प्रयोग, वर्ग्य (स्पर्श वर्ण) पाँच से अधिक नहीं, ऐसा रचनाक्रम मधुर होता है । जैसे कि रुद्रट ने उदाहरण दिया है—

1. पञ्चसप्तभिः पदैर्लाटीवहुभिः पदैस्समस्ता गौडीत्यर्थः (मू.पा.टि.)

आनन्ददायक सुन्दर चन्द्रमा के समान मुखवाली, हावभाव से मधुर बात करने वाली हे तरुणी ! कहो यदि तुम अपने प्रिय के घर जाती हो तो तुम्हारा (वह जाना) मुझे क्यों (व्याकुल करता है) ॥144॥

वर्गों के अन्तिम वर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) और टवर्ग को छोड़कर शेष वर्ग्य (स्पर्श वर्ण) तथा य और ण अपने ऊपर रेफ से संयुक्त रहते हैं तथा त का संयोग क के साथ होता है, वहां प्रौढा वृत्ति होती है । जैसे—

कार्य को सुनकर युक्त होने वाले लोगों द्वारा कही गई बात का पालन किया जाता है ।

यह स्पष्ट है ।

(परुषा वृत्ति में) सकार सब वर्णों के साथ संयुक्त रहता है । सभी वर्ण रकार के साथ संयुक्त रहते हैं । र के साथ ह का प्रयोग एक ओर ही होता है और उससे परे श और ष का प्रयोग होता है ।

यह पुरुषावृत्ति है, यह अभिप्राय है । जैसे—

ब्रह्म में तुम्हारी लिप्सा शेष कर्म करने में लज्जा अनुभव करती है ।

यह स्पष्ट है ।

लघु ध, व, त, र और स का प्रयोग हो और असंयुक्तरस मे ल का प्रयोग होने पर ललितवृत्ति होती है । चारों वृत्तियों के वर्णों से शेष बचे हुए वर्णों से श्रुति-सुखद रूप में रची हुयी रचना भद्रवृत्ति होती है ।

यहां गुणों में मधुर आदि रचना-विशेष यथानुसार जाननी चाहिये ।

रीति—

समास के भेद से रीति होती है ॥सू. 106॥

वह (रीति) भी उनकी (गुणों की) सहचारिणी होती है । रीति समास-रहित और समासयुक्त होती है ।

वैदर्भी रीति प्रथम मानी गयी है ।

समासरहित वैदर्भी रीति होती है। उसमें क्रियापदों का उपसर्ग के साथ योग व्याघात उत्पन्न नहीं करता।

दो या तीन पदों का, पाँच या सात पदों का अथवा अनेक पदों का समास करने पर क्रमशः पाञ्चाली, लाटी और गौड़ी, ये तीन रीतियाँ होती हैं।

(अभिप्राय यह है कि) दो या तीन समस्त पद होने पर पाञ्चाली रीति होती है। इसी प्रकार अन्य रीतियाँ होती हैं (पाँच या सात समायुक्त पद होने पर लाटी रीति होती है और अनेक समस्त पद होने पर गौड़ी रीति होती है)।

गुण-लक्षण का विवेचन समाप्त हुआ।

"काव्यालोक" का **गुणनिरूपण नामक पञ्चम प्रकाश समाप्त हुआ** ॥5॥



षष्ठः प्रकाशः

शब्दालङ्कार-विवेचनम्

संयोगवृत्त्यालङ्कारः काव्यस्याह्लादकारणम् ।
तिलकादिरिव स्त्रीणां शब्दार्थे चोन्मिषद्गतिः[1] ।।सू. 107 ।।

समवायवृत्त्या[2] गुण इत्युक्तं प्राक् ।

वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकश्लेषचित्रकम् ।
अलङ्काराः शब्दरूपे[3] वक्रोक्तिः श्लेषकाकुजा ।। सू. 108 ।।

वक्रोक्तिर्द्विधा श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्चेति । तत्र श्लेष-वक्रोक्तिः—

यदुक्तमन्यथा वक्तिवचनं पदभङ्गतः ।
श्लेषवक्रोक्तिरुदिता किं गौरीदृङ्न गौरहम् ।।

पदभङ्गेनोदाहरणं गौरि ईदृक् किं, अहं गौर्नेति ।

काकुर्ध्वनिविकारः स्यान्नायास्यति मम प्रियः ।

न आयास्यति किन्त्वायास्यतीति काकुवक्रोक्तिः ।

अनुप्रासो व्यञ्जनानामावृत्तिश्छेक एकतः ।। सू. 109 ।।

व्यञ्जनानामिति स्वरनियमाभावार्थं एकत इति सकृदावृत्त्या[4] छेकानुप्रास इत्यर्थः ।

---

1. उन्मिषन्ती गतिर्यस्य स अलङ्कारः (मू. पा. टि.)
2. पदसमवेताः गुणाः भवन्ति अलङ्कारास्तु पदानां संयोगेन भवन्ति (मू. पा. टि.)
3. काव्ये (मू. पा. टि.)
4. यथाच्छेक एकत इत्यर्थेवोदाहृतिः (मू. पा. टि.)

असकृद्वृत्तिरुदितो[1] ॥ सू. 110 ॥

असकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासः ।

मुदितामुदितादितः[2] ।

[44अ] लाटो ललितविन्यासः ॥ सू. 111 ॥

[3]चालिता ललिता लता ।

केचित्त्वमुं शिथिलमाचक्षते ।

सामान्यं तु यथा—

याता पुनरायाता तथापि न कथा वृथा भवति[4] ।
इति सङ्कल्पमनल्पं कल्पितमनया न जल्पितं किञ्चित् ॥ 145 ॥

शब्दालङ्कार-विवेचन

अलङ्कार काव्य-आह्लाद का हेतु है और संयोगवृत्ति से काव्य में विद्यमान रहता है। शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि (उन्मेष) ही उसकी गति है, जैसे तिलक आदि स्त्रियों के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं ॥ सू. 107 ॥

यह पहले कहा जा चुका है कि गुण काव्य में समवायवृत्ति से विद्यमान होते हैं। (गुण पदों में समवेत होते हैं और अलङ्कार पदों में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं।)

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्रक, काव्य में ये पाँच शब्दालङ्कार होते हैं।

1. वक्रोक्ति—

श्लेष तथा काकु से उत्पन्न वक्रोक्ति होती है ॥ सू. 108 ॥

वक्रोक्ति अलङ्कार दो प्रकार का होता है—श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति। श्लेषवक्रोक्ति जैसे—

---

1. वारम्वारमावृत्तिः वृत्तिरनुप्रास उदितः (मू. पा. टि.)
2. आदौ मदितामुदितेत्यर्थः (मू. पा. टि.)
3. यहाँ सन्धि के कारण '० सश्चालिता ०' इत्यादि लिखा है।
4. सखी नायकसमीपं गता पुनः प्रत्यागता तथापि नायकमिलनचिन्ता रूपा कथा न व्यर्थीभवति (मू. पा. टि.)

पदभङ्ग द्वारा जब कहे गये वचन को अन्य प्रकार से अर्थ लगाकर ग्रहण किया जाता है तो श्लेपवक्रोक्ति अलङ्कार कहा जाता है। जैसे—"किं गौरीदृङ्न गौरहम्", (प्रश्न) गौरी! ऐसा क्या है? (उत्तर) मैं गौ नहीं हूँ। (पदभङ्ग = किं गौरी! ईहक्? = किं गौः ईदृक्?)

यह पदभङ्ग का उदाहरण है। प्रथम वक्ता के द्वारा "गौरि ईहक् किं" "गौरी ऐसा क्या है?" कहे जाने पर द्वितीय व्यक्ति "किं गौः ईहक्" विग्रह करके प्रत्युत्तर दे रहा है कि "अहं गौर्नेति" "मैं गौ नहीं हूँ"। (अतः एक ही पद के दो प्रकार से विच्छेद करके श्लेष द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाने के कारण यहाँ श्लेप-वक्रोक्ति अलङ्कार है।)

काकु ध्वनि-विकार होता है। जैसे—मेरे प्रिय नहीं आयेंगें।

"न आयास्यति" "नहीं आयेंगें" कहे जाने पर भी "आयास्यति", "अवश्य आयेंगें", यह अर्थ निकलने से (यहाँ) काकुवक्रोक्ति है।

2. अनुप्रास—

छेकानुप्रास—व्यञ्जनों की एक ही वार आवृत्ति होने पर छेकानुप्रास होता है ॥ सू. 109 ॥

व्यञ्जनों की अर्थात् स्वरों के नियम का अभाव होने पर (व्यञ्जनों की एकतः) एक वार आवृत्ति रूप ही छेकानुप्रास है, यह अभिप्राय है। (जैसे—छेक एकतः–इसमें "क" वर्ण की आवृत्ति होने से छेकानुसार का यही उदाहरण है।)

वृत्त्यनुप्रास—(एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों की वार-वार) आवृत्ति को "वृत्ति" कहा जाता है ॥ सू. 110 ॥

वार-वार आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास होता है। जैसे—मुदितामुदितादितः। (अर्थात् प्रारम्भ में मर्दिता होकर जो मुदिता है। यहाँ दकार और तकार की आवृत्ति अनेक वार की गई है।)

लाटानुप्रास—लाट ललितविन्यास को कहते हैं ॥ सू. 111 ॥

जैसे—"चालिता ललिता लता"।

कुछ विद्वान् शिथिल (विन्यास) कहते हैं।

सामान्य जैसे—

सखी नायक के समीप गयी, पुनः लौट आयी। परन्तु फिर भी (नायक–मिलन चिन्ता रूप) कथा व्यर्थ नहीं होती। इस प्रकार उसने संकल्प तो बहुत-सा किया, (किन्तु) कुछ भी नहीं बोली ॥ 145 ॥

अन्यार्थानां पदानां तु यमकम् ।। सू. 112 ।।

वर्णानामपीत्येके । आवृत्तिरिति[1] तु शब्दार्थः ।

तद्द्विधा मतम् ।। सू. 113 ।।

यमकं द्विः प्रकारमित्यर्थः समस्तपादैकदेशभेदात् । समस्तपादावृत्तिरेकदेशेन पादावृत्तिरित्येतद्द्विधा ।

आद्या[2] त्रिधा स्फुटम् ।। सू. 114 ।।

पादार्द्धश्लोकभावा पर्यायेण त्रयश्च ते । ते यमकास्त्रयः आदिपादेन सममावृत्तानामन्येषां पर्यायेणेत्यर्थः : मुखं संदंश आवृत्तिः ।

गर्भसन्दष्टकावपि ।। सू. 115 ।।

पश्चिमपदयोर्द्वितीयेनावृत्त्या प्रत्येकं गर्भसन्दष्टकावित्यपि शब्दार्थः ।

तत्र मुखं यथा—

सखे सखेदं मा धेहि मानसं पक्षिजातिषु ।

यथा वा रुद्रटे—

चक्रन्द हतारं चक्रं दहतारम् ।
खड्गेन तवाजौ राजन्न[3]रिनारी[4] ।। 146 ।।

यथा वा ममैव—

चक्रन्द चक्रं दहतारिपूणां त्वयेक्षिता हन्त भयेन वामा ।
वाले[5] विधायाननमायताक्षीयन्निः श्व[6]सन्ति चकितं बभूव ।। 147 ।।

सदंशो यथा—

---

1. ० रति
2. समस्तपादावृत्तिः (मू. पा. टि.)
3. हे (मू. पा. टि.)
4. हे राजन् ! आजौ तव खड्गेन हता सती अरिनारी अरमत्यर्थं चक्रन्द किं लक्षणेन ख [ड्गेन] आरमरिसम्बन्धिचक्रं समूहं दहता (मू. पा. टि.)
5. अर्भके (मू. पा. टि.)
6. ० स्व ०

नाशनेन रिपूणां त्वं नाशनेन[1] प्रसीदसि ।

आवृत्तिर्यथा—

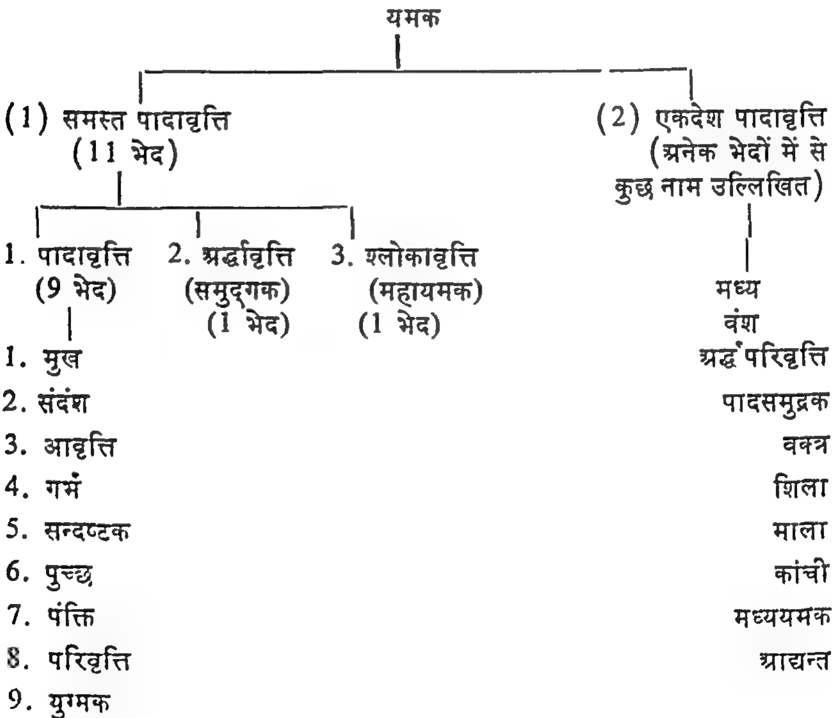
[2]वसुन्धरा[3] महीपाल[4] जाता पश्य वसुन्धरा[5] ।

3. यमक—

अन्य (भिन्न-भिन्न) अर्थ वाले पदों की (आवृत्ति) यमक कहलाती है ।
॥ सू. 112 ॥

कुछ लोग कहते हैं कि वर्णों की आवृत्ति से भी यमक होता है । आवृत्ति होना—यह "तु" शब्द का अभिप्राय है ।

यमक के भेद—



---

1. भोजनेन (मू. पा. टि.)
2. पृथुं प्रति प्रजावाक्यम् (मू. पा. टि.)
3. पृथ्वी (मू. पा. टि.)
4. हे (मू. पा. टि.)
5. द्रव्यापहारिका (मू. पा. टि.)

यमक के दो भेद—

वह (यमक) दो प्रकार का माना गया है ॥सू.113॥

समस्त पाद और एक देश के भेद से यमक दो प्रकार का होता है, यह अभिप्राय है अर्थात् 1. समस्तपादावृत्ति और 2. एक देशपादावृत्ति —यमक के ये दो भेद होते हैं।

(1) समस्त पादावृत्ति यमक के 11 भेद—

प्रथम (समस्त पादावृत्ति) तीन प्रकार का स्पष्ट है ॥सू.114॥

पाद (श्लोक का चतुर्थ भाग या चरण), श्लोकार्ध तथा सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति होने से क्रमशः यमक के तीन भेद पादावृत्ति, अर्द्धावृत्ति और श्लोकावृत्ति हो जाते हैं।

पादावृत्ति के नो भेद—

इनमें से आदि (प्रथम) पाद की अन्य चरणों के साथ क्रमशः आवृत्ति होने पर पादावृत्ति के तीन प्रकार होते हैं–मुख, संदंश और आवृत्ति (अर्थात् प्रथम पाद की द्वितीय पाद में आवृत्ति "मुख" कहलाती है, तृतीय पाद में "संदंश" कहलाती है और चतुर्थ पाद में इसका नाम "आवृत्ति" है)।

गर्भ तथा सन्दष्टक भी यमक अलंकार होते हैं ॥115॥

द्वितीय पाद की परवर्ती दोनों पादों में (तृतीय तथा चतुर्थ पाद में) आवृत्ति होने पर क्रमशः गर्भ तथा सन्दष्टक नामक यमक होता है, यह अभिप्राय है। (द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति को "गर्भ यमक" और द्वितीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति को "सन्दष्टक यमक" कहते हैं।)

मुख नामक यमक का उदाहरण, जैसे–सखे ! पक्षिजाति में खेद के साथ मन का आधान मत करो।

अथवा रुद्रट के "काव्यालङ्कार" में—

हे राजन् ! युद्ध में शत्रु–समूह को जलाने वाले तुम्हारे खड्ग से आहत होकर शत्रु–स्त्रियों ने अत्यधिक क्रन्दन किया ॥146॥

अथवा मेरा ही (स्वरचित) उदाहरण है—

हन्त विशाल नेत्रों वाली वह (शत्रु) स्त्री जो चकित भाव से अपने शिशु की ओर मुख करके निःश्वास ले रही थी, शत्रुओं के चक्र को दहन करने वाले तुम्हारे द्वारा देखे जाने पर भय से क्रन्दन करने लगी ॥147॥

संदंश नामक यमक जैसे—

तुम शत्रुओं के नाशन से (नाशनेन) प्रसन्न होते हो, भोजन से नहीं (न अशनेन)।

आवृत्ति जैसे—

पृथु के प्रति प्रजा का वाक्य है–हे राजन्! देखो, यह वस्तुओं को धारण करने वाली पृथ्वी (वसुंधरा) वस्तुओं का अपहरण करने वाली (वसुंधरा) हो गई है।

गर्भो यथा—

न ददाति परं वीजं परं वीजमुपागता।

संदष्टकं यथा—

गोपीनयनचकोरीपारणवदनेन्दुचन्दिकाप्रसरः[1]।
स जयति गोपकुमारः पङ्कजवदनेन्दुचन्रिकाप्रसरः[2] ॥148॥

इदं तु दिङ्मात्रमुदाहृतम्।

पुच्छमुत्तारपादाभ्यां पंक्तिः सर्वस्य पूर्ववत् ॥सू.116॥

उत्तरार्द्धे पादाभ्यामावृत्ताभ्यां पुच्छम्। सर्वस्यचरणचतुष्टयस्य पूर्ववत् प्रथमचरणवत् आवृत्तिः पंक्ति।

तत्र पुच्छम्—

सम्बन्धिकेनापि रघूद्वहानां स मैथिलः शत्रुगणाच्च रामः[3]।
सीतां[4] समाकृष्य रराज राजा सीतां समाकृष्य रराज राजा ॥149॥

पंक्तिर्यथा—जनकजा ननु का न पतिव्रतेतिपादस्य।

---

1. गोपीनां नयनान्येव चकोर्य्यः तासां पारणार्थं वदनेन्दुचन्दिकाप्रसरते यस्य तादृशो गोपकुमारः कृष्णः (मू. पा. टि.)
2. पङ्कजवदने कमलमुखे इन्दुचन्द्रिका कर्पूरविन्दुः तस्याः प्रसरो यस्य तादृशः (मू. पा. टि.)
3. स मैथिलो राजा जनकः सीतां हलपद्धतिं समाकृष्य रघूद्वहानां साम्बधिकेन रराज। हलकर्षणे पुत्री प्राप्ता तथा राघवैः सह सम्बन्धो भविष्यतीति भावार्थः रामो दशरथात्मजः शत्रुगणात् राक्षसात् सीतां स्वस्त्रीं समाकृष्य रराजेति (मू. पा. टि)
4. हलपद्धतिम् (मू. पा. टि.)

इत्थमन्येपि भेदाः स्युः सङ्कीर्णपदसञ्चयैः ।।सू.117।।

तथा च गर्भावृत्तियोगात् परिवृत्तिः मुखपुच्छयोगाद्युग्मकम्

परिवृत्तिर्यथा—ललिता[1] वचने वचने ललिता ।

युग्मकं यथा——सभा[2] जने सभाजने सदा नता सदानता ।

[44ब] एवं ∧ अर्द्धावृत्त्या समुद्गकं श्लोकावृत्त्या महायमकम् ।

एवं मध्यवन्शार्द्धपरिवृत्तिपादसमुद्गकवक्त्रशिखामालाकांची-मध्याद्यन्तादिकमूहनीयम्

गर्भ नामक यमक जैसे—

(आवृत्ति के उदाहरण "वसुंधरा" इत्यादि श्लोक का उत्तरार्द्ध है-) परम कारण होते हुए भी (वह पृथ्वी) वस्तुओं के अन्य स्त्रोत को प्रकट नहीं करती है ।

सन्दष्टक जैसे—

गोपियों के नयन-रूपी चकोरियों की पारणा (व्रतान्त भोजन) के लिये मुखरूपी चन्द्रमा की चन्द्रिका का प्रसार करने वाले, कमल के समान मुख में कर्पूर-बिन्दु के समूह (विलेपन) से युक्त गोपकुमार (श्रीकृष्ण) की जय हो ।।148।।

यह दिङ्मात्र (कुछ थोड़े से) उदाहरण दिये हैं ।

उत्तरार्द्ध के दोनों (तृतीय और चतुर्थ) चरणों के आवृत्त होने पर पुच्छ नामक यमक का भेद होता है । प्रथम चरण की सभी (द्वितीय. तृतीय तथा चतुर्थ चरणों) में आवृत्ति होने पर पंक्ति नामक यमक-भेद होता है ।।सू.116।।

उत्तरार्द्ध में दोनों (तृतीय और चतुर्थ) पादों की परस्पर आवृत्ति होने पर पुच्छ नामक यमक होता है । पूर्व के समान (प्रथम चरण की) शेष सभी चरणों में आवृत्ति होने पर पंक्ति नामक यमक अलङ्कार होता है ।

पुच्छ नामक यमक (का उदाहरण)—

वह मिथिलाधिपति राजा जनक सीता को हलपद्धति से प्राप्त करके रघु-वंशीय–जनों के साथ सम्बन्धी के रूप में सुशोभित हुए और दशरथ–पुत्र राम शत्रु-गण (राक्षसों) से अपनी पत्नी सीता को (पुनः) प्राप्त करके सुशोभित हुए ।।149।।

---

1. सखी (मू. पा. टि.)
2. सभापरिपत्जने सदा नता नम्रा । सभाजने आदरे सदानता दानसहितेत्यर्थः (मू. पा. टि.)

पंक्ति जैसे—

"जनकजा ननु का न पतिव्रता" इत्यादि श्लोक (68) के चरणों में।

इसी प्रकार सङ्कीर्ण पद संचयों के मिश्रण से अन्य भी भेद होते हैं।

॥ सू. 117 ॥

जैसे–(उपर्युक्त) गर्भ और आवृत्ति के योग से परिवृत्ति नामक यमक कहलाता है। मुख और पुच्छ के योग से युग्मक नामक यमक-भेद होता है।

परिवृत्ति, जैसे—ललिता सखी अपने वचन-वचन में ललिता (सुन्दर) है।

युग्मक जैसे—("सभाजने जने") आदर करने वाले लोगों से ही सभा होती है और दानशीलता सदा विनम्र होती है।

(इस प्रकार पादावृत्ति यमक के नो भेद हुए।)

अर्द्धावृत्ति व श्लोकावृत्ति—

इसी प्रकार अर्द्ध आवृत्ति से (पाद का अर्द्ध भाग आवृत्त होने पर) और (पूरे) श्लोक की आवृत्ति से महायमक अलङ्कार होते हैं। (इस प्रकार समस्त पादावृत्ति यमक के कुल 11 भेद हुए।)

2. एकदेश पादावृत्ति—

मध्य, वंश, अर्द्ध परिवृत्ति, पादसमुद्गक, वक्त्र, शिखा, माला, कांची, मध्य यमक, आद्यन्त यमक इत्यादि (एकदेश यमक के) भेद भी जानने चाहिये।

अविलष्टपदसन्ध्यात्माऽनेकवाक्यसमुच्चितः।
श्लेषो वर्णपदाद्यात्मा सोऽष्टधा शब्दभूषणम्[1] ॥ सू. 118 ॥

वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनभेदाऽष्टधा शब्दश्लेष इत्यर्थः। तत्र विविधानां वर्णानां विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादैक्यरूप्ये वर्णश्लेषः। समासकृतः पदश्लेषः। स्त्रीपुंनपुंसकानां सारूप्ये लिङ्गश्लेषः। सुव्यक्तविविक्तभाषाभिर्भाषाश्लेषः। प्रकृतीनां प्रत्ययागमोपपदैः सारूप्ये प्रकृतिश्लेषः। प्रकृतिप्रत्ययानां प्रत्ययसारूप्ये प्रत्ययश्लेषः। सुप्तिङोर्मिथः सारूप्ये विभक्तिश्लेषः। वचनकृतो वचनश्लेषः।

किञ्चिन्नूदाहियते—

---

1. शब्दालङ्कार (मू. पा. टि.)

असतां च सतां च भूपते[1] तव बाहुर्विमलासिवेल्लनः[2] ।
भयकृन्न[3] विरोधिनी क्रिया त्वयि काचित् कथयन्ति सूरयः ॥
॥ 150 ॥

अत्र करोतिकृंतत्योः प्रकृत्योः ।

विनापि हारेण निसर्गहारिणौ तवैव तन्वङ्गि कुचौ विलोकयन् ।
प्रियाङ्गरङ्गंकनटेन चक्षुषा सपत्ननारीः प्रसभं वदिष्यति ॥ 151 ॥

इह तु हारिणाविती णिन् प्रत्यययोरेकरूपत्वाद्विनापि हारेणेति मत्वर्थीयोद्भेदात् प्रत्ययश्लेषः ।

एवम्—

अरिमेदः पलाशस्ते खड्गो भाति सधेनुकः[4] ।
ससत्त्वमपि निःसत्त्वं तथा पश्यामि काननम् ॥ 152 ॥

इत्येवं भाषाश्लेषादिकं ज्ञेयम् ।

4. श्लेष—

अक्लिष्ट (कष्ट–कल्पना रहित) पदों की सन्धि से युक्त अनेक वाक्य एक साथ कहे जाने पर (अर्थात् एकवाक्य-रचना ही अनेक अर्थ बताने में समर्थ होने पर) श्लेष नामक शब्दालङ्कार होता है । वर्ण, पद आदि के भेद से यह आठ प्रकार का होता है ॥ सू. 118 ॥

1. वर्णश्लेष, 2. पदश्लेष, 3. लिंगश्लेष, 4. भाषाश्लेष, 5. प्रकृतिश्लेष, 6. प्रत्ययश्लेष, 7. विभक्तिश्लेष और **8.** वचनश्लेष के भेद से श्लेष शब्दालङ्कार आठ प्रकार का होता है, यह अभिप्राय है । विभक्ति, प्रत्यय अथवा वर्णों के कारण विविध वर्णों में एकरूपता होने पर "वर्णश्लेष" होता है । समासकृत (समास का अनेक विषयोग) होने पर "पदश्लेष" होता है । स्त्रीलिंग, पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग की समानता होने पर "लिङ्गश्लेष" होता है । सुव्यक्त (स्पष्टरूप से)

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. विमलासिना वेल्लतीति (मू. पा. टि.)
3. असतां भयं करोति सतां भयं कृन्ततीति भयकृत् (मू. पा. टि.)
4. ते खड्गोऽसिः सधेनुकः छुरिकया सह वर्त्तमानः । अरीणां मेदः पले अश्नातीति तादृशो भाति । पक्षेऽरिमेदो विट्खदिरः पलाशः प्रसिद्धः खड्गो जीवविशेषः धेनुको मृगजातिः । सत्त्वः प्राणी पराक्रमश्च (मू. पा. टि.)

तथा विविक्त (पृथक्-पृथक मालूम पड़ने वाली अनेक) भाषाओं से "भाषाश्लेष" होता है। प्रकृति (मूल धातु तथा शब्द) में प्रत्यय, आगम अथवा उपपद (क्रिया के पूर्व लगाये गये उपसर्ग, निपात आदि) के कारण समानरूपता होने पर 'प्रकृति-श्लेष" होता है। प्रकृति प्रत्ययों में प्रत्यय की समानरूपता से "प्रत्ययश्लेष" होता है। सुप् तथा तिङ् में परस्पर (आपस में) समानरूपता होने पर "विभक्तिश्लेष" होता है। वचनकृत सारूप्य होने पर "वचनश्लेष" होता है।

कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

हे राजन् ! विमल तलवार के साथ इधर-उधर हिलती हुई तुम्हारी भुजा सज्जनों तथा दुर्जनों के लिए भयकृत् है (दुर्जनों में भय उत्पन्न करती है, सज्जनों का भय दूर करती है)। अतः तुममें कोई विरोधिनी क्रिया नहीं है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ 150 ॥

यहाँ ("भयकृत्" पद में भय के उपपद रहते "कृ" तथा "कृन्त्" दोनों धातुओं से एक ही पद बनता है–भयं करोति इति भयकृत्, भयं कृन्ततीति भयकृत्) असज्जनों में भय उत्पन्न करती है तथा सज्जनों का भय दूर करती है, ये दोनों अर्थ "भयकृत्" शब्द से निष्पन्न होने से यहाँ "प्रकृति–श्लेष" है।

हे तन्वङ्गि (सुकुमाराङ्गि) ! हार के बिना भी स्वभावतः हार धारण करने वाले अथवा चित्त को आकृष्ट करने वाले तुम्हारे स्तनों को देखते हुए (मुग्ध नायक) तुम्हारे प्रिय अङ्गरूपी रङ्गस्थल पर ही नर्तन करने वाले नटसदृश नेत्र से ही सपत्नियों को हठात् (जो कहना है वह) कहेगा ॥ 151 ॥

यहाँ पर (हारो अस्त्यस्य इनि, हृ + णिनि वा, इस विग्रह से) "हारिणौ" शब्द हार + इनि अथवा हृ + णिनि, इस प्रकार दो प्रत्ययों से बना शब्द एक समान ही होने से "बिना हार के भी" इस पद में मत्वर्थीय प्रत्यय के उद्भेदन के कारण "प्रत्ययश्लेष" है।

इसी प्रकार—

तुम्हारी तलवार छुरी के साथ स्थित होकर शत्रुओं की चर्वी और मांस को क्षणभर में खाती हुई सुशोभित होती है। अतः मुझे यह कानन ससत्त्व (प्राणियों से युक्त) होकर निःसत्त्व (प्राणिविहीन) दिखाई देता है (तुम्हारा यह खड्ग सारे वन को प्राणिविहीन बना देगा, ऐसा मुझे दिखाई देता है)। अथवा (अन्य कानन पक्ष में) विट्खदिर (अरिमेद), पलाश (वृक्षविशेष) और जीव विशेष (गड्ग) मृगजाति के धेनुक के साथ यह वन सुशोभित है। फिर भी इस प्रकार सत्त्व (प्राणियों) से युक्त भी इस जङ्गल को मैं सत्त्व (पराक्रम) से रहित देखता

हूँ। (मैं ऐसे साधन वन से भयभीत नहीं हूँ, यह आशय है।)

॥ 152 ॥

इस प्रकार भाषाश्लेष आदि जानना चाहिये।

साङ्गं चित्रं वस्तुरूपं चक्रखड्गादिरूपवत्।
अनुलोमविलोमार्द्धभ्रमाद्यं तदनेकधा ॥ सू. 119 ॥

आदिपदाच्चक्रखड्गमुशलवाणासनवाणशूलहलचतुरङ्गपीठरथतुरग-गजपदानुलोमविलोमार्द्धभ्रममुरजसर्वतोभद्रैकाक्षरचतुरक्षराद्यमूहनीयम्। तत्र चक्रबन्धो यथा—

सरसा सुदती सविलासरसा शशिसुन्दरहासमयूखमुखी
समवादि यदा समये हरिणा[1] सकलेन[2] तदा समवादि[3] सखी।

[45अ] हरिणा भवती मदवासिरसा नवचम्पकहारितनुः सुमुखी
मदनैकमदाकुलसत्करिणा समवादि तदा लपितैव सखी ॥ 153 ॥

खड्गबन्धो यथा रुद्रटस्य—

मारारिशक्ररामेभमुखै[4]रासाररंहसा[5]।
सारारब्धस्तवा[6] नित्यं तदार्त्तिहरणक्षमा[7] ॥
माता नतानां[8] सङ्घट्टः श्रियां [9]बाधितसम्भ्रमा।
मान्या[10] सीमाथ नारीणां शं मे दिश्यादुमाद्रिजा[11] ॥ 154 ॥

---

1. कृष्णेन (मू. पा. टि.)
2. समस्तेन (मू. पा. टि.)
3. उक्ता (मू. पा. टि.)
4. गणेश (मू. पा. टि.)
5. वेगेन (मू. पा. टि.)
6. सार आरब्धस्तवो यस्याः (मू. पा. टि.)
7. तेषां रुद्रादीनामार्त्तिहरणे क्षमा (मू. पा. टि.)
8. नम्रीभूतानां (मू. पा. टि.)
9. वा०
10. माननीया (मू. पा. टि.)
11. अद्रिजा उमा मे मह्यं सुखं ददातु (मू. पा. टि.)

मुशलबन्धो यथा—

मायाविनं महाहावा रसायातं[1] लसद्भुजा[2] ।
जातलीला[3] यथाऽसारवाचं महिषमावधीः[4] ॥155॥

इत्थमेव पूर्वोदाहृतैः पद्यैस्तत्तद्घटनानुकूलैस्तत्तदाकारविशेषः सम्पादनीयः ।

5. चित्र-अलङ्कार—

जब वस्तुरूप वर्णों को अङ्कों से अथवा चक्र, खड्ग आदि रूपों में चिह्नित किया जाता है तो वह चित्र नामक शब्दालङ्कार होता है । अनुलोम (स्वाभाविक क्रमानुसार, ऊपर से नीचे की ओर आने वाला), विलोम (विपरीत क्रम), अर्द्धभ्रम (अर्धवृत्त) आदि रूप में वह चित्र शब्दालङ्कार अनेक प्रकार का हो जाता है ॥सू. 119॥

आदि पद से चक्र, खड्ग, मुशल, बाणासन (धनुप), बाण, शूल, हल, चतुरङ्ग पीठ, रथ, तुरग, गज, पद, अनुलोम, विलोम, अर्द्धभ्रम, मुरज, सर्वतोभद्र, एकाक्षर, चतुरक्षर आदि भेद जानने चाहिये ।

चक्रबन्ध का उदाहरण, जैसे—

सरस सुन्दर दन्तपंक्तियुक्त, विलासरस से संयुक्त तथा चन्द्रमा के समान सुन्दर हास्य-किरणों से युक्त मुखवाली सखी जब (रास-क्रीडा आदि के) समय कृष्ण द्वारा बोली गयी (अर्थात् कृष्ण ने जब सखी से बात की), तब समस्त (सखियों ने) भी उससे यह कहा—"मदयुक्त रसवाली, नवचम्पक के समान सुशोभित शरीरवाली, सुन्दर मुखवाली तुमने जब कामदेव के मद से व्याकुल श्रेष्ठ हाथी के समान कृष्ण से बात की, तब ही सखियों ने (तुमसे) बात की ॥153॥

खड्गबन्ध रुद्रट के उदाहरणानुसार—

मार (कामदेव) के अरि अर्थात् शिव, इन्द्र, राम तथा (इभमुख) गणेश के द्वारा निरन्तर वेग से (धाराप्रवाह रूप में) जिसकी स्तुति नित्य प्रारम्भ की

---

1. रसायाः पृथिव्या आयातम् (मू. पा. टि.)
2. लसन्तो भुजा यस्याः सा (मू. पा. टि.)
3. जाता लीला यस्याः सा (मू. पा. टि.)
4. भवानी त्वं महिषमसुरं आवधिः (मू. पा. टि.)

जाती है, उन रुद्र आदि के दुःखों का हरण करने में समर्थ, नम्रीभूत भक्तों की माता, लक्ष्मियों की सम्मिलनरूपा, भक्तों के भय का निवारण करने वाली, माननीया, स्त्रियों की मर्यादारूप और पर्वतपुत्री उमा (पार्वती) मुझे सुख प्रदान करें ॥154॥

मुशलबन्ध जैसे—

मायाविन् (धोखेबाज, ऐन्द्रजालिक), पृथ्वी से उत्पन्न शौर्य या बल के अनुसार बोलने वाले महिष नामक असुर तुमको, महाहाव से संयुक्त, चमकती हुई भुजावाली, लीला (क्रीडा या लावण्य) को उत्पन्न करने वाली भवानी ने मार दिया ॥155॥

इसी प्रकार पूर्व उदाहृत पद्यों के द्वारा ही उन-उन घटनाओं की अनुकूलता से, उन-उन आकार-विशेष का सम्पादन करना चाहिये।

अन्ये तु[1]—

जातिर्गतिस्तथा रीतिर्वृत्तिच्छाये ततः क्रमात्
मुद्रोक्तियुक्तिभणितिगुम्फशय्याभिधाः पुनः।
पठितिर्यमकश्लेषावनुप्रासः प्रहेलिका
गूढप्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीतयः।
वाकोवाक्यं तथा चित्रमिति शब्दविभूषणम्।

तत्र भारती[2] जातिः संस्कृताद्यवयवी धर्मः।
पद्यं गद्यं मिश्रं चेति गतिः।

वैदर्भादिमार्गो रीतिः। सा च वैदर्भी पाञ्चाली[3] गौडी आवन्तिका लाटी मगधभवा चेति षोढा। असमस्तपदा वैदर्भी, समस्तरीतिमिश्रिता पञ्चमी[4] पूर्वरीतेरनिर्वाहः षष्ठी[5]।

---

1. सरस्वतीकण्ठाभरणकारादयः (मू.पा.टि.)
2. वाणी (मू.पा.टि.)
3. पाचांली (मू.पा.टि.)
4. आवन्तिका (मू.पा.टि.)
5. मागधी (मू.पा.टि.)। ०ष्टी

विकाशविक्षेपसङ्कोचविस्तारेषु चेतसो वर्त्तनात् कैशिक्याद्या वृत्तिः । तत्रार्ऽर्थसन्दर्भयोः सौकुमार्ये कैशिकीवृत्तिः । यथा—

प्रियवपुषि विधौ विधानदक्षे[1] वलयविभूषणचन्द्रिकासु तासाम् ।
समुचितहृदयं नितम्बिनीनां सममुपयन्ति दृशोस्तरङ्गितानि ॥156॥

प्रौढार्थसन्दर्भा आरभटी । यथा—

आस्फोट्योद्दण्डबाहुद्वयमित्यत्र ।

[45ब] अतिसुकुमारा ऽर्थेनातिसुकुमारसन्दर्भा भारती । यथा—

कुञ्जे कुञ्जे इत्यत्र ।

अन्य सरस्वतीकण्ठाभरणकार आदि के अनुसार—

(1) जाति, (2) गति, (3) रीति, (4) वृत्ति, (5) छाया, उसके बाद क्रम से, (6) मुद्रा, (7) उक्ति, (8) युक्ति, (9) भणिति, (10) गुम्फ, (11) शय्या । पुनः कहते हैं—(12) पठिति, (13) यमक, (14) श्लेष, (15) अनुप्रास, (16) प्रहेलिका, (17) गूढ, (18) प्रश्नोत्तर, (19) अध्येय, (20) श्रव्य, (21) प्रेक्ष्य, (22) अभिनीति, (23) वाकोवाक्य तथा (24) चित्र, ये शब्दालङ्कार (शब्द-विभूषण) हैं ।[2]

1. जाति—

इन भेदों में भारती (वाणी) "जाति" है, जो संस्कृतादि अवयवी धर्म से युक्त है ।

2. गति—

पद्य, गद्य और मिश्र (काव्य) "गति" है ।

3. रीति—

वैदर्भी आदि मार्ग "रीति" है और वह (रीति) वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी, आवन्तिका, लाटी तथा मागधी भेद से छह प्रकार की होती है । असमस्तपदा

---

1. शृङ्गारादिविधानदक्षे चन्द्रे च (मू.पा.टि.)
2. पाण्डुलिपि में संख्या-परिगणन करते हुए "वाको" के ऊपर "23", "वाक्यम्" के ऊपर "24" और चित्र के ऊपर "25" लिखा है, इस प्रकार 25 भेद किये हैं । परन्तु उक्त संख्या ठीक नहीं है, क्योंकि आगे भी 24 भेद मानकर विवेचन किया गया है ।

वैदर्भी, समस्तरीतिमिश्रिता पञ्चमी (आवन्तिका रीति), पूर्वरीतियों का निर्वाह जिसमें नहीं होता वह षष्ठी अर्थात् मागधी रीति है।

4. वृत्ति—

चित्त के विकास, विक्षेप, सङ्कोच और विस्तार में स्थिर होने से कैशिकी आदि (कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्वती, मध्यमकैशिकी तथा मध्यमारभटी ये छः प्रकार की) वृत्ति होती है।

अर्थ और सन्दर्भ में सौकुमार्य होने पर कैशिकीवृत्ति होती है, जैसे—

शृङ्गारादि विधान में कुशल प्रिय आकृत्ति वाले प्रियतम के तथा चन्द्र के आगमन पर, वलय-विभूषण (कङ्कण) की प्रभा रूपी चन्द्रमा के प्रकाशित होने पर नितम्बिनी-सुन्दरियों के प्रेमपूरित हृदय नेत्रों के तरंगितों (चञ्चलता) के साथ गठबन्धन कर लेते हैं ॥156॥

प्रौढार्थसन्दर्भा आरभटी होती है, जैसे—

"आस्फोट्योदण्डबाहुद्वयम्" इत्यादि (श्लोक 92 में)।

अतिसुकुमार अर्थ के द्वारा अतिसुकुमारसन्दर्भा भारती होती है, जैसे—

"कुञ्जे कुञ्जे" इत्यादि उदाहरण (136 में)।

प्रौढार्थनातिप्रौढसन्दर्भा सात्वती। यथा—

[1]पीतं दुःशासनोरःस्थलरुधिरमथोद्दामसंग्रामभीत-
क्षत्रच्छेदोद्गतासृक्[2] पयसि सरसि च स्नात[3]मेतद्वयेन।
इत्यारक्तेक्षणान्तःक्षुभितनृपवधोदस्त[4]संज्ञो स भीमः
क्षरारातिमु[5]निश्च क्षणमुषसि [6]कुरुक्षेत्रमन्तःस्मृती[7] स्तः ॥157॥

---

1. भीमेन (मू.पा.टि.)
2. ०स्रक्
3. परशुरामेण (मू.पा.टि.)
4. भग्न (मू.पा.टि.)
5. भार्गवः (मू.पा.टि.)
6. कुरुपेत्र०
7. दुःशासनपक्षपातिनोऽद्यापि वर्तन्ते इति भीमस्य मनसि स्मरणम्। अद्यापि क्षत्रिया विद्यमाना इति भार्गवस्य मनसि स्मरणमतः अन्तःस्मृती उभौ स्याताम् (मू.पा.टि.)

सुकुमारार्थ प्रौढ़संदर्भा मध्यमकैशिकी यथा—

अयं वकुलपादपः कुसुमकोमलः केवलं
मनो दहति मामकं दलय मूलमस्य द्विषः ।
विलोकयतु मन्मथः क्षणमुदञ्चदग्निप्रभा-
[1]पिशङ्गमथ पात्यतां पयसि दग्धकाष्ठं[2] पुनः ॥158॥

प्रौढेऽर्थे सुकुमारसन्दर्भा मध्यमारभटी यथा—

अतिकोमलता ममाङ्गकानामिति सञ्चिन्त्य विपादमत्र मा गाः ।
उरगाधिपशाम्भवोपवीतादतितुच्छं गिरिवन्धनं तवैतत् ॥159॥

अन्योक्त्यनुकरणं च्छाया । तत्र लोकोक्त्यनुकृतिच्छाया यथा—

लोचने मीलयित्वामुं पिव निम्वं सुखी भव ।

अत्र लोचने मीलयित्वेति लोकोक्त्यनुकृतिः ।

मत्तोक्त्यनुकृतिर्यथा—

म म म म म मुखे निधेहि सीधुं ह ह [ह] हसन्ति किमत्र वृष्णिवीराः[3] ।
इति हलिनि वदत्यमंदलज्जाभरनतलोचनमीक्षते मुकुन्दः ॥ 160 ॥

प्रौढार्थ के द्वारा अतिप्रौढसन्दर्भा सात्वती वृत्ति होती है । जैसे—

भीम ने दुःशासन के वक्षःस्थल के रुधिररूपी जल का पान किया । इसी भांति परशुराम ने भीषण संग्राम से डरे हुए क्षत्रियों के नाश से निकलकर वहते हुए रक्त रूपी जल से परिपूर्ण सरोवर में स्नान किया । इस प्रकार रक्तिम नेत्र, अन्तःक्षोभ से युक्त राजाओं को मारकर संज्ञा-रहित कर दिया (अर्थात् उनका नामोनिशान भी मिटा दिया) । ऐसे भीम और भार्गव प्रातःकाल में क्षणभर कुरुक्षेत्र का अन्तःस्मरण करने लगते हैं । (दुःशासन के पक्षपाती आज भी विद्यमान हैं, यह भीम के मन में स्मरण होता है । आज भी क्षत्रिय विद्यमान हैं, यह भार्गव के मन में स्मरण होता है; अतः दोनों को मन में स्मरण होता है) ॥157॥

सुकुमारार्थ में प्रौढ़संदर्भा मध्यमकैशिकी होती है । जैसे—

---

1. पिशिङ्ग ०
2. ० ष्टं
3. यादवाः (मू. पा. टि,)

यह बकुल (मौलसिरी) का वृक्ष केवल पुष्पों के कारण कोमल है। मेरे मन को जलाता है। इस शत्रु को मूल से काट दो। क्षणभर को ऊपर की ओर जाने वाली अग्नि की प्रभा से रक्तिम वर्णयुक्त (इसके) दग्धकाष्ठ (जली हुई लकड़ी) को जल में फैंक दो, ताकि मन्मथ (स्वयं) अपने सामने इसे देखे ।।158।।

प्रौढ अर्थ में सुकुमारसन्दर्भा मध्यमारभटी होती है, जैसे—

मेरे अंग अति कोमल हैं, इस बात को सोचकर इस विषय में विषाद मत करो। सर्पराज रूपी शिव के यज्ञोपवीत की तुलना में तुम्हारा यह गिरिबंधन अतितुच्छ है ।। 159 ।।

5. छाया—

अन्य उक्ति का अनुकरण "छाया" है। इस प्रसङ्ग में लोकोक्ति की अनुकृति करने वाली छाया जैसे—

नेत्र मूंदकर इस नीम को पी जाओ और सुखी रहो।

यहाँ "नेत्र मूंदकर" यह लोकोक्ति (आँखें मींचकर) की अनुकृति है।

मत्तोक्त्यनुकृति (मत्त की उक्ति की छाया) जैसे—

म म म म म मुख में मदिरा रखो। यहाँ वे वृष्णिवीर (यदुवंशी) क्यों ह ह ह हँसते हैं। ऐसा बलराम के बोलने पर कृष्ण अतिलज्जायुक्त झुकी हुई दृष्टि से देखते हैं ।। 160 ।।

साभिप्रायकपदसन्निवेशो मुद्रा—

अपि यान्तु कटाक्षसरव्यतां स्मरवाणाः प्रणयं धनुर्भ्रुवोः।
त्वयि लोचनगोचरं गते, न कथञ्चित्सुकुमारता तयोः[1] ।। 161 ।।

इयं साभिप्रायपदनिवेशात् मदमुद्रा।

वाक्यमुद्रा यथा—

एतस्यैव[2] हिमांशुमण्डलगतं ज्योतिस्तुषारास्पदं
भूयोऽस्यैव घनेषु धामनिपतज्जेगीयते जीवनम्।
यच्चास्यैव वपुः प्रकाशकमिदं तेजस्त्रयी निर्मलं
तद्ध्यायन्ति रवेर्भवाम्बुधिपरेपारे विहारेप्सवः ।। 162 ।।

---

1. स्मरवाणधनुषोः (मू. पा. टि.)
2. रवेः (मू. पा. टि.)

विधिना निषेधेन वा विशिष्टार्थप्रतीतिरुक्तिः ।
अयुज्यमानशब्दार्थयोगोयुक्तिः यथा—

> अश्वाङ्गनास्य[1] हुतभुग्दयिताः प्रभात–
> प्रोत्फुल्लपङ्कजपरागपिशं[2]गिताशाः
> [3]जम्भारिवारणशिरोनवगैरिकाभा
> भानोर्नभः कुहरमङ्कुरयन्ति[4] भासः ।। 163 ।।

अत्र जम्भारिवारण इति योगरूढपरम्परा[5] अश्वाङ्गनास्य हुतभुगिति [46अ] पर्यायपरम्परा प्रभातप्रोत्फुल्लपङ्कजपरागेति हेतुपरम्परा नभः कुहरमित्यङ्गपरम्परा ।

6. मुद्रा—

साभिप्रायक पदों का सन्निवेश मुद्रा है—

कामदेव के बाण कटाक्षों की मित्रता को प्राप्त हो जायें और धनुष भौंहों से प्रणय सम्बन्ध कर लें (क्योंकि) तुम्हारे दृष्टिगोचर होने पर उनकी (कामदेव के धनुष और बाणों की) सुकुमारता किसी प्रकार से भी नहीं रही ।। 161 ।।

यह साभिप्रायपदनिवेश से पदमुद्रा है ।

वाक्यमुद्रा जैसे—

शीतलता के निधान चन्द्रमण्डल में रहने वाली ज्योति इसकी (सूर्य की) ही है । इसके अतिरिक्त बादलों में इसी का तेज (बिजली के रूप में) है और इसका ही यह जो तीनों तेजों से निर्मल प्रकाशकमण्डल शरीर है, संसाररूपी समुद्र से दूसरे पार उतरने की इच्छा रखने वाले उसी का (सूर्यमण्डल का) ध्यान करते हैं ।। 162 ।।

7. उक्ति—

विधि अथवा निषेध से विशिष्टार्थ की प्रतीति उक्ति है ।

---

1. वडवामुख । अश्वाङ्गनावडवातस्या आस्यहुतभुग् वडवानलस्तस्य दलिताः प्रियाः तत्तुल्यारवेर्भासः (मू. पा. टि.)
2. ० पिंशिगि ०
3. इन्द्रः (मू. पा. टि.)
4. ० ङ्कुर्यन्ति
5. जम्भस्य अरिरिन्द्र इति यौगिकः । वारण इति रूढः । (मू. पा. टि.)

8. युक्ति—

अयुज्यमान (विषम) शब्दार्थ का योग युक्ति है, जैसे—

वडवा के मुख की अग्नि अर्थात् वडवानल की प्रिया (दयिता) अर्थात् ज्वाला के समान प्रभा वाली, प्रातःकालीन प्रफुल्लित पङ्कज के पराग से दिशाओं को पिशङ्ग (रक्तिम) बनाने वाली, जम्भ नामक राक्षस को मारने वाले (जम्भारि) अर्थात् इन्द्र के हाथी के सिर की नवीन गैरिक (पहाड़ पर उत्पन्न होने वाली धातुविशेष जो रक्तिम वर्ण की होती है) की आभा से युक्त सूर्य की किरणें आकाशरूपी गुफा में अङ्कुरित होती हैं ।। 163 ।।

यहाँ "जम्भारिवारण" यह योगरूढपरम्परा (जम्भनामक राक्षस का शत्रु इन्द्र—यह यौगिक, "वारण" यह रूढ), "अश्वाङ्गनास्य हुतभुग्", यह पर्याय-परम्परा, "प्रभातप्रोत्फुल्लपङ्कजपराग" यह हेतुपरम्परा, "नभःकुहरम्" यह अङ्ग-परम्परा है ।

सम्भवाऽसम्भवादिषूक्तिप्रकारो भणितिः ।

तत्र सम्भवभणितिर्यथा—

सरस्वतीस्रोतसेव या प्राची क्षणमञ्चिता ।
सैव शक्रेभसिन्दूरपूराभा भाति भानुना ।। 164 ।।

यथा वा—

निविडदलोदरनिपतितशशिकरपरिपूरितालवालानाम् ।
भिल्ली तले तरूणां दुग्धधिया पातुमञ्जलिं तनुते ।। 165 ।।

असम्भवभणितिर्यथा—

क्व खलु मृदुमृणालतन्तुसिचयरचना चतुराणामञ्जलिनिपीतचन्द्रिकामृतानाम् ।
करयुगलकमलकोशवासितान्तःकरणानामाश्चर्याणां जननमिति ।। 166 ।।

यथा वा—

दंष्ट्रोद्धृता कथय केन[1] करेण सैंही
केनाहृतो मणिरभूदहिपुङ्गवस्य[2] ।

---

1. पुंसा (मू. पा. टि.)
2. शेषस्य (मू. पा. टि.)

को नाम रामवलगुप्तमिदं[1] हरिणा-
मस्माकमिच्छति वलं सहसा रणेन ॥ 167 ॥

अमृतकरादियमग्निज्वाला वाणी तवाननाद्यदियम् ।
कमलात्प्रावृडियं ते वाले नयनाज्जलश्रुतिर्न कथम् ॥ 168 ॥

इह तु आश्चर्यभणितिः ।

वाक्यगतः शब्दार्थयोः सम्यग्रचना विशेषो गुम्फः । यथा—
म म म म मुखे इत्यत्र । यथा वा—

समदगजघटानां कण्ठपीठोपरिष्टात्
ढ ण ण ण ण निनादो यावदुष्णासमेति ।
अरिपु तदवलानामंशुकैः शाललग्नै-
[2]स्त्वदभयमिह तावत्प्रार्थयन्ते वनानि ॥ 169 ॥

अर्थगतो यथा—

विकाशःपद्मानां प्रसरति विलासः क्रतुधियां
परित्रासो यस्याः[3] प्रभवति हरेर्लोकतमसाम् ।
चकोराणां प्रीतिः स्मरविजयनीतिः कुमुदिनी
मुदां रीतिर्यस्याः[4] पुनरवतु दृष्टिद्वयमदः ॥ 170 ॥

9. भणिति—

सम्भव और असम्भव में उक्तिप्रकार भणिति है ।

सम्भवभणिति जैसे—

जो पूर्व दिशा क्षणभर सरस्वती के प्रवाह से ही मानो शोभायमान थी, वही सूर्य के द्वारा इन्द्र के हाथी ऐरावत के सिन्दूर से परिपूर्ण कान्ति से युक्त होकर सुशोभित हो रही है ॥ 164 ॥

अथवा जैसे—

---

1. रक्षितं (मू. पा. टि.)
2. त्वत्तः सकाशाद्वनानि अभयं प्रार्थयन्ति मम शरणं गतास्तेऽरयो न मारणीया इत्यर्थः (मू. पा. टि.)
3. दृष्टिः । सूर्य्यात्मिकायाः दृष्टेः (मू. पा. टि.)
4. चन्द्रात्मिकायाः दृष्टेः (मू. पा. टि)

घने पत्तों के भीतर से गिरने वाली चन्द्रकिरण से भरे हुए आलवाल (वृक्ष में पानी देने के लिए जल में बना हुआ स्थान) युक्त वृक्षों के नीचे यह दूध है ऐसा समझकर भीलनी उसे पीने के लिए अञ्जलि फैलाती है ॥ 165 ॥

असम्भवभणिति जैसे—

कोमल मृणाल के तन्तुओं से वस्त्र की रचना में चतुर अञ्जलि से चन्द्रिका-रूपी अमृत को पीने वाले कर-युगल रूपी कमलकोश अन्तःकरण को वासित करने वाले आश्चर्यों का जन्म कहाँ ? ॥ 166 ॥

अथवा जैसे—

कहो, किस मनुष्य के हाथ से सिंहनी की दाढ़ निकाली गयी ? किसके द्वारा शेष-नाग की मणि का हरण किया गया ? कौन व्यक्ति राम की शक्ति से रक्षित वानरों की हमारी इस सेना को सहसा रण से चाहता है ? ॥ 167 ॥

तुम्हारे मुख से जो यह वाणी है वह चन्द्रमा से उत्पन्न अग्नि-ज्वाला है, तो हे बाले ! यह वर्षाऋतु है, तुम्हारे नयन से जलबिन्दु का प्रवाह कमल से उत्पन्न वर्षाऋतु कैसे नहीं है ? ॥ 168 ॥

यहाँ आश्चर्यभणिति है।

10. गुम्फ—

वाक्य में शब्दार्थ की सम्यक् रचना-विशेष गुम्फ है। जैसे "म म म म मुखे" इत्यादि उदाहरण (158) में। अथवा—

मद के कारण मस्त हाथियों की टोलियों के कण्ठ और पीठ के ऊपर से ढ ण ण ण ण निनाद जब तीव्रता को प्राप्त कर लेता है तो शत्रुओं में उनकी स्त्रियों के शालवृक्ष में लगे हुए वस्त्रों के द्वारा सारे वन यहाँ तुम्हारे पास अभय की प्रार्थना करते हैं। (अर्थात् मेरी शरण में आये हुए शत्रु तुम्हारे द्वारा मारने योग्य नहीं हैं, यह अभिप्राय है।) ॥ 169 ॥

अर्थगत जैसे—

जिसकी सूर्यात्मिका (सूर्यरूप) दृष्टि से कमलों का खिलना होता है, यज्ञ-परायण ऋषि मुनियों का विलास फैलता है, संसार के अंधकार के लिए भय उत्पन्न होता है तथा जिसकी चन्द्रात्मिका (चन्द्ररूप) दृष्टि से चकोरों में (चन्द्रमा की किरणें ही चकोर का आहार हैं) प्रीति होती है, जो कामदेव की विजय के लिए नीति के समान है—और जो कुमुदिनी (जो चन्द्रोदय के समय खिलती है)

के आनन्द की पद्धति है, ऐसे हरि की वह सूर्य व चन्द्र रूपी दृष्टिद्वयी (सबकी) रक्षा करें ।। 170 ।।

अन्योन्यपदार्थानां घटना शय्या। तत्र प्रक्रान्तेन पदार्थघटना यथा—

ओमित्युक्त्यसमं तस्य[1] भ्रूरोङ्कारसमाभवत् ।
जगामाथ मुनिः[2] स्वर्गं स्वर्वेश्याहर्षयन्निव ।। 171 ।।

अप्रक्रान्तेन यथा—

बुद्धिरेकायनं पुंसः शारीरं न बलं बलम् ।
जरठाः[3]कथयन्तीह शशसिंहकथां तथा ।। 172 ।।

काक्वाभिनयेन वार्थविशेषसिद्धये पाठः पठितिः। तत्र काक्वा यथा—

यदि ममेयमनङ्गसखी प्रिया प्रियजनस्य तदाहमपि प्रिया ।
[46ब] यदि गिरः सुखयन्ति तदीरिताः श्रवणयोः सुखदा न गिरो मम[4] ।।173।।

अभिनयेन यथा—

एतत्प्रमाणास्तनयोरिदानीमियत्प्रमाणा नयनद्वयेपि ।
न जातु जाने कतमो विधातुः क्षणान्तरेस्यां भविता प्रयत्नः ।। 174 ।।

नागे नागे भवेन्नागो, नागो नागबलं बलम् ।
वारणे वारणे[5] दीनं केवलं के बलं तव ।। 175 ।।

"मलयमरुत्सहचरतां", "सेनासन्ना सन्नासे ना आसन्नासे सेनासन्ना[6]" इत्यादि यमकम् ।

---

1. हरेः (मू. पा. टि.)
2. नारदः (मू. पा. टि.)
3. वृद्धाः (मू. पा. टि.)
4. ममः
5. वारणे गजे वा रणे संग्रामे दीनं केवलं के जले बलं तव भीमसेनस्य वर्त्तते दुःशासनो वक्ति [:] (मू. पा. टि.)
6. सेना आसन्ना निकटवर्त्तिनी। ना पुमान् सन्नाशे सतां नाशे। सेनासन्नाः सेनास्थाः नाशे आसन् अभवन् (मू. पा. टि.)

11. शय्या—

अन्योन्य पदार्थों का मिलना शय्या है। प्रकान्त (प्रस्तुत) के द्वारा पदार्थ-घटना जैसे—

हरि की "ओम्" इस असदृश उक्ति से भौंह पवित्र उद्गार "ओम्" के समान हो गयी। तब नारदमुनि मानो स्वर्ग की अप्सराओं को प्रसन्न करते हुए स्वर्ग को चले गये ।। 171 ।।

अप्रक्रान्त के द्वारा (पदार्थघटना) जैसे—

पुरुष की बुद्धि ही एक मार्ग (या स्थान) है। शरीर का बल बल नहीं है। वृद्ध लोग इसी प्रसंग में खरगोश तथा सिंह की कथा कहते हैं ।। 172 ।।

12. पठिति—

काकु अथवा अभिनय के द्वारा अर्थविशेष की सिद्धि के लिए पाठ पठिति है। काकु का उदाहरण—

यदि यह अनङ्गसखी मेरी प्रिया है तो मैं भी प्रियजन की प्रिया हूँ। यदि उसके कहे हुए शब्द कानों को सुख देते हैं, तो मेरे शब्द (क्या) सुख देने वाले नहीं हैं ।। 173 ।।

अभिनय के द्वारा जैसे—

(उस नायिका के) इस समय (क्षण) इतने विस्तारयुक्त स्तन और इतने विस्तृत नयन-युगल हो जाने पर भी न जाने किसी दूसरे क्षण में विधाता का नायिका के लिए कौन-सा प्रयत्न होने वाला है ? ।। 174 ।।

13. यमक—

(दुःशासन का कथन है कि—) हे (अगो !) प्रभाहीन (भीम) ! सर्प और पर्वत के विषय में तुम्हारा कोई दोष नहीं है। और न ही हाथियों की सेना तुम्हारी शक्ति बन सकती है। अतः गजसेना (या मेरे निवारण) अथवा संग्राम में निर्बल तुम्हारा बल केवल जल में ही है ।।175।।

(उक्त श्लोक तथा) "मलयमरुत्सहचरतां०" (इत्यादि श्लोक 73 में यमक है)।

सेना (आसन्ना) निकटस्थित है। (ना) पुरुषों में (सन्नासे) सज्जनों का नाश होने पर (सेनासन्ना) सेना में स्थित पुरुष (नाशे) विनाश में (आसन्) हो गये।

इत्यादि श्लोक यमक के उदाहरण हैं।

14. श्लेष—

(क्रमानुसार यहाँ श्लेष का वर्णन आना चाहिये, पर मूलग्रन्थ में उदाहरण नहीं दिया।)

अरविन्दगन्धबन्धो[1] मधुकर[2] किमु धावसि मुधास्मिन्[3] ।
शोभाञ्जनमिदमञ्जनरञ्जनमात्रं न पश्यसि प्रसभम् ॥176॥

वशीकृतमनोजन्मा[4] मनोजन्मानुशासनम् ।
येन[5] नीतो भवानीशो भवानीशः स केवलम् ॥177॥

इत्याद्यनुप्रासः ।

सकृत्प्रश्नः प्रहेलिका ।

आनीलमुखमापीनं भूमिष्ठमपि चोर्द्ध्वगम् ।
बालवृद्धातुराणां किं चुम्बनेन रसावहम् ॥178॥

इह फलविशेषे[6] आर्थी प्रहेलिका ।

कण्ठे कराभ्यां हृदये स्तनाभ्यामालिङ्ग्य नीतो जघनान्तरालम् ।
वनान्त एवाम्बुविलासवत्या कलं चुकू[7]जे कतमो विटः[8] कम् ॥179॥

इयं च्युतदत्ताक्षरा ।

क्रियाकारकसम्बन्धादिगोपना [द्] गूढम् ।

तत्र क्रियागूढं यथा—

स्तनभारमुदितमस्यां विलोकयन्तोऽङ्गं कान्तिहेमभवम् ।
मदनशरज्वरजर्ज्जरवपुषोऽमी कथमिव युवानः ॥180॥

---

1. हे (मू.पा.टि.)
2. हे (मू.पा.टि.)
3. शोभाञ्जने (मू.पा.टि.)
4. वशीकृतकाम (मू.पा.टि.)
5. येन त्वया भवानीशो रुद्रः मनोजन्मानुशासनस्वाज्ञां नीतः सः भवान् ईशः स्वामी केवलम् (मू.पा.टि.)
6. आम्र (मू.पा.टि.)
7. चूकू॰
8. विच्युते घदत्ते तथा घ इति (मू.पा.टि.)

अत्र न स्त इति क्रियापदस्य स्तनशब्देन न मयागो[1] रसलिप्सा केवलमीदृग्विधं तनुते ।

अपि पश्यसि युवतीनां पुरुषायितम[2]न्यथा भवति ।

अत्र सम्बन्धाभिप्रायगूढम् ।

15. अनुप्रास—

इस (शोभाञ्जन नामक वृक्ष) पर व्यर्थ क्यों दौड़ते हो ? केवल अञ्जन का रञ्जन करने वाले इस शोभाञ्जन वृक्ष को नहीं देखते ।।176।।

जिस तरह तुम्हारे द्वारा काम को वश में करने वाले भवानीपति (शिव) कामदेव के अनुशासन को प्राप्त करा दिये गये, केवल ऐसे आप ही स्वामी हैं ।। 177 ।।

इत्यादि अनुप्रास है ।

16. प्रहेलिका—

जहाँ एक वार प्रश्न किया जाता है, वह प्रहेलिका है ।

वह क्या है, जो हल्के काले मुख वाला, बहुत अधिक मोटा भूमि पर स्थित होकर भी ऊपर चढ़ने वाला; बालक, वृद्ध अथवा आतुर (रुग्ण) व्यक्तियों को चूसने से रस उत्पन्न करने वाला है ? ।।178।।

यहाँ (आम्र) फलविशेष में आर्थी प्रहेलिका है ।

कण्ठ में हाथों से, हृदय पर स्तनों से आलिङ्गन करके जंघाओं के मध्य ले जाया गया । वनप्रदेश में ही इस प्रकार जल-क्रीड़ा करने वाली का कौन विट जल में मधुर अस्पष्ट ध्वनि को कर रहा है ।।179।।

यह च्युतदत्ताक्षरा (प्रहेलिका-भेद) है । ("वि" को च्युत करके "घ" को रखने पर यहाँ उत्तर बनता है—"घट" ।)

17. गूढ—

क्रिया, कारक, सम्बन्ध आदि छुपे हुए रहने पर गूढ होता है ।

क्रियागूढ जैसे—

इसके तन में उठे हुए स्तनभार और स्वर्णिम कान्ति से निर्मित अंग को

---

1. मे आगो न केवलं रसलिप्सा (मू.पा.टि.)
2. पुरुषवदाचरितम् (मू.पा.टि.)

देखते हुए ये युवक किस प्रकार से कामवाण रूप ज्वर से जर्जर शरीरवाले हो गये हैं ।।180।।

यहाँ "न स्त" इस क्रिया-पद का "स्तन" शब्द के द्वारा "मुझे क्रोध नहीं है (न मे आगः) केवल रस-लिप्सा है ।"—इस प्रकार की अर्थ-व्यक्ति की जाती है ।

क्या देखते हो ? युवतियों का पुरुषों के समान आचरण करना अन्यथा (अन्य प्रकार का) होता है ।

यहाँ सम्बन्धाभिप्रायगूढ है ।

पर्यनुयोगस्य पदैर्निर्भेदः[1] प्रश्नोत्तरम् । यथा—

पत्रं कीदृग्विधं साधो प्रेषणीयं महीभृता[2] ।
[3]महीभृतावबंधोच्चैः पुराकं[4] रघुनन्दनः ।।181।।

इदं वहिःप्रश्नम् । एवम्—

काहमस्मि गुहा वक्ति प्रश्नेऽमुष्मिन् किमुत्तरम् ।
[5]कथमुक्तं न जानासि कदर्थयसि यत्सखे ।।182।।

इदं तु अंतः प्रश्नम् ।

व्युत्पत्त्यैक कारणमध्येयम् । तच्च काव्यशास्त्राद्यनेकभेदम् । तत्रोक्तिप्रधानं काव्यम् । यथा कण्ठाभरणे—

यदि स्मरामि तां तन्वीं जीविताशा कुतो मम ।
यदि विस्मृत्य जीवामि जीवितव्यसनेन किम् ।।183।।

यथा वा—

जेण विणा ण जिअज्जइ अणुणिज्जइ सो किआवराहोवि ।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ।।[6] 184 ।।

---

1. °निर्गेदः
2. राज्ञा । महाभृता पत्रं कीदृक् प्रेषणीयम् । समुद्रं । मुद्रया सहितम् (मू.पा.टि.)
3. पर्वतेन (मू.पा.टि.)
4. कं समुद्रं (मू.पा.टि.)
5. ककारयकाराभ्यां मुक्तदर्यसीति जातम् (मू.पा.टि.)
6. येन विना न जीव्यते अनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोग्निः ।। (मू.पा.टि.)

ममैव वा—

[47अ] लडस Λडइ अणुव्वेलं अणुदअ सफरि व्व सुहरहिआ ।
अम्मो भमइ मणोरह गअणम्मि गुडिव्व उव्वसिआ ॥[1] 185 ॥

एवमन्यत् ।

श्रव्यं श्रवणसुखदम् ।

आशीर्नान्दीनमस्कारवस्तुनिर्देशरूप [क] म् ।

18. प्रश्नोत्तर—

पदों के द्वारा पर्यनुयोग (किसी उक्ति का खण्डन करने के उद्देश्य से पूछ-ताछ) का निर्भेद (किसी बात का निर्धारण) प्रश्नोत्तर है ।

जैसे—

प्रश्न है—हे साधो ! राजा के द्वारा पत्र किस प्रकार का भेजा जाना चाहिये ? उत्तर—रघुनन्दन ने प्राचीनकाल में पर्वत के द्वारा अच्छी तरह किसे बांधा था ? (उत्तर = समुद्रम् = (1) मुद्रया सहितम्, (2) सागरम्) । ॥ 181 ॥

यह वहिः प्रश्न (नामक प्रश्नोत्तर का भेद है) । इसी प्रकार (सरस्वती-कण्ठाभरण के समान अन्तःप्रश्न का उदाहरण है)—

गुहा बोलती है—मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर क्या है ? हे सखे ! कहे गये को क्या नहीं जानते, जो कदर्थित (अपमानित) कर रहे हो । (इसका उत्तर दूसरी पंक्ति में निहित है) । गुहा ने पूछा—मैं कौन हूँ तो उत्तर मिला—"कदर्थयसि" को क और थ से मुक्त करके नहीं जानते ? अर्थात् "कदर्थयसि" में क और थ को निकाल दो तो शेष रहेगा—दर्यसि = दरी असि = अर्थात् "दरी हो" । गुहा और दरी पर्यायवाची हैं ।) ॥182॥

यह अन्तःप्रश्न है ।

---

1. परिस्फुरत्यनुवेलं अनुदकश*फरी इव सुखरहिता ।
अहो भ्रमते मनोरथगमने गुडी इव उद्भाविता ॥ (मू.पा.टि.)
* ०स०

19. अध्येय—

व्युत्पत्ति का एक कारण अध्येय है। इसके (अध्येय के) काव्य, शास्त्र आदि अनेक भेद हैं। उक्तिप्रधान काव्य है। जैसे "सरस्वतीकण्ठाभरण" में—

यदि उस तन्वी को भूलता हूँ तो मेरे जीने की आशा कहाँ, यदि भूलकर जीता हूँ तो जीवित विनाश (अथवा दुःख) से क्या लाभ ? ॥183॥

अथवा जैसे—

जिसके विना नहीं जिया जाता, उसका अनुनय उसके अपराध करने पर भी किया जाता है। अग्नि द्वारा नगर को जला दिये जाने पर भी कहो, किसे अग्नि प्रिय नहीं होता ? ॥184॥

अथवा मेरा (स्वयं हरिप्रसादरचित उदाहरण) ही—

वह किनारे पर जल-रहित मछली के समान सुख-रहित होकर वार-वार तड़पती है। अहो मनोरथरूपी गगन में उड़ने के वाद वह गुडी (पतंग) के समान चक्कर काटती है ॥185॥

इसी प्रकार अन्य (उदाहरण) है।

20. श्रव्य—

सुनने में सुखद लगने वाला श्रव्य होता है।

(यह) आशीर्वचन, नान्दी, नमस्कार तथा वस्तुनिर्देश रूप (श्रव्य) होता है।

प्रेक्ष्यं ताण्डवलास्यादि।

तत्र शृङ्गारप्रधानं लास्यं, वीरप्रधानं ताण्डवं, शृङ्गारवीरप्रधानं छलिकं, स्त्रीणां मण्डलेनैकनायकं नृत्यं हल्लीसकं, तदेव तालप्रधानं रास इत्यादि।

एतेषामुदाहरणान्तराणि अस्मत्कृतरुक्मिणीहरणादौ स्पष्टमवलोकनीयानि।

आङ्गिकमभिनेयम्।

इयत्प्रमाणास्तनयोरित्यादि वहवः काव्योचितभेदाः काव्यान्तर्गतोद्भूता[1] नेह प्रपञ्च्यन्ते।

एवं चित्रमपि।

---

1. ०र्गतोद्भूता

एते शब्दालङ्कारा: शब्दविशेषमहिम्ना संयोगवृत्त्यैव काव्यास्वाद-हेतव: इत्याहु:। अत्र केचिदुक्तशब्दालङ्कारेषु केचिदर्थचमत्कारप्रधाना-र्थालङ्कारेषु केचित्तु काव्यवैचित्रीमात्रहेतव इति परस्परं संकीर्णा इव लक्ष्यन्ते। प्राचामनुरोधेन तु विविच्य प्रोक्ता इत्यलम्।

इति श्रीमन्माथुरमिश्रगङ्गेशात्मजहरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोके शब्दालङ्कार-विवेचनं नाम षष्ठः प्रकाशः ॥6॥

21. प्रेक्ष्य—

ताण्डवलास्य आदि प्रेक्ष्य हैं।

इनमें से शृङ्गारप्रधान लास्य, वीरप्रधान ताण्डव, शृङ्गारवीरप्रधान छलिक, स्त्रियों के मण्डल के साथ एक नायक का नृत्य हल्लीसक, वही (हल्लीसक) ताल-प्रधान होने पर रास इत्यादि होते हैं।

इनके अन्य उदाहरण हमारे द्वारा (हरिप्रसाद के द्वारा) रचित ग्रन्थ "रुक्मिणीहरण" में स्पष्टरूप से देखने चाहिये।

22. अभिनीति—

अङ्गिक को अभिनेय कहते हैं।

23. वाकोवाक्य—

"इयत्प्रमाणोस्तनयो:" (श्लोक 172) इत्यादि बहुत से काव्य के अन्त-र्गत उद्भूत (कहे हुए) काव्योक्तिभेदों को यहाँ पर विस्तार से नहीं कहा जा रहा है।

24. चित्र—

इसी प्रकार "चित्र" भी (नहीं कहा गया है)।

ये शब्दालङ्कार शब्द-विशेष की महिमा से, संयोगवृत्ति से ही काव्यास्वाद के हेतु कहे गये हैं। यहाँ कुछ अलङ्कार कहे हुए शब्दालङ्कारों में, कुछ अर्थ-चमत्कारप्रधान अर्थालङ्कारों में, तो कुछ काव्यवैचित्रीमात्र के हेतु होने से परस्पर "संकीर्ण" के समान लक्षित होते हैं। पूर्ववर्ती विवेचकों के अनुरोध से विवेचना करके इनका वर्णन किया गया है, यही पर्याप्त है।

श्रीमन् गङ्गेश माथुर (मथुरा निवासी) के पुत्र हरिप्रसाद निर्मित "काव्यालोक" का "शब्दालङ्कारविवेचन" नामक छठा प्रकाश समाप्त हुआ ॥6॥



1. ०र्गदुद्भूता

सप्तमः प्रकाशः

अर्थालङ्कार-निरूपणम्

अर्थालङ्काराः—

> औपम्यातिशयश्लेषवास्तवैरर्थभूषणम् ।
> अलङ्काराः परे तेषामङ्गत्वं यान्ति तद्यथा ॥ सू. 120 ॥

औपम्यं उपमा सादृश्यं तत्प्रधानेन उपमोत्प्रेक्षारूपकापह्नुतिसंशयसमासोक्तिस्वमतोत्तरान्योक्तिप्रतीपार्थान्तरन्यासोभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्तपूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि ततो नातिरिच्यन्ते ।

तत्र तावदुपमा निरूप्यते—

> वाक्यार्थोपस्कारकमुपमा सादृश्यमतिचमत्कारि ॥ सू. 121 ॥
>
> जलजमनोहरमाननमपयाति हृदो[1] न तन्वङ्ग्या ।

वाक्यार्थोपस्कारकमतिचमत्कारि सादृश्यमुपमा ॥

अनन्वये[2] सदृशान्तरनिवृत्तिमात्रार्थकत्वात्, व्यतिरेके[3] निषेधस्य चमत्कारिणः प्रतिपत्त्यर्थकत्वात् सादृश्यमचमत्कारि । एवमभेदप्रधाने रूपके[4]

---

1. तन्वङ्ग्या आननं हृदयान्न अपसरतीत्यर्थः (मू. पा. टि.)
2. गङ्गा गङ्गेव पावनीति (मू. पा. टि.)
3. न मुखस्य तुलां याति प्रफुल्लमपि पङ्कजम् ।
   नित्यं लक्ष्मीनिवासस्य निशि लक्ष्म्या तिरस्कृतम् । (मू. पा. टि.)
4. स्मितज्योत्स्नाप्रकाशेन सम्पूर्णेन मुखेन्दुना ।
   तारकामौक्तिकाकल्पे राकासि भवती परम् ॥ इति रूपकालङ्कारः
   (मू. पा. टि.)

अपह्नुतौ[1] परिणामे[2] भ्रमे उल्लेखे, भेदप्रधाने दृष्टान्ते [47ब] प्रतिवस्तूपमायां दीपके तुल्ययोगितादौ च स्थितस्यापि सादृश्यस्य नातिचमत्कारितेति नोपमा ।

"त्वयि कोपः सरोजाक्षि सुधांशाविव पावक" इत्यादौ तु कल्पितमसत् सादृश्यं पुरोध्यातपराङ्गनालिङ्गनमिवाह्लादकारि ।

उदाहरणे उपमानस्य जलजमनोहरत्वसाम्येन प्रतीयमाना उपमा वाक्यार्थस्य विप्रलम्भस्योपस्कारकत्वादलङ्कारा: ।

अर्थालङ्कार

अब अर्थालङ्कार का निरूपण किया जा रहा है—

औपम्य, अतिशय, श्लेष और वास्तव से अर्थालङ्कार होते हैं । अन्य अलंकार उन (अर्थालंकारों) के अङ्गत्व को प्राप्त होते हैं ।। सू. 120 ।।

औपम्य उपमा है । वह सादृश्य है । उसके प्रधान होने से उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, स्वमत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण अलङ्कार होते हैं । इससे अधिक (अतिरिक्त) नहीं है ।

1. उपमा—

इनमें से यहाँ उपमा का विवेचन करते हैं—

वाक्यार्थ को सुशोभित करने वाला (उपस्कारक) अतिचमत्कारी सादृश्य उपमा है ।। सू. 121 ।।

जैसे—कृशांगी का चन्द्रमा के समान मनोहर मुख हृदय से नहीं हटता है ।

वाक्यार्थ को सुशोभित करने वाला अत्यधिक चमत्कारी सादृश्य उपमा है ।

("गङ्गा गङ्गा के समान ही पवित्र करने वाली है" इत्यादि) अनन्वय अलङ्कार में अन्य सादृश्य (उपमान) का अभाव मात्र वर्णित करना ही प्रयोजन

---

1. हरनयनानलदग्धं विषमेव विपक्वमिन्दुरयम् ।
ज्योत्स्नां पिवति चकोरो न दिवा चैतन्यमेति यत इत्यपह्नुतिः (मू. पा. टि.)
2. हरति हरिजलधरो मे सन्तापं पश्येति परिणामः (मू. पा. टि.)

रहता है (अर्थात् वर्णनीय गङ्गा आदि के सदृश अन्य कोई पदार्थ नहीं है, अतः यहां सादृश्य चमत्कारी नहीं है। "खिला हुआ कमल भी मुख की तुलना प्राप्त नहीं कर सकता" तथा "रात्रि में नित्य लक्ष्मी के द्वारा लक्ष्मी के निवास का तिरस्कार किया गया" इत्यादि में विद्यमान) व्यतिरेक अलङ्कार में (सादृश्य का) निषेध चमत्कारजनक होने से, सादृश्य अचमत्कारी है। इसी प्रकार ("स्मित रूपी चांदनी के प्रकाश से, परिपूर्ण मुखरूपी चन्द्रमा से तथा तारक-मौक्तिक रूपी आकल्प-शृङ्गार से आप पूर्णिमा की सुन्दर निशा हैं" इत्यादि) रूपक अलंकार में, ("शिव के नयनों की अग्नि से जला हुआ विष ही पककर यह चन्द्रमा बन गया है, अतः चकोर जब इसकी चांदनी को पीता है तो उसे दिन में चेतना नहीं रहती" इत्यादि रूप) अपह्नुति अलङ्कार में, ("देखो, हरिरूपी बादल मेरे संताप को दूर करते हैं" इत्यादि रूप) परिणाम अलङ्कार में, भ्रम अलङ्कार में और उल्लेख अलङ्कार में (सादृश्य चमत्कारजनक नहीं है। इसी प्रकार) भेदप्रधान दृष्टान्त अलङ्कार, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, तुल्ययोगिता इत्यादि अलङ्कारों में सादृश्य स्थित होने पर भी अत्यधिक चमत्कारजनक नहीं है, अतः यहां उपमा अलङ्कार नहीं है (सादृश्य के अत्यधिक चमत्कारयुक्त होने पर ही उपमा अलंकार होता है)।

"हे कमल के सदृश नेत्रों वाली! तुममें क्रोध चन्द्रमा में आग के समान प्रतीत होता है"—इत्यादि में कल्पित असत् (मिथ्या) सादृश्य पूर्व में सोची गयी अन्य स्त्री के आलिङ्गन के समान आह्लादकारी है।

(उपमा के "जलज मनोहर" इत्यादि) उदाहरण में उपमान के जलजमनोहरत्व साम्य के द्वारा प्रतीयमान उपमा वाक्यार्थरूप विप्रलम्भ को सुशोभित करती है, अतः यहां उपमा अलङ्कार है।)

[1]उपमानोपमेयवाचकसाधारणधर्मयोगिनी पूर्णा ॥ सू. 122 ॥

तडिदिव गौरी सुतनुः कस्य न चित्तं विमोहयति ॥

उपमानं चन्द्रादि उपमेयं मुखादि वाचकमिव सदृशतुल्यादि आह्लादकारित्वादिः साधारणो धर्मः। यथा—तडित् उपमानं सुतनुरुपमेयं इव शब्दो वाचकः गौरत्वं साधारणो धर्मः, कस्य न चित्तं विमोहयतीत्यनेकपुरुषव्यामोहकत्वेन दुर्लभतदुपभोगचिन्तालक्षणस्य वाक्यार्थस्योपस्कारत्वादलङ्कारः।

---

1. उपमोप ०

श्रौत्यार्थी च द्वेधा सादृश्योद्बोधकस्य भेदेन ।
वाक्ये समासवाक्ये तद्धितवाक्ये च षोढैषा ॥ सू. 123 ॥

एषा पूर्णोपमा साक्षात्सादृश्यवाचकपदश्रवणात् श्रौती वाचकपदार्थ-पदोपादानादार्थी चेति द्विविधा । वाक्ये असमस्तपदसम्बन्धरूपे समास-रूपे तद्धितरूपे च प्रतीयमाना इत्येव षोढारूपा ।

उपमा के भेद—

(उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा और लुप्ता ।)

पूर्णोपमा—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक और साधारण धर्म (ये चारों उपमा के अंग यहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट) कथित होते हैं, वहाँ पूर्णा उपमा होती है ।
॥ सू. 122 ॥

जैसे—बिजली के समान गौर वर्णा सुतनु सुन्दरि किसके चित्त को मोहित नहीं करती ?

चन्द्र आदि उपमान, मुख आदि उपमेय, इव, सदृश, तुल्य आदि शब्द वाचक तथा आह्लादकारिता आदि साधारण धर्म हैं । जैसे—तडित् उपमान, सुतनु उप-मेय, इव शब्द वाचक और गौरत्व साधारण धर्म हैं । "किसके चित्त को मोहित नहीं करता" इससे अनेक पुरुषों के लिए व्यामोहकारी होने से, "इसका उपभोग दुर्लभ है", इस चिन्तारूप लक्षण से वाक्यार्थ को सुशोभित करने के कारण यहाँ (उपमा) अलङ्कार है ।

पूर्णोपमा के छह भेद—

सादृश्यवाचक शब्द के भेद से पूर्णोपमा श्रौती और आर्थी दो प्रकार की होती है । पुनः दोनों में से प्रत्येक वाक्य में, समासवाक्य में तथा तद्धितवाक्य में होने से यह (पूर्णोपमा) छह प्रकार की होती है 1 श्रौती वाक्यगता, 2 आर्थी वाक्यगता, 3 श्रौती समासगता, 4 आर्थी समासगता 5 श्रौती तद्धितगता और 6 आर्थी तद्धितगता) ॥ सू. 123 ॥

श्रौती और आर्थी उपमा—

यह पूर्णोपमा दो प्रकार की होती है—श्रौती और आर्थी । साक्षात् सादृश्य-वाचक पद के श्रवण से श्रौती उपमा होती है और वाचकपदार्थ के अनन्तर पद का ग्रहण होने से आर्थी उपमा होती है, इस प्रकार यह दो प्रकार की होती है । (यथा, इव आदि शब्दों का सम्बन्ध केवल उपमानवाचक पदों के साथ होता है,

पर शब्द श्रवण मात्र से ही ये शब्द उपमान और उपमेय में रहने वाले सादृश्य नामक सम्बन्ध का बोधन करते हैं, अतः इवादि पदों के होने पर श्रौती उपमा मानी जाती है। परन्तु तुल्य, सदृश, सम इत्यादि शब्द उपमेय उपमान अथवा दोनों के साथ सम्बद्ध देखे जाते हैं अतः ये साम्य अर्थात् उक्त सम्बन्ध अर्थानुसंधान के अनन्तर ही ये शब्द बोधन करते हैं, अतः इन शब्दों के होने पर आर्थी उपमा होती है)। समासरहित पद-सम्बन्ध रूप वाक्य में, समासरूप में और तद्धितरूप में प्रतीयमान होने से पूर्णोपमा छह प्रकार की होती है। (पूर्णोपमा के दोनों भेद श्रौती तथा आर्थी के वाक्यरूप, समासरूप और तद्धितरूप से तीन-तीन भेद हो जाने पर पूर्णोपमा के छह भेद हो जाते हैं।)

वाक्ये श्रौती यथा—

मेघ[1] इवायं कृष्णः[2] कृष्णः[3] किमु रागमावहसि।

मलिने सौहार्दं नास्तीति भगवता कृतस्यात्मनो वञ्चनस्य व्यक्तिर्वाक्यार्थः।

तत्रार्थी यथा—

शशिना तुल्यं वदनं सन्ध्यारागं तनोति मे मनसः।

सन्ध्यायां रागेण[4] भवितव्यं मनसश्च प्रसिद्धशास्त्रसङ्केतेन चन्द्रसम्बन्धरूपया सन्ध्यया भवितव्यं, ततश्च कृष्णस्यापि[5] श्रीगोविन्दस्य मुखेन्दुसम्बन्धेन मामको हृदयानुराग इति वाक्यार्थः। इवार्थकतुल्यप-[48अ] ^दोपादाना [दा] र्थी।

श्रौती आर्थी च समासरूपे यथा—

गङ्गेव कीर्त्तिरमाला त्वमपि शशाङ्कोपमः कलाभिरिति।
मधुधारेव रसाला वागथराकासमोऽसि रुचा॥

अत्र इवेन समासः सादृश्यवाचकोपमापदेनोभयत्र दर्शितः।

---

1. श्लेषे तु मे मम अघ इव अघस्य श्यामवर्णत्वात् (मू. पा. टि.)
2. श्यामः (मू. पा. टि.)
3. हरिः (मू. पा. टि.)
4. ० न
5. श्यामस्यापि (मू. पा. टि.)

श्रौती तद्धितगा यथा—

नवजलधरवल्लोकाः स्पृहयन्ति तवोदयं यदमी ।

अत्र वतेस्तत्र तस्य चेति विधानाच्छ्रौती । सहृदयहृदयप्रमाणकं जलधरसादृश्यमतिचमत्कारि ।

ततश्च तद्धितगतार्थी उदाहरणे—

अम्बुजवद्विपुलेक्षण[1] वीक्षणमक्षीणतां याति ।

"तेन तुल्यमि"ति वतेः सादृश्यवदर्थतया प्रतीतस्य सादृश्यस्य वीक्षणमक्षीणतां यातीति वीक्षणस्याऽक्षीणता निदर्शनसमर्थितत्वादलङ्कारान्तरं न शङ्कनीयं लक्षण[2]गताऽतिचमत्कारमहिम्ना पदार्थान्तरस्य निगीर्णत्वात् ।

वाक्यगा श्रौती और आर्थी पूर्णोपमा—

वाक्य में श्रौती जैसे—

यह कृष्ण तो मेघ के समान (अथवा—"मे"—मेरे "अघ"—पाप के समान) श्यामवर्ण का है। इसमें राग (प्रेम और रंग) क्यों धारण करती हो ?

मलिन पर प्रेम नहीं होता, अतः भगवान की स्तुति के द्वारा आत्मवञ्चना की अभिव्यक्ति ही वाक्यार्थ है ।

(वाक्यगत) आर्थी पूर्णोपमा जैसे—

शशि के समान मुख मेरे मन में सन्ध्या-राग फैला रहा है ।

सन्ध्या में राग (रंग) होना चाहिये और प्रसिद्ध शास्त्र संकेत के अनुसार मन में चन्द्रसम्बन्धरूपा सन्ध्या होनी चाहिये । साथ ही इसके बाद रंग (श्यामवर्ण) के श्रीगोविन्द के मुख सम्बन्ध से मेरे हृदय में अनुराग होना चाहिये—यह वाक्यार्थ है । इव अर्थ वाले "तुल्य" पद से (सादृश्य का) ग्रहण करने के कारण यहाँ आर्थी (वाक्यगत पूर्णोपमा) है । (यहाँ शशिरूप उपमान, वदनरूप उपमेय, सन्ध्याराग का विस्तार साधारणधर्म और "तुल्य" सादृश्यवाचक है, इनका प्रतिपादन होने से उपमा पूर्णा है ।)

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. वाक्यार्थोपस्कारकमित्यत्र लक्षणे(मू. पा. टि.)

समासगा श्रौती और आर्थी पूर्णोपमा—

श्रौती तथा आर्थी समासरूप में जैसे—

गङ्गा के समान निर्मल कीर्त्ति है, कलाओं को धारण करने से तुम भी चन्द्रमा के समान हो। मधु की धारा के समान मीठी वाणी है, अब तुम अपनी कान्ति से पूर्णिमा की रात्रि के समान हो ॥ 186 ॥

यहाँ "इव" के साथ ("गङ्गा" तथा "मधुधारा" का समास हुआ है अतः श्रौती उपमा समासगत है) और सादृश्यवाचक "उपमा" पद के साथ ("शशाङ्क" पद का) समास होने से आर्थी उपमा समासगत है। इस प्रकार (श्रौती पूर्णोपमा तथा आर्थी पूर्णोपमा) दोनों के ही समासगत भेद का उदाहरण यहाँ बता दिया गया है।

तद्धितगा श्रौती और आर्थी पूर्णोपमा—

श्रौती तद्धितगा जैसे—

तुम्हारे इस उदय को ये प्रजाएँ नवीन जलधर (बादल) के समान चाहती हैं।

यहाँ "तत्र तस्येव" (अष्टा. 5, 1, 16) सूत्र से "वति" प्रत्यय "इव" अर्थ में हुआ है अतः श्रौती उपमा है। सहृदय-हृदय का प्रमाणक जलधर का सादृश्य अतिचमत्कारी है।

इसके पश्चात् तद्धितगता आर्थी के उदाहरण में—

हे कमल के समान विशाल नेत्रों वाले ! देखना अकृशता को प्राप्त करता है।

"तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" (अष्टा. 5, 1, 115) इस पाणिनि सूत्र से "वति" प्रत्यय "तुल्य" के अर्थ में सादृश्ययुक्त में हुआ हैं अतः आर्थी उपमा है। प्रतीत सादृश्य में "वीक्षणमक्षीणतां याति" (देखना अक्षीणता को प्राप्त करता है), यहाँ "वीक्षणस्याक्षीणता" (देखने की अक्षीणता) निदर्शन (अलङ्कार) समर्थित होने से अन्य अलंकार की शंका नहीं होनी चाहिये। "वाक्यार्थोपस्कारकम्" इत्यादि उपमा के लक्षण में अतिचमत्काररूप महिमा के पदार्थान्तर के निगीर्ण करने से (अलङ्कारान्तर नहीं मानना चाहिये।)

लुप्तोपमाभेदानुदाहरति ।

वाचकलुप्ता—

तन्वी सरसिजदलदीर्घनयनेयम् ।

सरसिजदले इव दीर्घे नयने यस्या इतीवशब्दस्य समासे लोपात् सेयं[1] समागमा। उपमानवाचककर्मोपपदाचारार्थे क्यच्प्रत्ययगम्या। उपमानवाचकाऽधिकरणोपपदाचारार्थक्यच्प्रत्ययगम्या । [2]तादृशकर्त्रुपपदाचारार्थविहितक्यङ्प्रत्ययगम्या । तादृशकर्मोत्तरविहितणमुल्गम्या । तादृक्कर्तृपदोत्तरणमुल्गम्येति षोढ़ा ।

तत्र समासे दर्शिता। कर्माधारक्यचोर्यथा—

अनलीयति शीतांशुः[3] सुधागृहं[4] काननीयति प्रसभम् ।

अनलमिवाचरतीत्यर्थे "उपमानादाचार" इति सूत्रेण क्यच्, कानन[5] इवाचरतीत्यर्थे "अधिकरणाच्चे" ति वार्त्तिकेन क्यच् ।

क्यङ यथा—

तव विरहेण वताऽस्या निरुदकमीनायते[6] हृदयम् ।

अत्र "कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे" ति क्यङ् ।
एषु[7] सादृश्यवाचकाभावाद्वाचकलुप्ता ।

[48 ब] उभयत्रΛणमुला[8] यथा—

अवलोक्य सुधापायं[9] वसन्ति धन्यास्तु निर्जरावासम् ।

अत्र सुधामिव निर्जरा इवेति "उपमाने कर्मणि चे"ति चकारात्कर्त्तर्यपि णमुल् ।

लुप्तोपमा के उन्नीस भेद—

लुप्तोपमा के भेद कहते हैं—

---

1. वाचकलुप्तोपमा (मू. पा. टि.)
2. उपमानवाचकत्वमनुषज्यते (मू. पा. टि.)
3. ०शुं
4. ० हे
5. वने (मू. पा. टि.)
6. निरुदकमीन उदकरहितः मत्स्यः स इवाचरति (मू. पा. टि.)
7. उदाहरणेषु (मू. पा. टि.)
8. कर्तृकर्मोत्तरणमुल् (मू. पा. टि.)
9. सुधामिव पीत्वा सुधापायं (मू. पा. टि.)

वाचकलुप्ता के छह भेद—

वाचकलुप्ता—

यह तन्वी कमलपत्र (के समान) विशाल नेत्रा है।

जिसके सरसिजदल (कमलपत्र) के समान दीर्घ नेत्रहैं–यहाँ वाचक "इव" शब्द का समास में लोप होने पर भी सादृश्य की प्रतीति होती है अतः (1)समासगा वाचकलुप्तोपमा मानी जायेगी। (2) उपमान वाचक कर्म उपपद में आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय गम्या वाचक लुप्तोपमा होती है। (3) उपमान वाचक अधिकरण उपपद रूप अर्थ में क्यच् प्रत्यय गम्य वाचक लुप्तोपमा होती है। (4) उसी प्रकार (उपमानवाचक) कर्ता उपपद रूप अर्थ में विहित क्यङ्-प्रत्यय गम्या वाचकलुप्ता होती है। (5) उसी प्रकार कर्म में विहित णमुल् गम्या वाचक लुप्तोपमा होती है। (6) इसी प्रकार कर्ता पद के बाद णमुल् गम्या लुप्ता होती है। इस प्रकार यह छह प्रकार की वाचकलुप्ता होती है।

समास में वाचकलुप्ता दिखा दी गयी है। कर्म और आधार में क्यच् प्रत्यय गम्य वाचक लुप्तोपमा का उदाहरण जैसे—

चन्द्रमा हठात् अग्नि के समान।और सुधागृह कानन के समान प्रतीत होता है।

"अग्नि के समान आचरण करती है" इस अर्थ में (अनल शब्द से) "उपमानादाचारे" (अष्टा.–3, 1, 10) इस सूत्र से क्यच् प्रत्यय (होकर "अनलीयति' बना है)। "वन में जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा व्यवहार करती है" इस अर्थ में (कानन शब्द से) "अधिकरणाच्च" इस वार्तिक से क्यच् प्रत्यय (होकर "काननीयति" यह शब्द बना है। इस प्रकार "अनलीयति" शब्द कर्म में क्यच् प्रत्यय होकर और "काननीयति" अधिकरण में क्यच् प्रत्यय होकर वाचकलुप्तोपमा के उदाहरण हैं)।

क्यङ् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता जैसे—

खेद है कि तुम्हारे विरह में उसका हृदय जलरहित मछली के समान आचरण करता है।

यहां (जल-रहित मछली के समान आचरण करता है, इस अर्थ में) "कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च" (अष्टा. 3, 1, 11) इस सूत्र से क्यङ् प्रत्यय (होकर "मीनायते शब्द बना है)।

इन उदाहरणों में सादृश्यवाचक पदों का अभाव होने से वाचकलुप्ता है।

दोनों स्थलों पर (कर्ता और कर्म में) णमुल् प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता जैसे—

(सुन्दरी को) देखकर, अमृत के समान पीकर सौभाग्यशाली व्यक्ति देवताओं के समान ही वास करते हैं।

यहाँ "सुधामिव" में "उपमाने कर्मणि च" (3, 4, 45) इस सूत्र से (कर्म में) तथा "निर्जरा इव" में (उपमानादाचारे सूत्र से) "चकार" ग्रहण करने से कर्ता में णमुल् प्रत्यय हुआ है (और तब "सुधापायम्" सुधा की तरह और "निर्जरावासम्" "देवता के वास की तरह" यह अर्थ होता है, अतः यहाँ वाचक-लुप्ता है)।

सैवोपमानलुप्ता क्रमेण वाक्ये समासे च ।।सू.124।।

सा लुप्तोपमा आर्थ्येव ।

न त्वयान्यत्सदृशं कमनीयमिहलोके ।

इयं तु वाक्यगता । समासे यथा—

नेन्दीवरसममपरं किञ्चिन्मम नयनसुखकारि ।

धर्मलुप्ता वाक्ये समासे च श्रौत्यार्थी तद्धितगता त्वार्थ्येवेति ।।सू.125।।

पञ्चप्रकारेत्याह—वाक्येऽपि समासेऽपि[1] द्विविधार्थी तद्धिते च धर्मलुका । उदाहरति—

"कोकनदेन समानं वदनम्" इहार्थी वाक्यगता ।

"भ्रमरालिरिव कबरी", अत्र श्रौती वाक्यगता ।

"वागपि सुधेव", अत्र समासे श्रौती ।

"मतिरथ पयोधिकल्पा", अत्रार्थी तद्धितगा । ईषदसमाप्ति-रपि भंग्यन्तरेण सादृश्यमेव ।

"इन्दुतुलितेयम्," अत्र समासे आर्थी ।

धर्मोपमानलुप्ता ।—

"सहकार[2] न ते समं जगति", इयं धर्मोपमानलुप्ता वाक्ये ।

---

1. वाक्ये समासे च द्विविधा श्रौती आर्थी च । तद्धिते एका आर्थी धर्मलुका धर्मलुप्तत्वेन (मू. पा. टि.)
2. हे (मू. पा. टि.)

"न भवत्सदृशं भृङ्ग[1] भ्रमताऽपि विलोकितं भूयः", इह तु तादृशी[2] समासगता ।

उपमानलुप्ता के दो भेद—

वही (लुप्तोपमा) वाक्य और समास में क्रम से उपमानलुप्ता होती है ॥सू.124॥

यह उपमानलुप्ता केवल वाक्यगत और समासगत आर्थी उपमा रूप ही होती है ।

"इस संसार में तुम्हारे समान कमनीय (सुन्दर) अन्य कोई नहीं हैं ।"

(यहां त्वया का उपमान प्रतिपादित नहीं किया गया । अतः उपमान लुप्त होने से उपमानलुप्ता है और "सदृश" के साथ समास नहीं होने से) यह वाक्यगता उपमानलुप्ता हैं । समासगता उपमानलुप्ता जैसे–

नीलकमल के समान अन्य कोई मेरे नयनों को सुखकारी नहीं है ।

(यहां नीलकमल का उपमान लुप्त है और "इन्दीवर" का "समम" के साथ समास होने से समासगता उपमानलुप्ता है ।)

धर्मलुप्ता के पांच भेद—

धर्मलुप्ता उपमा श्रौती और आर्थी दोनों में वाक्य और समास दोनों में होती है । तद्धितगता केवल आर्थी में ही होती है ॥सू. 125 ॥

धर्मलुप्ता के पांच भेद कहते हैं—धर्म (साधारण धर्म) का लोप होने पर वाक्य में भी और समास में भी दोनों प्रकार की श्रौती आर्थी उपमा होती है और तद्धित में केवल आर्थी उपमा होती है । (इस प्रकार धर्मलुप्ता के पांच भेद हैं—1. वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्ता, 2. वाक्यगता आर्थी धर्मलुप्ता, 3. समासगा श्रौती धर्मलुप्ता 4 समासगा आर्थी धर्मलुप्ता और 5. तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता ।)

उदाहरण देते हैं—

(क्रोध में) मुख कमल के समान है ।

(यहां उपमेय मुख तथा उपमान रक्तकमल का सादृश्य सिद्ध करने वाले रक्तता कोमलता आदि धर्म उक्त नहीं हैं । अतः उपमा धर्मलुप्ता है ।

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. धर्मोपमानलुप्ता (मू. पा. टि.)

"समान" पद से सादृश्य का प्रतिपादन करने से आर्थी और असमस्त होने से वाक्यगत है। इस प्रकार) यहाँ वाक्यगता आर्थी धर्मलुप्ता है।

"भ्रमर-पंक्ति के समान केशपाश है"—यहाँ वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्ता है।

"वाणी भी अमृत के समान है"—यहाँ समासगा श्रौती धर्मलुप्ता है।

"समुद्र के समान बुद्धि है"—यहाँ कल्पप् रूप तद्धित प्रत्यय से सादृश्य का बोध होने से तद्धितगता तथा आर्थी और (धर्म की अनुक्ति से) धर्मलुप्ता उपमा है। ("ईषत् असमाप्ति अर्थात् थोड़ा कम होना" इस अर्थ में कल्पप् प्रत्यय का विधान होता है।) थोड़ा कम होना भी दूसरे ढंग से सादृश्य ही है।

"यह चन्द्रमा के तुल्य है"—यहाँ ("इन्दु" पद का "तुलिता" पद के साथ समास होने से समासगा, "तुलित" पद से सादृश्यकथन के कारण आर्थी और (धर्म के अकथन से धर्मलुप्ता) उपमा मानी जायेगी।

धर्मोपमानलुप्ता के दो प्रकार—धर्मोपमानलुप्ता (के उदाहरण) हैं—

हे आम्र ! संसार में तुम्हारे समान कोई नहीं है।

(यहाँ सहकार का कोई उपमान नहीं दिया गया है तथा धर्म भी लुप्त है अतः) यह वाक्यगत धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण है।

हे भ्रमर ! चारों ओर घूमते हुए भी पुनः आपके समान कोई नहीं देखा गया।

यहां ("भवत्सदृश" में) समासगता है और उसी प्रकार उपमान व धर्म का कथन न होने से (धर्मोपमानलुप्ता) है।

वाचकधर्मविलुप्ता—

भूपाल कुचेषु वनितानां हारन्ति कीर्त्तयस्ते हरन्ति हृदयेषु च मुनीनाम्।

अत्र हारन्ति[1] हरन्तीति आचारार्थक–क्विपा हारमिवाचरन्ति हरमिवाचरन्तीति[2] पक्षे हारादीनां स्वसादृश्यबोधकंतेति लक्षणया वाचकधर्मलोपः स्पष्टः।

वदनाम्बुजे युवत्याः परागतां वहति पटवासः।
कान्त तव दशनकिरणश्रेणिरियं केशराशि पुनः ॥187॥

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. ०रन्तिति०

अत्र न[1] विशेषणसमासः किन्तु उपमितिसमासः ।

अपहृतमन्तःकरणं[2] प्रविश्य वपुषा तिलोत्तमीयन्त्या ।

सैवोपमेयवाचकलुप्ता । अत्र तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थे क्यचि सादृश्यस्य स्वात्मनोपमेयेन सममेव लोपात् ।

मृगनयनयेति परा ।

धर्मोपमानवाचकलुप्तेत्यर्थः । स्वस्वमात्रबोधकपदाभावात्त्रयाणां लोपः ।

वाचकधर्मविलुप्ता के दो भेद—वाचकधर्मविलुप्ता (में धर्म और वाचक दो के लोप होने पर दो भेद होते हैं—1. क्विप्गता वाचकधर्मविलुप्ता और 2. समासगा वाचकधर्मविलुप्ता)—

हे राजन् ! आपकी कीर्त्तियाँ वनिताओं के कुचों पर हार के समान आचरण करती हैं और मुनियों के हृदय पर हर (शिव) के समान आचरण करती हैं ।

यहाँ "हारन्ति" और "हरन्ति" इनमें (सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विप्वा वक्तव्यः"–इस वार्तिक से) आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है । तब "हार के समान आचरण करती है", "हर के समान आचरण करती है" यह अर्थ द्योतित होता है । इसके अनुसार हार आदि शब्द लक्षणा के द्वारा हार आदि के सादृश्य के बोधक होते हैं(यहाँ धर्म-आचार के बोधक क्विप् प्रत्यय का लोप हो चुका है अतः) धर्म (आचार) का लोप स्पष्ट है और (सादृश्य का बोधक पद यहाँ नहीं है अतः) वाचक का लोप भी स्पष्ट है ।

हे प्रिय ! तुम्हारी प्रिया नायिका के मुखकमल पर पटवस्त्र परागता को धारण करता है (पराग जैसे प्रतीत होता है) और दाँतों की किरणावलि केसर के समान प्रतीत होती है ॥187॥

यहाँ (वदनं च तदम्बुजं च) इस विग्रह से विशेषणसमास (कर्मधारय समास) नहीं है किन्तु (वदनं अम्बुजम् इव वदनाम्बुजम्–इस विग्रह से "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे") (अष्टा. 2.1.56), इस सूत्र से "वदनाम्बुजम्" शब्द बना है और) उपमितिसमास है ।

उपमेयवाचकलुप्ता—शरीर से तिलोत्तमा (एक अप्सरा) के समान आचरण करती हुई उस (सुन्दरी) ने प्रवेश करके अन्तःकरण का अपहरण कर लिया ।

---

1. वदनं च तदम्बुज चेति समासो न (मू. पा. टि.)
2. ०तप्त०

यही उपमेयवाचकलुप्ता है। यहां "तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्ती" अर्थात् "अपने आप में तिलोन्तमा के समान आचरण करती हुई" इस अर्थ में तिलोत्तमा पद से आचारार्थ में क्यच् प्रत्यय होकर सादृश्य का (लोप हुआ है) तथा स्वात्म रूप उपमेय का साथ ही लोप होने से (उपमेयवाचकलुप्ता) है।

धर्मोपमानवाचकलुप्ता—"मृगनयनया"– "मृग के नेत्रों के समान नेत्रों वाली नायिका के द्वारा", यह अन्य (धर्मोपमानवाचकलुप्ता का उदाहरण है)।

यहाँ धर्मोपमानवाचकलुप्ता होती है यह अभिप्राय है। (मृगस्य नयने इव नयने यस्याः "इस विग्रह से" "सप्तम्युपमानपूर्वस्य" इस "अनेकमन्यपदार्थे" सूत्र के भाष्य वार्तिक से समास होकर उत्तरपद उपमानवाचक नयनपद का लोप हुआ है। यहाँ उपमान–मृगनयन, धर्म–विशालता, चपलता आदि और वाचक–सादृश्य-बोधक "इव" आदि हैं) इनके केवल मात्र अपने (एक-एक) का बोध कराने वाले पद का अभाव है अतः यहाँ साधारणधर्म, उपमान तथा वाचक इन तीनों का लोप माना जायेगा।

वाचकलुप्तासु "कर्त्तर्युपमाने" इति णिनौ सप्तम्यपि। यथा कोकिल इवालपति कोकिलालापिनी। तथा "इवे प्रतिकृतावि"ति कनि
[49अ] "लुम्मनुष्यं इति चञ्चेवेत्यर्थे "चञ्चा पुरुषः" इत्यष्टमी। "आह्लादि वदनं तस्याः शरद्राकामृगाङ्कति" इत्यादावाचारक्विपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने धर्म्मे नवम्यपि।

एवमुपमानलुप्ता द्विविधोपवर्णिता तृतीयापि दृश्यते। यथा

"तदेतत्काकतालीयमिति"। अत्र काकागमनतालपतनबोधकयोः काकतालशब्दयोरिवार्थे" समासाच्च तद्विषयादि"ति ज्ञापकात्समासे काक इव ताल इव काकतालं काकतालसदृशः[1] समागम इति वाक्यार्थः। काकतालमिवेति द्वितीयस्मिन्निवार्थेच्छप्रत्यय पतनदलिततालफलोपभोगरूपस्योपमानस्य लोपः प्रत्ययार्थोपमायां[2] समासार्थोपमायां[3] वाचकोपमानलोपः अवितर्कितसम्भवमिति। धर्मानुपादाने प्रत्ययार्थोपमायां धर्मोपमानलोपः समासार्थोपमायां धर्मोपमानवाचकलोपः।

---

1. ०लशदृशः
2. काकतालमिव काकतालीयमित्यत्र (मू. पा. टि.)
3. काकमिव तालमित्यत्र (मू. पा. टि.)

यद्यपि क्यचि क्यङि धर्मलोपस्यापि सम्भवान्न वाचकमात्रलुप्तोदाहरणं संगच्छते तथापि प्राचामनुरोधो न्याय्य[1] इत्युक्तम् ।

इत्युपमालङ्कारः ॥1॥

पच्चीस उपमाभेदों के अतिरिक्त अन्य उपमा-भेद—(उपमा के पच्चीस भेद कहे जा चुके हैं। कतिपय विद्वानों ने इन पच्चीस भेदों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ उपमा-भेद कहे हैं, उनका भी विवेचन अब किया जा रहा है–)

छह वाचकलुप्ता के अतिरिक्त तीन अन्य भेद—वाचकलुप्तोपमा के छह भेद कहे हैं—पर) "कर्तर्युपमाने" (3.279) इस सूत्र से णिनि प्रत्यय करके वाचकलुप्ता का सातवाँ भेद भी देखा जाता है। जैसे—"कोकिल इवालपति" "कोयल के समान आलाप करती है" इस अर्थ में णिनि प्रत्ययान्त "कोकिलालापिनी" पद देखा जाता है (यहाँ वाचक "इवे" आदि के न रहने पर भी सादृश्यरूप उपमा होने से वाचकलुप्ता है)। इसी प्रकार "इवे प्रतिकृतौ" (5, 3, 99) इस सूत्र से "कन्" प्रत्यय होने पर "लुम्मनुष्ये" (5, 3, 98) इस सूत्र से "कन्" प्रत्यय का लोप हो जाता है। "चञ्चा" (घास) शब्द से (बनी हुई प्रतिकृति के समान इस अर्थ में) "कन्" प्रत्यय करने पर "चञ्चा" शब्द का अर्थ है "घास से बनी हुई प्रतिकृति के समान"। "चञ्चा पुरुषः" "वह पुरुष घास से बनी हुई प्रतिकृति के समान है" यहाँ उपमा है और इवादि वाचक का लोप है अतः वाचकलुप्तोपमा का आठवाँ भेद है। "उस (नायिका) का आह्लादकारी मुख शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान आचरण करता है" इस वाक्य में आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होने पर—"शरद्राकामृगाङ्कति" शब्द बना है। यहाँ दूसरे पद (आह्लादि) से समानधर्म प्रतिपादित किया गया है (और उपमा स्पष्ट है, पर सादृश्यवाचक इवादि का प्रयोग नहीं होने से वाचकलुप्ता का) नवां भेद भी दृष्टिगोचर होता है।

उपमानलुप्ता का तृतीय तद्धितगत भेद तथा अन्य भेद—इसी प्रकार उपमानलुप्ता के (वाक्यगत और समासगत ये) दो भेद पहले वर्णित किये जा चुके हैं, उसका तीसरा भेद भी देखा जाता है। जैसे–"तदेतत्काकतालीयम्" अर्थात् वह यह (घटना) तालपतन से होने वाले काकवध के समान है। यहाँ काक (कौए) के आगमन और ताल (ताड़) के पतन के बोधक काक और ताल शब्द का "इव" अर्थ में "समासाच्च तद्विषयात्" (5, 3, 106) इस ज्ञापक से समास होने पर "काक इव ताल इव" (कौए के आने के समान और ताड़ गिरने के समान "इस

1. न्याय्य

अर्थ में) "काकतालम्" रूप बनता है। "काकतालम्" का वाक्यार्थ हुआ "कौए" (के आगमन के साथ) ताड़ (के पतन के समागम) के समान (व्यक्ति विशेष का) समागम"। "काकतालमिव" इस अर्थ में (काकताल शब्द से) दूसरे इव के अर्थ में "छ–ईय" प्रत्यय करने पर ("काकतालीय" पद बनता है)। "काकतालमिव काकतालीयम्" इव प्रत्ययार्थरूप उपमा में ताल पतन से टूटे हुए तालफल के उपभोग रूप उपमान लुप्त है ("ईय" प्रत्यय सादृश्य का वाचक है अतः यहाँ वाचकलुप्ता नहीं। यह भेद तद्धितगत होने से पूर्वोक्त वाक्यगत और समासगत भेदों से भिन्न उपमानलुप्ता का भेद है)।

वाचकोपमानलुप्ता—"काकमिव तालमिव काकतालम्" इस समासरूप उपमा में वाचक तथा उपमान दोनों का ही लोप हुआ है, जिससे वाचकोपमान-लुप्ता नामक अन्य भेद भी दृष्टिगोचर होता है, जिसका उल्लेख पूर्व में नहीं किया गया है।

तद्धितगत धर्मोपमानलुप्ता–प्रत्यय रूप उपमा में धर्म का कथन नहीं होने पर धर्मोपमानलुप्ता का तीसरा तद्धितगत भेद भी हो सकता है और समासरूप उपमा में धर्मोपमानवाचकलुप्ता का भेद हो सकता है।

यद्यपि (प्राचीनोक्त उपमा के 25 भेदों में से) क्यच् गत तथा क्यङ्गत वाचकलुप्ता के उदाहरण में धर्म का लोप भी सम्भव होने से केवल वाचकलुप्ता कहना संगत प्रतीत नहीं होता फिर भी प्राचीनों का अनुरोध भी न्याय्य है, इसी-लिए इसका वर्णन किया गया है।

उपमा अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥1॥

[1]अतिरिक्तसदृशनिरसनमियमुपमेयोपमा भवति ॥सू.126॥

निरसनमिति तत्फले लाक्षणिकं[2] अतिरिक्तसदृशव्यवच्छेदफलकं चम-त्कारि सादृश्यमुपमेयोपमेत्यर्थः इयमिति परस्परमुपमानोपमेयभावापत्ति-रर्थयोर्लक्ष्यते।

उदाहरति—

शशिना तुल्यं वदनं वदनेन समः शशी सुतनोः।

---

1. तृतीय सदृशनिषेध इत्यर्थः (मू. पा. टि.)
2. ०क्षिणकं

एतेन "तडिदिव भवती तन्वी भवतीव तडिल्लता गौरी" त्यत्र परस्परोपमायां धर्मभेदेन सादृश्योक्तिस्तृतीयसादृश्यं[1] न व्यवच्छिनत्ति तत्फलकत्वाभावात् । एवं तृतीयसादृश्यव्यवच्छेदफलकेऽपि—

> अखिलकविसम्मतं [2]तत्सदृशी नान्या विधातुरथ सृष्टौ ।
> निपुणं विभावितायां शशाङ्कलेखैव किञ्चिदाभाति ॥188॥

[3]इति सादृश्ये परस्परोपमानोपमेयभावाभावान्नेयं सम्भवति ।

यथा वा—

> वनिता लतेव फलिता वनितेव लतापि तादृशी भवति ।

[49ब] आलपति कोकिलेव स्फुटं वने ʌ सेव कोकिलापि तथा ॥189॥

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो धर्म्मः ।

सेयमुक्तधर्मा अनुक्तधर्मा तु प्रागुदाहृता[4] यथा वा शूली[5]—

> वारिविराकाशसमो वारिधिसदृशस्तथाकाशः ।
> सेतुरिव स्वर्गंगा[6] स्वर्गंगेवान्तरा सेतुः ॥190॥

एषा सर्वापि वाक्ये, अर्थे तु वाक्यभेदेन यथा

> अभिरामतासदनमम्बुजानने[7] नयनद्वयं जनमनोहरं तव ।
> इयति प्रपञ्च[8]विषयेऽपि वैवसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना ॥191॥

इत्यु [प] मेयोपमा ॥2.

---

1. मृणालादि (मू. पा. टि) । ० दृशं
2. तत्सदृह
3. मूलपाठ में सन्धि करके "किञ्चिदाभातीति" लिखा गया है ।
4. अखिलेत्यादिना (मू. पा. टि.)
   "अखिल" इत्यादि श्लोक मे सादृश्य में परस्पर उपमानोपमेय भाव नहीं होने से इसें उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं माना गया है । अतः यहाँ "अखिलेत्यादिना" के स्थान "शशिनेत्यादिना" लिखना उचित प्रतीत होता है ।
5. जगन्नाथत्रिशूली रसगंगाधरकर्त्ता (मू. पा. टि.)
6. स्वर्ग ०
7. संसाररूपे प्रपञ्चे (मू. पा. टि)
8. हे (मू.पा.टि.)

2. उपमेयोपमा—

अतिरिक्त (तृतीय) सदृश पदार्थ का निरसन (निषेध) यह उपमेयोपमा होती है ।।सू.126।।

निरसन (इन दोनों पदार्थों की समता इन्हीं दोनों पदार्थों में है, अन्य में नहीं, यह तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति का ज्ञान है इस निषेध) के फल रूप होने पर, लाक्षणिक, अन्य सदृश वस्तु के निषेध रूप फल वाला तथा चमत्मकारयुक्त सादृश्य ही उपमेयोपमा अलङ्कार है—यह अर्थ है । दोनों अर्थों में परस्पर उपमान और उपमेय भाव की प्रतीति ही उपमेयोपमा अलङ्कार है । (उपमेयोपमा अलङ्कार का) उदाहरण है—

सुतनु का मुख चन्द्रमा के समान और चन्द्रमा मुख के समान है ।

"आप विजली के सदृश दुवली-पतली हैं और यह विजली की रेखा आपके समान गोरी है ।" इस वाक्य में परस्पर की (उपमा है उपमेयोपमा नहीं । इस परस्पर की) उपमा में ("तनुत्व" और "गौरत्व" दो साधारण धर्म हैं ये) भिन्न-भिन्न साधारण धर्म से कथित उपमाएँ तृतीय (मृणाल आदि) सादृश्य पदार्थ की निवृत्ति नहीं कर सकती क्योंकि इसमें उस तृतीय सदृश पदार्थ के निषेधरूप ज्ञान का अभाव है (अतः यहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं, उपमा-अलङ्कार है) ।

इसी प्रकार उपमेयोपमा अलङ्कार में तृतीय सादृश्य की निवृत्ति को फल माना गया है, ऐसा होने पर—

यह समस्त कवि-सम्मत बात है कि विधाता की सृष्टि में उस (सुन्दरी) के समान अन्य कोई (नायिका) नहीं है । सूक्ष्मरूप से देखभाल करने पर वह कुछ कुछ चन्द्रलेखा के समान ही सुशोभित होती हो ।।188।।

इस (नायिका और चन्द्रलेखा के) सादृश्य-वर्णन में (तीसरे सदृश पदार्थ की निवृत्ति फल है, ऐसा कहा जा सकता है पर यहाँ सादृश्य में) परस्पर उपमान—उपमेय भाव का अभाव होने से यहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं हैं । (उपमेयोपमा अलङ्कार में तृतीय सादृश्य जिसका फल है वह वर्णन परस्पर उपमान-उपमेय वने पदार्थों का सुन्दर सादृश्य होता है ।)

अथवा जैसे उपमेयोपमा का उदाहरण—

वनिता (नायिका) लता के समान फलवती होती है और लता भी वनिता के समान उसी प्रकार फलित हो जाती है । वन में कोयल के समान स्फुट स्वर में वोलती है और कोयल भी उसके (नायिका के) समान ही वोलती है ।।189।।

यहां ("फलिता" और "तादृशी भवति") बिम्बप्रतिबिम्बभाव होकर साधारण धर्म हो जाते हैं।

उपमेयोपमा के भेद—(उपमेयोपमा के दो भेद किये गये हैं— (1) उक्त-धर्म जिसमें साधारण धर्म स्पष्ट शब्दों में वर्णित होता है और (2) अनुक्तधर्मा-जिसमें साधारणधर्म स्पष्ट शब्दों में कथित नहीं होता, व्यञ्जना से ज्ञात होता है।)

(प्रस्तुत "वनिता." इत्यादि श्लोक उपमेयोपमा के प्रथम भेद) उक्तधर्मा का है। अनुक्तधर्मा का उदाहरण पूर्वोक्त ("शशिना." इत्यादि) है।

अथवा जैसे रसगंगाधरकर्ता जगन्नाथ त्रिशूली ने (अनुक्तधर्मा उपमेयोपमा का) उदाहरण दिया है—

समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान है, क्योंकि आकाश में सेतु की तरह स्वर्गंगा है और समुद्र में स्वर्गंगा की तरह सेतु है ॥190॥

उपमेयोपमा के ये सभी उदाहरण वाक्य में (जहाँ दो वाक्यों में दो सादृश्य पृथक-पृथक कथित हैं वहाँ) वर्णित किये गये हैं। अब अर्थतः प्रतीत होने वाले वाक्यभेद से उपमेयोपमा अलंकार का उदाहरण है—

हे कमलसदृश मुखवाली! सुन्दरता के मन्दिर और लोगों के मन का हरण करने वाले तुम्हारे नेत्रद्वय ही विधाता के लिये इतने विशाल संसार रूपी प्रपञ्च में केवल परस्पर रूप से समता प्रकट करते हैं ॥ 191 ॥

उपमेयोपमा अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 2 ॥

[1]सदृशान्तरनिरसनफलवर्णनविषयं यदेकसादृश्यम् ॥ सू. 127 ॥
कमलेव जगति कमला कलयति शोभामनन्वयः सोऽयम् ॥

अत्र कश्चित्—"तेन तदेकदेशेनावसितभेदेन वा उपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः"। तत्रोपमेयस्यैवोपमानताकल्पने अमुख्यावभासमानसाधर्म्यापादनमेकः, उपमेयैकदेशस्य तथैवोपमानताकल्पमपरः। प्रतिबिम्बित्वादिना भेदेनावसितस्य तत्कल्पनमन्यः।

आद्यो यथा—युद्धेऽर्जुन इव[2] प्रथितप्रतापः।

द्वितीयो यथा—

---

1. द्वितीय सदृशनिषेधफलकम् (मू. पा. टि.)
2. अर्जुन इवार्जुनः (मू. पा. टि.)

एतावति प्रपञ्चे सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।
अनुहरति सुभग[1] तस्या वामार्द्धं दक्षिणार्द्धस्य ॥ 192 ॥

तृतीयो यथा—

गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र[2] मैत्री—
मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।
तत्त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्नभित्ति—
स्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि ॥ 193 ॥

अत्रोपमानान्तरविरहस्य त्रिष्वपि उपलम्भादनन्वयस्त्रिविध इति तन्न ।

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः ।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग [:] ॥ 194 ॥

इति कल्पितोपमायामपि उपमानान्तरविरहात्तथात्वापत्तेः[3] वामदक्षिणयोः सादृश्ये तद्भेदोपन्यासस्य व्यर्थत्वाच्च ।

3. अनन्वय—

वह सादृश्य जिसके वर्णन से अन्य (द्वितीय) सादृश्य का निषेध फलित होता है और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही होता है वह अनन्वय अलङ्कार है ॥ सू. 127 ॥

उदाहरण जैसे—जगत् में लक्ष्मी के समान लक्ष्मी ही शोभा धारण करती है।

इस विषय में किसी ("अलङ्काररत्नाकर") में कहा गया है कि—उस उपमेय, उसके एकदेश अथवा निश्चित रूप से अभिन्न (अवासित भेद) उपमेय को उपमानरूप में कल्पित करके (उसका सादृश्य उसी में वर्णित हो तब उस) सादृश्य को अनन्वय कहते हैं। इस प्रकार अनन्वय तीन प्रकार का हो जाता है–(1) उपमेय की ही उपमान रूप में कल्पना करके अमुख्य (अवास्तविक) रूप में प्रतीत

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. हे (मू पा. टि.)
3. अनन्वयत्वापत्तेः (मू. पा. टि.)

होते सादृश्य का ग्रहण। (2) उपमेय के एकदेश की उसी प्रकार उपमानरूप में कल्पना कर लेना और (3) प्रतिबिम्बित्व आदि भेद में अवसित उपमेय की उपमानरूप में कल्पना कर लेना।

अनन्वय के प्रथम भेद का उदाहरण—

युद्ध में अर्जुन के समान प्रसिद्ध पराक्रमयुक्त अर्जुन ही है।

द्वितीय भेद का उदाहरण जैसे—

(नायक का मित्र के प्रति कथन—) हे सुभग ! यह विस्तृत संसार यद्यपि हजारों सुन्दर स्त्रियों से परिपूर्ण है, फिर भी उस (नायिका) के अंगों का बांया भाग ही अंगों के दाहिने भाग का अनुकरण करता है। (अर्थात् अन्य किसी नायिका के अंगों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती) ॥ 192 ॥

तृतीय भेद का उदाहरण जैसे—

हे गजेन्द्रमुख गणेश ! ऐरावत आदि हाथी आपकी मित्रता (समानता) का थोड़ा अंश (गंध मात्र) भी नहीं सीख सके (अतः वे आपकी समानता नहीं कर सकते)। फिर आप कैलाश पर्वत की रत्नमय भित्तियों में दिखने वाले अपने प्रतिबिम्बों के यूथपति कैसे हो गये ? ॥ 193 ॥

इन तीनों उदाहरणों में ही अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट व्यक्त होता है, अतः अनन्वय तीन प्रकार का है। "रत्नाकार" का यह मत उचित नहीं है।

ऊँचे स्तनों पर कपोलतट से गिरता हुआ कुटिल अलक चन्द्रबिम्ब से सुमेरु पर्वत पर लटकते हुए काले सर्प-सा प्रतीत होता है ॥ 194 ॥

इस उदाहरण में जो उपमा कल्पित की गई है उसमें भी अन्य उपमान (या उपमानान्तर) न होने के कारण अनन्वय अलंकार मानना उचित नहीं है। इस प्रकार (द्वितीय भेद के उदाहरण "एतावति." इत्यादि में) वाम और दक्षिण के सादृश्य में भी अनन्वय का भेद स्वीकार करना व्यर्थ है।

[50 अ] यच्चानन्वयस्य व्यङ्ग्यत्वमुक्तं^चित्रमीमांसायाम्—

> अद्य या[1] मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
> कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥ 195 ॥

---

1. प्रीतिः (मू. पा. टि.)

इत्यत्र त्वदागमनप्रीतेः सैव सादृशी नान्येति व्यञ्जत, इति तन्नातिचारु । वारान्तरागमनप्रीतेः सादृश्यस्यातिप्रसिद्धतयागमनजन्यप्रीतिसामान्यावयवयोः प्रीतिव्यक्त्योः सादृश्यस्य वा[1]धितत्वाद्योगार्थाभावेन[2] मुख्यस्यैवाभावः कुतो व्यङ्ग्यत्वम् ।

तस्मात् ध्वनिपक्ष एवमुदाहरणीयम्—

> वधूसृष्टौ धातुः कथयतु[3] कया शाम्भवशिरः
> शशाङ्कज्योत्स्नाभिर्धवलितमधः पङ्क[4]जयुगम् ।
> कया लोकक्रीडानटन[5]मुदपादि प्रथमतो
> यया चित्ते प्रज्ञां जननि कविरेवं तव तुलाम् ।। 196 ।।

अत्र वधूसृष्टौ कया चरणतलं हरशिरः शशाङ्कज्योत्स्नया धवलितं कया वा लोकक्रीडानटनं पूर्वमुदपादि यया त्वत्सा[6]दृश्यं कविश्चित्ते धारयतीत्यर्थो वर्णनीयभगवतीमहिमानिरूपमत्वपर्यवसायीति व्यज्यते इति परमतोपन्यासेन स्वमतमपि व्याख्यातम् ।

इत्यनन्वयः 113

"चित्रमीमांसा" में कहा गया है कि यह अनन्वय अलंकार व्यंग्य भी होता है, जैसे—

(घर पर आये हुए श्रीकृष्ण के प्रति विदुर का कथन है कि-) हे गोविन्द ! आज मेरे घर में तुम्हारे आने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता कालान्तर में पुनः तुम्हारे आगमन से ही हो सकती है ।। 195 ।।

उक्त उदाहरण में "तुम्हारे आगमन की प्रीति के सदृश प्रीति वही है, अन्य नहीं" यह व्यञ्जित होता है, यह कहना अत्यधिक सुन्दर नहीं है । पुनः आगमन की प्रीति की समानता के अतिप्रसिद्ध होने के कारण (अर्थात् पुनः आपके आगमन पर वैसी ही प्रीति होगी जैसी कि इस समय आगमन पर हुई है, यह सादृश्य सर्व-

---

1. वा०
2. न विद्यतेऽन्वयो यस्येत्यनन्वय इति योगार्थः (मू. पा. टि.)
2. कथ्य०
4. पत्क०
5. संसारः (मू. पा. टि)
6. त्वात्सा०

जनप्रसिद्ध ही है अतः) आगमन से उत्पन्न प्रीतिरूप सामान्य के अवयवस्वरूप जो दो प्रीतियां यहाँ व्यक्त होती है उनमें सादृश्य का बाध होता है (अर्थात् आगे होने वाली प्रीति का अनुभव इस काल में नहीं हो रहा अतः दोनों प्रीतियों में सादृश्य नहीं माना जा सकता) और योगार्थ (जिसमें सादृश्य का अन्वय विद्यमान नहीं है उसे अनन्वय कहते हैं, इस योगार्थ) का अभाव है। अतः यहाँ मुख्यार्थ (वाच्यार्थ या अनन्वय) का ही अभाव होने से व्यङ्ग्यत्व कहाँ से हो सकता है ?

इस प्रकार अनन्वय ध्वनि का यह उदाहरण समझना चाहिये—

हे जननि ! आप बतायें कि विधाता की वधू-सृष्टि में, किस (अन्य वधू) ने शम्भु के मस्तक पर विराजमान चन्द्रमा की चांदनी से अपने चरणरूपी पंकज-युगल को धवल बनाया है, तथा किसने लोक क्रीडा रूपी नटन अर्थात् संसार को सर्वप्रथम उत्पन्न किया है, जिसके साथ आपकी तुलना को कवि चित्त में धारण कर सके ।। 196 ।।

यहाँ वधू-सृष्टि में शिव के मस्तक के चन्द्र की ज्योत्सना से किसने चरण-तल को धवलित किया, अथवा किस देवी ने लोक क्रीड़ा नटन को पूर्व में उत्पन्न किया जिसके साथ आपका सादृश्य कवि-चित्त में धारण करे—ऐसा अर्थ कवि द्वारा वर्णित की गई (वर्णन करने योग्य) भगवती की महिमा के निरुपमत्व में पर्यवसित होकर व्यञ्जित होता है। इस प्रकार अन्य मतों को प्रस्तुत करते हुए अपना मत भी कह दिया गया है।

अनन्वय अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ।।3।।

यत्रोपमानिषेधो मुख्यतयैवासमस्तत्र ।।सू. 128।।

सर्वथैवोपमानिषेध इत्यर्थः ।

न चानन्वयेऽन्तर्भावः शंक्यः, रूपकदीपकादावुपमेव व्यज्यमानोऽपि तच्चमत्कारानुगुणत्वादपृथक् वाच्यतायां तु पृथगेव चमत्कारी ।

उदाहरति—

न भवत्तुल्यो लोके बभूव भूतो भविष्यति वा ।

यथा वा—

अप्यवलोकितभुवनं चक्षुर्न कथञ्चिदन्यतो याति ।
यदि तावदेव दृष्ट्वा भवन्तमस्मज्जनुः सफलम् ।।197।।

पूर्वत्र वाच्यायमानः इह तु व्यङ्ग्य इति भेदः ।

यन्नु त्रिशूली—

मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीश[1] वाचंयमे
[50ब] न वर्णयति मामयं कविरिति क्रुधं मा कृथाः ।
चराचरमिदं जगज्जनयतो विधेर्मानसे ।
पदं नहि दधेतरां तव खलु द्वितीयो नरः ॥198॥

इति स्वकृतपद्ये एवं च व्यज्यमानोऽप्यसमोऽत्र प्रधानीभूतराजस्तुत्युत्कर्षकतयालङ्कार एवेत्युदाजहार तन्नातिक्षोदक्षमम् । द्वितीयः [2]सदृशनिरसनफलकानन्वयस्यैव वाच्यायमानत्वादुपमानिषेधस्य तदनुगुणचमत्कारात् इत्यसमः ॥4.

केचिदुदाहरणमल[3]ङ्कारान्तरमाहुः ।

सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुख[4]प्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव[5] उच्यमान[6] उदाहरणम् ॥सू. 129॥

उदाहरन्ति च—

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।
निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥199॥

[7]"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्ये" त्यादि ।

तन्नातिनिर्दोष उपमाकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् इवादिना प्रतीयमानस्य सामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्तेः ।

इत्युदाहरणम् ॥5.

---

1. हे (मू.पा.टि.)
2. ०श०
3. उदाहरणालङ्कारमित्यर्थः (मू.पा.टि.)
4. सख०
5. अर्थान्तरन्यासे अतिव्याप्तिवारणाय (मू.पा.टि.)
6. लक्षणाया निर्वाहः (मू.पा.टि.)
7. अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
   एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

—कुमारसम्भव

4. असम—

मुख्यरूप से जहाँ उपमा का निषेध हो, वहाँ असम अलङ्कार होता है।
॥ सू. 128 ॥

सर्वथा (पूर्णरूप से) ही उपमा का निषेध किया जाये, यह अभिप्राय है।

अनन्वय अलङ्कार में इसका अन्तर्भाव हो जाता है, इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये। रूपक, दीपक आदि अलङ्कारों में उपमा व्यंग्य होने पर भी वहाँ (उपमा) इन अलङ्कारों के विलक्षण चमत्कार का पोषक होकर रहने से (स्वतन्त्र नहीं रहती अतः वहाँ उपमा) पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। (इसी प्रकार "अनन्वय" में "असम" व्यंग्य होने पर अनन्वय प्रयुक्त विलक्षण चमत्कार का पोषक होने पर स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं रहता परन्तु जहाँ असम में सादृश्य का निषेध) वाच्य रहता है, वहाँ स्वतन्त्र चमत्कार को उत्पन्न करता है, अतः उसमें पृथक् अलङ्कार का व्यवहार किया जाता है।

उदाहरण जैसे—

संसार में आपके समान न तो कोई हुआ था, न हुआ है, न कोई होगा।

अथवा जैसे—

जब समस्त पृथ्वी को देख लेने पर भी यदि नेत्र अन्य कहीं भी नहीं जाते हैं तो आपको देख लेने से हमारा जन्म सफल हो गया है ॥197॥

पूर्व उदाहरण में असम वाच्य है और इस उदाहरण में व्यङ्ग्य है, यही भेद है।

और जो त्रिशूली (पण्डितराज जगन्नाथ) ने उदाहरण दिया है—

हे पृथ्वीपति! मैं आपकी किसी के साथ उपमा देने के विषय में मौन हूँ। इसलिये आप यह सोचकर कि यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता, क्रोध मत करना। वस्तुतः इस स्थावर-जंगमात्मक संसार को उत्पन्न करने वाले विधाता के मन में आपके जैसा कोई दूसरा मनुष्य स्थान प्राप्त नहीं कर सका ॥198॥

"अप्यवलोकितभुवन." इत्यादि स्वरचित (हरिप्रसादकृत) पद्य तथा रसगंगाधरकार द्वारा उद्धृत इस पद्य में राजा की स्तुति होने से राजा के विषय में कवि का प्रेमभाव प्रधानरूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ असम व्यङ्ग्य होकर भी उसकी अपेक्षा अप्रधान ही रहता है और अप्रधान प्रधान का पोषक होता है, यहाँ व्यङ्ग्य होने पर भी असम अलङ्कार रूप ही है, अतः ये उदाहरण दिये

गये हैं, यह अधिक विचार करने के योग्य नहीं है । द्वितीय सादृश्य के निषेधरूप फल वाले अनन्वय अलङ्कार में उपमा का निषेध वाच्यरूप होने पर विलक्षण चमत्कार को उत्पन्न करता है तो असम अलङ्कार होता है ।

असम अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ।। 4.

5. उदाहरण अलङ्कार—

कुछ लोग उदाहरण अलङ्कार को अन्य अलङ्कार के अन्तर्गत कहते हैं । (उदाहरण अलङ्कार का लक्षण है—)

सायान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिये, उसके एकदेश का वर्णन करके, उन दोनों (सामान्य पदार्थ और उसके एकदेश) का शब्द से उक्त अङ्गाङ्गिभाव "उदाहरण" कहलाता है ।।सू. 129।।

(अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में अतिव्याप्ति के वारण के लिये "उदाहरण" के लक्षण में अवयवावयविभाव का विशेषण "उच्चमान"—"शब्द से उक्त" दिया गया है । अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष भाव का बोधक कोई पद नहीं रहता, पर उदाहरणालङ्कार में उक्त भाव का शब्द द्वारा कथन होना आवश्यक होता है । सादृश्य के वाचक "इव, यथा" आदि पद सामान्य-विशेष रूप अवयवावयविभाव के बोधक अभिधा-वृत्ति के द्वारा नहीं होने पर लक्षणावृत्ति के द्वारा हो सकते हैं ।)

उदाहरण देते हैं—

अपरिमित गुणसम्पन्न पदार्थ भी एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है । जैसे, समस्त औषधियों में श्रेष्ठ लहसुन उग्र गन्ध के कारण निन्दित हो जाता है ।।199।।

(यहाँ अमितगुणयुक्त सामान्य पदार्थ अवयवी अंग है और लहसुन विशेष पदार्थ अवयव अंग । इन दोनों का अंगांगिभाव "इव" शब्द के द्वारा उक्त होने से उदाहरणालंकार है ।)

कालिदासविरचित "कुमारसम्भव" का पद्य "अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य" इत्यादि उदाहरणालंकार का उदाहरण है।

"अतिनिर्दोषत्व" उपमा की सीमा (कुक्षि) में निक्षिप्त है तथा "इव" आदि शब्दों से प्रतीयमान सामान्यविशेषभाव की अन्त में सादृश्य में ही विश्रान्ति होती है, अतः यह उदाहरण अलंकार उपमा से गतार्थ है, यह प्राचीन आलङ्कारिकों का कथन उचित नहीं है ।

उदाहरण अलंकार का प्रसंग समाप्त हुआ ।।5.

सादृश्यज्ञानसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मृतिः ।।सू. 130।।

उदाहरति—

अवलोक्य घनं बाला सस्मार मनसा हरिम् ।

घनावलोकनोद्दीप्तिर्भगवत्स्मृतौ कारणं तत्र च वाक्यार्थोपस्कारकत्वादलङ्कारः ।

यत्तूदाहृतम्—

भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावलं
भवन्तमरिमण्डलक्रथन[1] पश्यतः सङ्गरे ।
अमन्दकुलिशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो
न कस्य हृदयं झटित्यधिरुरोह देवेश्वरः ।।200।। इति

तदरमणीयं भुजभ्रमितपट्टिशोद्दलितदृप्तदन्तावलत्वसामान्येन कुलिशभिन्नविन्ध्याचलत्वविशेषोपस्थितौ स्थितेऽपि तत्तादात्म्यात्मना देवेश्वरत्वे सङ्गरे पश्यतो न कस्यापि तु सर्वस्य देवेश्वरः शक्रो झटिति [51अ] धूमावलो ^ कनसंस्कारोद्बुद्धज्ञानेन वह्न्यध्यवसायवत्[2] अधिरुरोहेत्यस्मिन्नर्थे [3]हृदयैकदेशावस्थाविशेषारोहणं विना सामान्येनाभिधानं तादात्म्यमात्रपर्यवसन्नम् । [4]तादात्म्याक्षिप्तायाः स्मृतेस्तु न कथञ्चित्प्राधान्येन चमत्कारकारिता ।

तस्मात् साधूक्तं जयदेवेन—"पङ्कजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मन" इति न चात्र कवेरुक्तिरन्यस्मरणसामान्यविशेषपर्यवसायिनी येन स्मृतेरन्यां गता स्यात् ।

---

1. हे (मू पा.टि.)

2. ०शायवत्

3. मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ।। इति चित्ते स्मरणम् (मू.पा.टि.)

4. तादाम्या०

यदपि चित्रमीमांसायाम्—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स[1] रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार[2] ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियाया [:] ।। 201 ।।

इत्युदाहृतं तन्नातिहृदयंगमं प्रियाकेशपाशसंस्कारोद्बुद्धहृदयावस्था-विशेषस्य दयात्मनो[3] हननिवृत्त्यनुभावितस्य रुचिरत्वोद्दीपितस्य स्थगन-सञ्चारितस्यैव चमत्कारकत्वात् ।

इदं तु युक्तम्—

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरङ्गं यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ।। 202 ।।

अत्र विप्रलम्भोत्कर्षाधायकत्वात् स्मृतेरलङ्कारता । एतेन स्मृते-र्व्यङ्ग्याया व्यावृत्तये अव्यङ्ग्यत्वेति लक्षणं वक्तुमुचितमिति परास्तम् ।

इति स्मृत्यलङ्कारः ।। 6

6. **स्मरण**—

सादृश्य (सदृश्य वस्तु) ज्ञान के संस्कार से होने वाली स्मृति स्मरण अलंकार है ।। सू. 130 ।।

उदाहरण है—बादल देखकर बालिका ने मन से हरि का स्मरण किया ।

यहाँ बादल देखने का उद्दीपन भगवान की स्मृति में कारण है और वहाँ वाक्यार्थ का उपस्कारक (शोभा बढ़ाने वाला) होने से यहाँ स्मरण अलंकार है ।

जो ("रसगङ्गाधर" में) उदाहरण दिया गया है—

हे शत्रु समूह को नष्ट करने वाले ! भुजाओं से घुमाये गये पट्टिश (अस्त्र-

1. राजा (मू. पा. टि.)
2. ० लक्षीचकार
3. रसस्य (मू. पा. टि)

विशेष) से उन्मत्त हाथियों का दलन करने वाले आपको युद्ध में देखते हुए किसके हृदय में, वज्र के प्रबल प्रहार से स्पष्टरूप में विन्ध्याचल को तोड़ने वाले देवराज इन्द्र शीघ्र ही आरूढ़ नहीं हुए ।। 200 ।।

यहाँ "भुजाग्रों से घुमाये गये पट्टिश से उन्मत्त हाथियों का दलन करने वाले" इस सामान्य के द्वारा "वज्र के प्रहार से विन्ध्याचल को तोड़ने वाले" इस विशेष के उपस्थित होने पर उस तादात्म्य (समानता) के द्वारा देवराज के समान (राजा को) युद्ध में देखते हुए किसी को नहीं अपितु सबको देवराज इन्द्र शीघ्र ही इसी प्रकार (स्मृति पर) आरूढ़ होते हैं जैसे धुएं को देखने के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान से वह्नि का निश्चय होता है, यह कहना अरमणीय है। (मन, बुद्धि और अहङ्कार चित्त के आंतरिक करण हैं। संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण इनके विषय हैं। अतः चित्त में स्मरण होता है।) यहाँ इस अर्थ में, स्मरण का हृदय की एकदेश अवस्थाविशेष के आरोहण के बिना ही सामान्य के कथन से तादात्म्य-मात्र में पर्यवसान होने पर चमत्कार नहीं रहता।

अतः जयदेव ने उचित ही कहा है कि "कमल को देखते हुए मेरा मन कान्तामुख में डूब जाता है"। यहाँ कवि की उक्ति अन्य के स्मरण से सामान्य-विशेष-पर्यवसान वाली नहीं है जिससे स्मृति अन्यगत (अन्य पर आश्रित) होती है।

"चित्रमीमांसा" में भी (उदाहरण है)—

राजा दशरथ ने अश्व के समीप से उड़ते हुए भी सुन्दर पूंछों वाले मोर को अपने बाण का लक्ष्य नहीं बनाया। (क्योंकि चमकीली पूंछ वाले मयूर को देखकर) उसका मन तुरन्त ही विचित्र मालाओं से व्याप्त और रतिकाल में खुले हुए बन्धन वाले प्रिया के केशपाश में चला गया ।। 201 ।।

यह उदाहरण (हृदयंगम नहीं हो पाता) है। क्योंकि प्रिया के केशपाश के संस्कार से उद्बुद्ध अपने हृदय की अवस्था-विशेष अर्थात् रस यहाँ हननिवृत्ति से अनुभावित, रुचिरत्व से उद्दीपित (विभावित) तथा स्थगन संचारी भाव से युक्त होने से चमत्कारजनक हुआ है।

यह युक्त ही है—

("हनुमन्नाटक" में राम लक्ष्मण के मध्य उक्ति-प्रत्युक्ति–) हे लक्ष्मण ! प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य का उदय हो रहा है, अतः वृक्ष के नीचे चलो। हे रघु-पते ! रात्रि में सूर्य की क्या बात, यह तो चन्द्रमा उदित हो रहा है। वत्स !

तुमने यह कैसे जाना कि यह चन्द्र है ? क्योंकि यह मृग धारण कर रहा है (अतः चन्द्र है ।) इस पर राम कह उठे—हो मृगनयने ! चन्द्रमुखी ! प्रियतमे ! जानकी ! तुम कहाँ हो ? ।। 202 ।।

यहाँ विप्रलम्भ की प्रधानता होने से स्मृति अलंकार है । इस प्रकार (अप्पय दीक्षित का) यह कहना कि यहाँ स्मरण व्यङ्ग्य है (और अलंकार्य अर्थात् प्रधान है) अतः उक्त स्मरण में स्मरणालंकार का लक्षण अतिव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में "अव्यंग्य" यह विशेषण लगाया गया है, (उनका यह कथन) परास्त हो जाता है ।

स्मरण अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ।। 6.

अथ रूपकम्—

"तत्रोपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेयशब्दान्निश्चीयमान-मुपमानतादात्म्यं रूपकं तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कार" इति जगन्नाथः ।

अपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनादाऽवतिव्याप्तिवारणाय [51ब] पुरस्कारान्तं, निश्चीयमानत्वेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः ।

"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः । उपमैव तिरोभूतभेदा रूपक-मुच्यते" इति मम्मटभट्टाः ।

"अत्र निश्चीयमानत्वेनाभेदो विशेषणीय" इत्यन्ये ।

बिम्बाऽविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते ।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा ।।

[1]इति चित्रमीमांसायाम् । तत्र विषयविशेषणात्—

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ।
इदं श्रीखण्ड[2]पङ्केन पाण्डुरीकरणं विधोः ।। 203 ।।

[3]इति निदर्शनानिरासः मार्जनस्याऽलक्तकादिरूपबिम्बविशिष्टत्वात्।

---

1. पाण्डुलिपि में सन्धि करके "तदेति" लिखा है ।
2. श्रीषण्ड ०
3. पाण्डुलिपि में सन्धि करके "विधोरिति" लिखा है ।

निगीर्णविषयातिशयोक्तौ [1]"कमलमनम्भसि कमले" इत्यादावतिव्याप्ति-वारणाय निर्दिष्ट इति। अपह्नुतिनिरसनाया[2]ऽनिह्नुत इति। [3]आहार्य्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्युक्ते संदेहोत्प्रेक्षायोर्निश्चयाऽभावात्, समासोक्तिपरिणामयोर्विषयाताद्रूप्यस्यागोचरत्वात्, समासोक्तौ व्यवहार-मात्रसमारोपात्, परिणामे आरोप्यमाणस्यैव विषयताद्रूप्यगोचरत्वात्, भ्रमे तस्यानाहार्य्यत्वान्नातिव्याप्तिरिति।

7. रूपक—

अब रूपक अलङ्कार का निरूपण किया जा रहा है—

पण्डितराज जगन्नाथ ने रूपक का लक्षण दिया है—उपमेयतावच्छेदक (उपमेय में रहने वाला असाधारण धर्म मुखत्व आदि) को आगे रखकर उपमेय (मुख आदि) में शब्द-प्रमाण के द्वारा निश्चित किये जाने वाला उपमान (चन्द्र आदि) का तादात्म्य (एकरूपता, अभेद) रूपक कहा जाता है। इसी (रूपक) में उपस्कारक (प्रधानवाक्यार्थ उत्कर्षक) यह विशेषण लगाये जाने पर रूपक अल-ङ्कार का लक्षण माना जाता है।

अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना अलङ्कारों में (भी उपमान तथा उपमेय का तादात्म्य रहता है पर उपमेयतावच्छेक को आगे रखकर उस तादात्म्य का ज्ञान नहीं होता, अतः इन अलङ्कारों में) अतिव्याप्ति को रोकने के लिये लक्षण में "उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण" यह विशेषण दिया गया है। (उत्प्रेक्षा सम्भावनारूप है, निश्चयरूप नहीं, अतः) उत्प्रेक्षा के वारण के लिये "निश्चीयमान" विशेषण कहा गया है।

मम्मट ने रूपक का लक्षण दिया है—उपमान और उपमेय का जो अभेद है, वह रूपक अलङ्कार है।

आचार्य दण्डी के अनुसार रूपक-लक्षण है—भेद के तिरोहित होने पर उपमा ही रूपक कहलाता है।

---

1. कमलमनम्भसि कमले कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम्।
   सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥
   —चित्रमीमांसा–पृ. 410

2. ॰ णाया ॰

3. उपरञ्जकतामित्यस्यार्थः आहर्य्येति (मू. पा. टि.)

अन्य विद्वानों का कथन है कि (उपमेय में उपमान का) निश्चय किये जाने से जो अभेद होता है, वह रूपक है।

"चित्रमीमांसा" में कहा गया है कि जब बिम्बाविशिष्ट अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से रहित होकर, शब्द के द्वारा निर्दिष्ट एवं जिसका निषेध नहीं किया गया हो, ऐसे विषय (उपमेय) को यदि विषयी (उपमान) उपरञ्जकता प्राप्त कराये (अर्थात् अपने रंग में रंग दे) तो रूपक होता है।

उक्त लक्षण में "विषय" का विशेषण "बिम्बाविशिष्टे" है उससे—

रत्नरूप आपके चरणनख को जो अलक्तक (महावर) से साफ करना अर्थात् रंगना है, वह चन्दनलेप से चन्द्रमा का श्वेत बनाना है ॥ 203 ॥

इस निदर्शना के उदाहरण में ('बिम्बाविशिष्टे' विशेषण रूपक-लक्षण की अतिव्याप्ति के) निरास के लिए है। क्योंकि यहाँ "साफ करना" रूप उपमेय "अलक्तक" आदि बिम्ब से युक्त है (अर्थात् उक्त श्लोक में सादृश्य के कारण नख और चन्द्र में तथा अलक्तक और चन्दन में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, अतः निदर्शना अलङ्कार है। इस निदर्शना से निरास के लिए ही "बिम्बाविशिष्टे" विशेषण दिया गया है)। "कमलमनम्भसि कमले" इत्यादि निगीर्णविषया अति-शयोक्ति अलङ्कार में अतिव्याप्ति नहीं हो अतः "निर्दिष्ट" यह विशेषण दिया गया है। अपह्नुति अलङ्कार में (उपमेय का निषेध किया जाता है। अतः इसमें) अतिव्याप्ति नहीं हो इसलिये "अनिह्नुते" विशेषण दिया गया है। "उपरञ्जकता को प्राप्त करे" इसका अर्थ है कि आहार्य, ताद्रूप्य, निश्चय का विषय होना। इस विशेषण के कहने से सन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम तथा भ्रम अलङ्कार में अतिव्याप्ति नहीं होती। संदेह (संशयरूप होता है और) उत्प्रेक्षा (सम्भावना रूप अतः) दोनों में निश्चय का अभाव होता है। समासोक्ति और परिणाम अलंकारों में उपमान के ताद्रूप्य का निश्चय उपमेय में नहीं होता। समासोक्ति में केवल उपमान के व्यवहार का आरोप होता है, उपमान का नहीं। परिणाम में उपमेय के ताद्रूप्य का ही निश्चय उपमान में होता है। भ्रान्तिमान् अलङ्कार में वह अनाहार्य ही निश्चय रहता है। अतः इन सभी अलंकारों में अतिव्याप्ति के वारणार्थ "उपस्कारक" विशेषण रखा गया है।

तत्र त्वत्पादनखरत्नानामिति श्रौतारोपे[1]ऽपि निदर्शनाङ्गीकारे मुखं

---

1. मुखं चन्द्र इतिवत् (मू. पा. टि.)

चन्द्र इत्यादौ निदर्शनयैव निर्वाहाद्रूपकनिरूपणं व्यर्थं, एवं तु निदर्शनोदाहरणं स्यात्—

त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः ।
इन्दुचन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः ॥ 204 ॥

अवशिष्टं[1] तु आहार्य्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीति विषयविषयिणोर्लक्षणकुक्षिनिक्षिप्तं यदपि तद्रूपकमित्युक्तम् । तन्नातिचारु [52 अ] अपह्नुत्यावति‸प्रसंगात् ।

निश्चीयमानत्वेनाभेदोविशेष्यते चेत्किमपराद्धं शूलिना यदप्युक्तमुपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति अपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनानां निरासः । तत्रापह्नुतौ स्वेच्छया निषिध्यमानत्वान्नोपमेयतावच्छेदकस्य पुरस्कारः तन्नातिक्षोदक्षमं प्रजल्पन् । "मत्पदे लग्नः कांतः किं न हि नूपुर" इत्यत्रोपमेयतावच्छेदपुरस्कारस्यारोपविषयतया निषेधचमत्काराधायकत्वेनाऽव्याप्तेः स्वेच्छया निषिध्यमानत्वं तदवच्छेदकतापुरस्कारेणेति । क्षणमवधेहि नापि निश्चीयमानत्वेनोत्प्रेक्षाव्यावृत्तिः प्रतीयमानोत्प्रेक्षामव्याप्तेः । शब्दानिश्चीयमानोपमानतादात्म्येनैव तच्छरीरनिष्पत्तेः । ततश्च—

निश्चीयमानमुपमातादात्म्यं भेदहानितो यत्र ॥ सू. 131 ॥

एतावद्रूपकोत्पत्तिक्षेत्रम् । उपरञ्जितविषयि पुनस्तदेव लोकेषु रूपकं भवति ।

(अप्पयदीक्षित के उपर्युक्त मत का खण्डन–) "त्वत्पादनखरत्नानां" इत्यादि पद्य में ("मुख चन्द्र" के समान) श्रौतारोप होने पर भी निदर्शना मानी जा सकेगी, अतः रूपक का निरूपण व्यर्थ हो जायेगा । उक्त पद्य में निदर्शना का उदाहरण इस प्रकार हो सकता है—

जो आपके चरण-नख-रत्नों को अलक्तक से रंगता है, वह चन्दन के लेप से चन्द्र को धवल बनाता है ॥ 204 ॥

(चित्रमीमांसाकार के) लक्षण में कहा गया है कि आहार्य, ताद्रूप्य और निश्चयगोचरता ही उपरञ्जकता है और विषय को विषयी जब उपरञ्जकता प्राप्त

---

1. ०शिष्टं

कराता है, तब रूपक होता है। यह उचित नहीं, क्योंकि अपह्नुति आदि में अति-व्याप्ति हो जायेगी।

यदि निश्चित किया जाने वाला अभेद ही रूपक है तो शूली (पण्डितराज जगन्नाथ) के लक्षणों में क्या दोष है ? जो उन्होंने लक्षण में "उपमेयतावच्छेदक-पुरस्कारेण" विशेषण दिया है, उसी से अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति और निदर्शना अलंकारों में अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है। अपह्नुति ("मुख नहीं, चन्द्र है" इत्यादि) में वक्ता अपनी इच्छा से उपमेय (मुख) के साथ साथ उपमेयतावच्छेदक मुखत्व का निषेध ही कर देता है, अतः यहाँ "उप-मेयतावच्छेदकपुरस्कारेण" घटित नहीं होता। "मेरे पैर में लगा हुआ क्या यह प्रियतम है, नूपुर नहीं है ?" इत्यादि (अपह्नुति के) उदाहरण में निषेध का चमत्कार होता है, जबकि (रूपक में) "उपमेयतावच्छेदकपुरस्कार" आरोप का विषय होता है, अतः स्वेच्छा से निषेध किया जाना (अपह्नुति) उपमेयता-वच्छेदकपुरस्कार (रूपक) में अव्याप्त (घटित नहीं होता) है। उत्प्रेक्षा में क्षणभर प्रतीत होता है, निश्चित नहीं होता, अतः उत्प्रेक्षा भिन्न है और प्रतीयमानस्वरूप उत्प्रेक्षा (रूपक में) अव्याप्त है। इस प्रकार शब्द प्रमाण से निश्चित किये जाने वाले उपमान के तादात्म्य से ही रूपक की निष्पत्ति होती है।

इस प्रकार—जहाँ भेद-रहित निश्चीयमान उपमा का तादात्म्य होता है (वही रूपक है।) ।। सू. 131 ।।

यही रूपक की उत्पत्ति का क्षेत्र है। लोक में यही उपरञ्जितविषयी होने पर रूपक होता है।

अथैतस्य भेदाः—

तत्र समस्तवस्तुविषयिकमेकदेशविवर्त्ति च द्विविधं सावयवम् ।। सू. 132 ।।

आरोप्यमाणानां[1] समस्तवस्तूनां शब्दोपात्तत्वे समस्तवस्तुविषयम्। अवयवविशेषे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं क्वचिच्चार्थसामर्थ्याक्षिप्तं[2] तदव-यवरूपके विवर्त्तमानादेकदेशविवर्त्ति।

तत्र समस्तवस्तुविषयं सावयवं यथा—

---

1. ०ना
2. आरोप्यमाणं (मू. पा. टि.)

स्मितज्योत्स्नाप्रकाशेन[1] सम्पूर्णेन मुखेन्दुना ।
तारकामौक्तिकाकल्पे[2] राकासि भवती परम् ।। 205 ।।

[52 ब] अत्र राकारूपस्यैव समर्थ्यत्वेन तत्समर्थकतयोपादानमितरेषां आरोप्यारोप्यकाणां शब्दोपात्तत्वं स्पष्टम् ।

यथा वा शूली—

व्योमाङ्गणे सरसि नीलिमदिव्यतोये
तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन् ।
आभाति षोडशकलादलमङ्कभृङ्ग[3]
[4]सूराभिमुख्यविकचं शशिपुण्डरीकम् ।। 206 ।।

एकदेशविवर्त्ति सावयवं यथा—

गजेन्द्रनगनिर्गतां समरसीम्नि सञ्चारिणीं
भुजङ्गभुजवाहिनी[5] क्षतजवारिपूरोज्ज्वलाम् ।
निमज्जदरिमूर्द्धज[6]क्षुभितपादसञ्चारिणः
क्षितीश[7] भवतो भटाः क्व न तरन्ति वेगान्नदीम् ।। 207 ।।

अत्र समर्थकत्वेनाभिमतस्य मूर्द्धजानां [8]शैवालरूपकस्याक्षेपः ।

यथा वा—

लावण्यसलिलपूर्णा चलनयना नाभिनिर्गतावर्त्ता ।
सेयं तरङ्गिणी मे वधूर्मनो नागमाक्षिपति[9] ।। 208 ।।

---

1. स्मितमेव ज्योत्स्ना तस्याः प्रकाशेन (मू. पा. टि.)
2. हे (मू. पा. टि.)
3. अङ्क एव भृङ्गो यस्मिन्नीदृशं शशि पुण्डरीकमस्मिन् सरसि आभाति (मू. पा. टि.)
4. सूराभिमुख्य०
5. भुजा एव भुजंगास्तान् वहतीत्येवं शीला (मू. पा. टि.)
6. केश (मू. पा. टि)
7. हे (मू.पा. टि.)
8. शैवा०
9. सेयं वधूस्तरंगिणी मम मनो हस्तिनं आक्षिपति (मू. पा. टि.)

अत्र नयनयोर्मीनरूपकस्य[1]।

रूपक के भेद—

अब इस (रूपक) के भेद कहते हैं—

(प्रथमतः रूपक के तीन भेद हैं—सावयव, निरवयव और परम्परित।)

सावयव रूपक—सावयव रूपक दो प्रकार का होता है—समस्तवस्तु-विषय और एकदेशविवर्त्ति ।। सू. 132 ।।

आरोप्यमाण (उपमानभूत) समस्त वस्तुओं का शब्दतः ग्रहण किये जाने पर समस्तवस्तुविषय नामक रूपक होता है। जब अवयव-विशेष में उपमान शब्दतः कथित हो और किसी अवयव में उपमान अर्थतः आक्षिप्त हो (वह एकदेश-विवर्ति रूपक होता है) यहाँ सावयव रूपक में अवयवविशेष द्वारा अपने स्वरूप को छिपाए रहने के कारण इसे एकदेशविवर्त्ति कहा जाता है।

समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक का उदाहरण जैसे—

तारक रूपी मोतियों का आकल्प (शृङ्गार) करने वाली सुन्दरी ! मुस्कु-राहटरूपी ज्योत्स्ना के प्रकाश से युक्त पूर्ण मुखचन्द्र से आप निश्चय ही पूर्णिमा की रजनी हैं ।। 205 ।।

(सावयव रूपक अनेक रूपकों का समूह होता है और इसके अवयवभूत रूपकों में परस्पर समर्थ्य-समर्थकभाव होता है) यहाँ नायिका और पूर्णिमा का रूपक समर्थ्य है और इसका समर्थन करने के लिये ही अन्य रूपकों का सर्जन किया गया है। उपमेय और उपमान का शब्दतः कथन स्पष्ट है।

अथवा शूली (रसगङ्गाधरकार) द्वारा प्रस्तुत उदाहरण है—

(पूर्णचन्द्र को कमल के समान बताते हुए कवि ने चन्द्रमा का वर्णन किया है–) आकाश सरोवर है, नीलिमा दिव्य जल है, इस सरोवर मे तारावलीरूप प्रफुल्लित कमलदल सुशोभित हैं, उनके बीच कलंकरूप भ्रमर से षोडशकलारूप षोडश पत्तों वाला यह चन्द्ररूप कमल सूर्य की आभिमुख्यावस्था में विकसित हुआ सुशोभित हो रहा है ।। 206 ।।

एकदेशविवर्त्ति सावयव रूपक का उदाहरण जैसे—

हे राजन् ! हाथी रूपी पहाड़ से निकली हुई, युद्धरूपी सीमा में संचरण करने वाली, भुजारूपी भुजांगों को धारण करती हुई, रुधिररूपी उज्ज्वल जल से

---

1. आक्षेपः (मू. पा. टि.)

परिपूर्ण नदी में स्नान करते हुए (डूबे हुए), शत्रुओं के केशों पर क्रोध से पादक्षेप करने वाले आपके योद्धा वेग से नदी को कहाँ नहीं पार करते ? ॥ 207 ॥

यहाँ मूर्द्धज (केशों) के शैवाल रूपक का अर्थतः आक्षेप होता है, जिसे कवि समर्थक रूप में वर्णित करना चाहता है। अथवा अन्य उदाहरण—

लावय-जल से परिपूर्ण, (मीन रूप) चञ्चल नयन, नाभि से निर्गत आवर्त्त-वाली वही यह नदीरूप वधू मेरे मनरूप हाथी को आकर्षित करती है ॥ 208 ॥

यहाँ नयनों के मीन रूपक का अर्थतः आक्षेप होता है।

निरवयवं पुनर्द्विधा केवलं मालारूपकं च ॥ सू. 133 ॥

तात्राद्यं यथा—

वन्दनीया जनस्यैका बुद्धिचन्द्रकला तव।

संघातात्मविरहान्मालात्वाभावाच्च केवलनिरवयवम्। समासान्तर-पक्षे[1] निगीर्णविषयत्वेन तृतीयं श्लिष्टमपि दृश्यते।

निरवयवं मालारूपकं यथा—

गुणानामुत्पत्तिः कुलवसतिराचारवपुपः[2]
क्षमावल्लीमूलं परि[3]णतिरथो दिव्यतपसः।
श्रियो दृष्टेः पात्रं प्रभवति मतिर्यस्य विमला
कवीनामग्रण्यो गुरु[4]रिह गणेशस्य स भवान् ॥ 209 ॥

केचित्तु एकविपयकनानापदार्थारोपरूपकत्वादमुं भेदमुल्लेखात्मक-मामनन्ति।

आरोपस्यैवारोपान्तरनिमित्तत्त्वे परम्परितम् ॥ सू. 134 ॥

[53अ] पिवति समराङ्गणेषु त्वदसिभुजङ्गो नरेन्द्र[5] भूपालान्।

---

1. हे वुद्धि चन्द्र तव कला कापट्यादिका जनस्य वन्दनीया (मू. पा. टि.)
2. ० वमुपः
3. परण ०
4. गणेशस्य गुरुर्गंगापतिः (मू. पा. टि)
5. हे (मू. पा. टि..)

अत्र भुजङ्गारोपोदुग्धारोपसामर्थ्यः[1] ।

इदमेव श्लिष्टपरम्परितमपि यथा—

अहितापकरणमपरं तवादभुतं जृम्भते भुवने ।

अत्र अहितानामपकरणमहीनां तापकरणमिति राजनि नरेन्द्र[2]तादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतताया कवेरभिप्रायः । वस्तुतस्तु शब्दालङ्कारोऽयं कवि [3]संरम्भादत्रोदाहृतमित्यवधेयम् ।

यत्तु कुवलयानन्दे[4] "रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिरि"त्यभिधायोदाहृतम्—

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ।
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः ॥ 210 ॥

अत्र साक्षादिति विशेषणेन विरक्तस्य प्रसिद्धशिवतादात्म्यमुपदिश्य नराकृतिरिति दिव्यमूर्त्तिवैकल्यप्रतिपादनान्न्यूनभेदरूपकं तथा ।

निरवयव रूपक—

निरवयव रूपक के दो उपभेद होते हैं—(1) केवल और (2) माला रूपक
॥ सू. 133 ॥

प्रथम केवल रूपक का उदाहरण जैसे—

एक तुम्हारी बुद्धिरूपी चन्द्रकला ही लोगों में वन्दनीय है ।

(परस्पर अपेक्षा न रखने वाले रूपकों का समूह निरवयवरूपक होता है ।) यहाँ परस्पर सापेक्ष रूपक-समूह का अभाव है (अतः निरवयव रूपक है) और माला रूपक का अभाव होने से यह केवल निरवयव रूपक का उदाहरण है ।

उक्त उदाहरण की पंक्ति में भिन्नरूप में समास मानकर यह अर्थ लगाया जाये कि "हे बुद्धिरूपी चन्द्रमा तुम्हारी कपट आदि कला लोगों में वन्दनीय है" । इस अर्थ में निगीर्ण विषय होने पर रूपक के परम्परित नामक तृतीय भेद में श्लिष्ट परम्परित का उदाहरण दिखायी देता है ।

---

1. ० समर्थ्यः
2. नरेन्द्रो राजा गारुडिश्च (मू. पा. टि.)
3. सर ०
4. अप्प [य] दीक्षितैः (मू. पा. टि.)

निरवयव के तृतीय भेद मालारूपक का उदाहरण जैसे—

आप गुणों की उत्पत्ति हैं, आचार रूपी वपु की कुलवसति हैं, क्षमा रूपी वल्लरी के मूल हैं, दिव्य तपस्या के पूर्णता हैं, लक्ष्मी की दृष्टि के पात्र हैं, जिनकी विमल बुद्धि का प्रभाव (चतुर्दिक्) फैलता है, ऐसे कवियों में अग्रणी आप इस जग में गणेश के गुरु (पिता)–महादेव हैं ॥ 209 ॥

कतिपय लोग इस रूपक में एक विषय में अनेक पदार्थों का आरोप होने से इस रूपक-भेद को उल्लेख रूप मानते हैं।

परम्परित रूपक—

जब एक आरोप का ही कारण दूसरा आरोप हो, तो परम्परित रूपक होता है ॥ सू. 134 ॥

हे राजन् ! युद्धभूमि में आपकी सर्परूपी तलवार राजाओं का पान करती है।

यहाँ तलवार में भुजङ्ग का आरोप होने से राजाओं में दुग्ध का आरोप समर्थ होता है।

(यह शुद्ध परम्परित का उदाहरण है।) श्लिष्टपरम्परित का उदाहरण जैसे—

"अहितापकरण"—शत्रुओं का अपकार करना ही सर्पों को ताप पैदा करना है, यह आपका दूसरा अद्भुत (कार्य) संसार में प्रकट हो रहा है।

यहाँ "शत्रुओं का अपकार करना (अहित+अपकरण) सर्पों को ताप पैदा करना है" (अहि+तापकरण), इस आरोप से राजा में औषध (गारुड़ि) के तादात्म्य के आरोप का समर्थन करना ही कवि का अभिप्राय है। वस्तुतः तो यह श्लेष नामक शब्दालङ्कार ही है। कवि के संरम्भ के कारण यहाँ उदाहृत किया गया है, यह जानना चाहिये।

अप्पयदीक्षित ने "कुवलयानन्द" में कहा है कि यह रूपक तीन प्रकार का होता है—उपमान का आधिक्यरूप, न्यूनत्वरूप और अनुभयरूप; तथा यह कहकर उदाहरण दिये हैं। (न्यूनत्व उक्तिवाले अभेद रूपक का उदाहरण है–)

ब्रह्मा ने दो प्रकार का भ्रम उत्पन्न किया है—स्त्रियों के रूप में तथा स्वर्ण के रूप में। उन स्त्रियों तथा स्वर्ण में जो आसक्त नहीं है वह तो मनुष्य रूप में साक्षात् शिव ही है ॥ 210 ॥

यहाँ "साक्षात्" इस विशेषण से विरक्त मुनि का शिव से तादात्म्य बताया गया है। पर "नराकृतिः" इस पद से शिव की दिव्यमूर्ति की रहितता बताकर न्यूनता द्योतित की गई है। अतः यह न्यूनत्व-उक्ति वाला अभेदरूपक है।

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् वादरायण ॥ 211 ॥ इति

न्यूनताद्रूप्यरूपकमिति। तथा—

त्वय्यागते[1] किमिति वेपत एष सिन्धु-
स्त्वं सेतुमन्थ[2]कृदतः किमसौ बिभेति।
द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवशं[3]वदोऽद्य
त्वां राजपुङ्गव ! निषेवत एव लक्ष्मीः ॥ 212 ॥

अत्र पुरुषोत्तमेन वर्णनीयस्य तादात्म्यम्। ततश्च द्वीपान्तरे जेतव्याभावान्नित्यं लक्ष्मीनिषेवितत्वाच्चाधिकाभेदरूपकम्। एवम्—

[4]किमसुभिर्ग्लपितैर्जड[5] ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुध [:] स्मर[:] ॥213॥

इत्यधिकताद्रूप्यरूपकम्।

[53ब] तत्र न्यूनोक्तेः प्रतीपेन्तर्भावात् अधिकोक्तेश्च व्यतिरेककुक्षिनिक्षेपात् अभेदस्य चाभावात् उपेक्ष्यं एवमनुभयोक्त्युदाहरणे[6] विशेषोक्त्यत्युक्तिसम्भवो वेदितव्यः।

वस्तुतस्तु सर्वमपि रूपकमश्रौतवाचकप्रयुक्तधर्मप्रतियोगिसादृश्यमेवत्युपमैव न पृथगिति कश्चित्।

इति रूपकम् ॥ 7.

---

1. ० व्यगते
2. रामरूपेण शत्रुहननार्थं सेतुः कृतः। कृष्णरूपेण लक्ष्म्यर्थं मथितः समुद्रः (मू. पा. टि.)
3. शत्रुः (मू. पा. टि.)
4. नैषधे पंचमसर्गे (मू. पा. टि.)
5. रे चन्द्र (मू. पा. टि.)
6. कुवलयानन्देऽनुभयोक्त्युदाहरणद्वये (मू. पा. टि.)

न्यूनताद्रूप्य रूपक जैसे—भगवान् व्यास बिना चार मुख वाले ब्रह्मा हैं, दो हाथ वाले विष्णु हैं, बिना ललाट-नेत्र वाले शिव हैं ॥ 211 ॥

यह न्यूनताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है। (अधिकाभेद रूपक का उदाहरण) जैसे—

(किसी राजा की स्तुति करते हुए कवि का कथन—) हे नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारे समुद्रतट पर आने पर यह समुद्र क्यों कांपता है ? तुम इस समुद्र पर सेतु बांधने वाले और इसका मन्थन करने वाले विष्णु हो, ऐसा समझकर क्या यह डर रहा है ? अन्य द्वीपों में भी कोई ऐसा शत्रु राजा नहीं है जो तुम्हारे वश में न हो (अतः सेतु बांधकर किसी अन्य द्वीप को जीतने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है।) और लक्ष्मी भी तुम्हारी सेवा करती ही है (अतः समुद्र-मन्थन की भी आवश्यकता नहीं है)। विष्णु ने रामावतार में शत्रुहनन के लिये सेतुबन्धन किया था और (कृष्णरूप में) लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये समुद्र-मन्थन किया। पर तुम्हारी ये दोनों इच्छायें पूर्ण हैं अतः पुरुषोत्तम विष्णुरूप में स्थित तुमसे समुद्र का डरना व्यर्थ है ॥ 212 ॥

यहां पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु के साथ वर्णनीय राजा का तादात्म्य वर्णित किया गया है। और इस तादात्म्य से विष्णु रूप राजा के लिये किसी अन्य द्वीप में किसी शत्रु को जीतना शेष न होने और नित्य लक्ष्मी द्वारा सेवित होने के वर्णन में विष्णुरूप पूर्वावस्था से राजरूप विष्णु की अवस्था में उत्कर्ष बताया गया है अतः यह अधिकाभेद रूपक का उदाहरण है।

इसी प्रकार (अधिकताद्रूप्यरूपक का उदाहरण) "नैषधीयचरित" के पञ्चम सर्ग का निम्नांकित श्लोक में—

दमयन्ती की चन्द्रोपालम्भमय उक्ति है—हे चन्द्र ! क्या तू समझता है कि प्राणों के नष्ट होने से दमयन्ती का मन मुझ में (चन्द्रमा में) लीन हो जायेगा। (एक वैदिक उक्ति के अनुसार मरने के पश्चात् मन चन्द्रमा में लीन हो जाता है।) परन्तु मुझे तो कामदेव ने उस श्रुति का वास्तविक अर्थ नल के मुखरूपी चन्द्रमा से सम्बद्ध बतलाया है ॥ 213 ॥

(यहां नलमुखचंद्र प्रसिद्ध चन्द्र से उत्कृष्ट बताया गया है अतः) अधिकताद्रूप्यरूपक का उदाहरण है।

अप्पयदीक्षित के द्वारा बताये गये इन रूपक-भेदों में से न्यूनोक्ति का प्रतीप अलंकार में अन्तर्भाव हो सकता है और अधिकोक्ति व्यतिरेक अलंकार के अन्तर्गत आ सकता है तथा अभेद का अभाव होने से ये भेद उपेक्ष्य हैं। "कुवलयानन्द"

में दिये गये अनुभयोक्ति के दोनों उदाहरण विशेषोक्ति की उक्ति से उत्पन्न माने जा सकते हैं।

किसी विद्वान् का मत है कि सभी रूपक उपमा ही है जिसमें वाचक शब्द का प्रयोग तथा धर्मप्रतियोगी सादृश्य अश्रौत (अश्रुतिगोचर) होता है, अतः यह रूपक उपमा से पृथक् नहीं है।

रूपक अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 7.

विषयात्मनैव विषयी न स्वयमुपयुज्यते स परिणामः ॥ सू. 135 ॥

यत्र विषयात्मतयैव विषयी प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण तत्र परिणामः। रूपके तु नैवमिति भेदः। उदाहरति—

अपहरतु सकलतापं कालिन्दीकूलजो हरितमालः[1]।

अत्र सकलतापापहारकत्वं तमालस्य भगवदात्मनैव।

इति परिणामः ॥ 8.

अथ संदेहः—

शुद्धा निश्चयगर्भा संशयधीर्निश्चयान्ता चेत्।
सा रमणीयालंकृतिरुदिता कविभिः समासेन ॥ सू. 136 ॥

तत्राद्या[2] यथा—

उदयति वारिधरो वा नयने तरुणस्तमालो वा।
इति संशयिनो गोपाः पश्यन्ति वनेषु हरिमारात्[3] ॥ 214 ॥

द्वितीया[4] यथा—

सप्तद्वीपधरा[5] पुरन्दर यतः कीर्तिस्तवात्युज्ज्वला
[54अ] लोकान् चन्दनपङ्कलिप्तवपुषः कान्त्या तनोतिऽस्फुटम् ॥

---

1. हरिरेव तमालो वृक्षः (मू. पा. टि.)
2. शुद्धा (मू. पा. टि.)
3. दूरात् (मू. पा. टि)
4. निश्चयगर्भा (मू. पा. टि.)
5. हे (मू. पा. टि.)

यां गङ्गा किमियं न सा जलमयी ज्योत्स्नाथवेन्दोर्न सा
दोषायां[1] नियतेति संशयधियः के के न जातास्ततः ।। 215 ।।

तृतीया[2] यथा—

कला किमिन्दोः पतिता नभस्तः
किं वा लतोन्मूलितमूलदशा ।
इति स्फुटं संशयमग्नचित्तो
जानाति निश्चित्य वियोगिनीति ।। 216 ।।

इयं त्रिविधापि धीः सादृश्यमूलैव युक्ता । अयमारोपमूलः संशयः । क्वचिदध्यवसानमूलोऽपि दृश्यते । यथा गङ्गाधरे—

सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः क्षालितं
लिप्तं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।
संदेहं जनयन्नृणामिति परित्रात[3]त्रिलोकस्त्विषां
व्रातः प्रातरुपातनोतु भवतां भव्यानिभासां निधेः[4] ।। 217 ।।

अत्र सिंदूरत्वादिना संशयधर्मी किरणव्रातोऽध्यवसीयते ।
इति संदेहः ।। 9.

8. परिणाम—

जब विषयी (उपमान) विषय (उपमेय) के साथ सर्वात्मना एक रूप से ही उपयुक्त (परिणमित) हो, स्वतन्त्र रूप से नहीं, तब (उपमान में उपमेय का अभेद) परिणाम होता है ।। सू. 135 ।।

जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रकृतोपयोगी हो, स्वतन्त्ररूप से नहीं, वहाँ परिणाम होता है । रूपक में ऐसा नहीं होता, यही इन दोनों में भेद है । (परिणाम अलंकार में उपमान को उपमेय से अभिन्न समझ लेने पर ही प्रस्तुत वाक्यार्थ

---

1. यां ज्योत्स्नां प्रति दोषा नियता (मू. पा. टि.)
2. निश्चयान्ता (मू. पा. टि.)
3. ० नयनो ०
4. गृह्यस्य (मू. पा. टि.)

संगत होता है। रूपक में उपमेय को उपमान से अभिन्न समझने पर प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है। यही इन दोनों में परस्पर भेद है।)

परिणाम का उदाहरण है—कालिन्दी-तटवासी हरिरूपी तमालवृक्ष समस्त दुःखों को दूर करें।

यहाँ तमाल (उपमान), सकलताप को, भगवद्रूप (उपमेयरूप) होने पर ही निवृत्त कर सकता है, अतः परिणाम अलङ्कार है।

परिणाम अलङ्कार का प्रसंग समाप्त हुआ ॥ 8.

9. सन्देह—

शुद्धा अर्थात् जिसमें आदि से अन्त तक सन्देह ही बना रहता है, निश्चय-गर्भ अर्थात् जिसमें बीच-बीच में निश्चय भी होता रहता है और निश्चयान्त अर्थात् जिसमें आदि में लगातार सन्देह बना रहता है पर अन्त में निश्चय हो जाता है, उक्त प्रकार का (त्रिविध) संशयात्मक ज्ञान रमणीय अलंकृति के रूप में व्यक्त होता है अतः कवियों द्वारा संक्षेप में सन्देह अलंकार कहा जाता है।

॥ सू.136 ॥

सन्देह अलंकार के प्रथम शुद्ध सन्देह का भेद जैसे—

यह नयनों में बादल उत्पन्न हो रहा है अथवा तरुण तमाल है, इस संशय से युक्त गोपवृन्द वनों में हरि को दूर से आते हुए देखते हैं ॥ 214 ॥

सन्देह अलंकार का द्वितीय भेद निश्चयगर्भ का उदाहरण जैसे—

हे पुरन्दर (इन्द्र)! चूंकि सातों द्वीपों को धारण करने वाली तुम्हारी अत्यन्त उज्ज्वल कीर्ति चन्दन से लिप्त शरीर की कान्ति से लोकों में पूर्णतः फैल रही है। अतः "अरे, क्या यह गङ्गा है?", "नहीं, गंगा नहीं, क्योंकि वह तो जलमयी है"। "अथवा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना है"? "नहीं, वह तो रात्रि में नियत है"। इस प्रकार कौन-कौन लोग संशय बुद्धि से युक्त नहीं हो गये?" ॥ 215 ॥

तृतीय निश्चयान्त सन्देहालंकार जैसे—

यह या तो आकाश से गिरी हुई चन्द्रमा की कला है। या जड़ से उखाड़ी गई कोई लता है। इस प्रकार स्पष्ट रूप में संशय से युक्त चित्तवाला निश्चय करके जानता है कि यह वियोगिनी है ॥ 216 ॥

यह तीनों प्रकार का ज्ञान सादृश्यमूल ही है। सन्देह अलंकार के ये तीनों उदाहरण आरोपमूलक हैं (क्योंकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनों का ग्रहण किया गया है)। कहीं पर यह संदेहालंकार अध्यवसान-मूलक भी देखा जाता है (यहाँ

आरोप्यमाण ही उक्त रहता है, आरोपविषय उससे निगीर्ण रहता है)। जैसे "रसगंगाधर" में—

यह पृथ्वीमण्डल क्या सिंदूर से परिपूर्ण है, अथवा लाक्षारस से धोया हुआ है, अथवा केसर के लेप से आलिप्त है, इस प्रकार के सन्देह मनुष्यों में उत्पन्न करती हुई त्रिलोकरक्षक सूर्य की प्रातःकालीन किरणों का समूह आप लोगों में कल्याण का प्रसार करे ॥ 217 ॥

यहां सिंदूरत्व आदि रूप से संशय का धर्मी किरणसमूह अध्यवसित हुआ है (अर्थात् सिंदूर आदि पद ही किरण का भी बोधक है)।

सन्देह अलंकार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 9.

तत्तुल्यदर्शने स्याद्भ्रान्तिस्तद्वानलङ्कारः ॥सू. 137॥

[1]प्राकरणिकेऽप्राकरणिकतया संवेदनमित्यर्थः। यथा—

जलदभ्रमेण भगवति[2] नृत्यन्ति वनेषु पश्यत मयूराः। यथा वा—

[54व] कपाले मार्जारः पय इति करां[3] ∧ ल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् [4]बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान्[5] हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥218॥

इति भ्रान्तिमान् ॥10.

एकस्यानेकैरप्यनेकधाग्रहणमुल्लेखः ॥सू. 138॥

एकस्य वस्तुनोऽनेकैः पदैर्गृहीतृभिश्च अनेकप्रकारकग्रहणमुल्लेखालङ्कारः। उदाहरति—

कालं रिपवः कामं स्त्रियोऽर्थिनः स्वद्रुमं भजन्ति त्वाम्।

यत्तूदाहृतम्[6]—

---

1. प्रस्तुते (मू.पा.टि.)
2. कृष्णे (मू.पा.टि.)
3. करान्ले०
4. विश०
5. करान् (मू.पा.टि.)
6. गङ्गाधरे (मू.पा.टि.)

आलोक्य सुन्दरि[1] ! मुखं तव मन्दहासं
नन्दयन्त्यमन्दमरविन्दधियो मिलिन्दा:[2] ।
किं चालि ! पूर्णमृगलाञ्छनसम्भ्रमेण
चञ्चूपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोरा: ॥219॥

तदेतन्नानाकोट्यवगाहिसंभ्रमकुक्षिनिक्षिप्तमित्युपेक्ष्यम् । यथा वा—

यमाद्यष्टाङ्गज्ञा: पुरुषमथ कर्त्तारमपरे
प्रकृत्याधीनत्वात् प्रकृतिमितरे यज्ञपुरुषम् ।
चतुर्व्यूहैरन्ये हरिमपि तदन्ये पशुपतिं
न मन्ये त्वत्तोऽन्यं [3]परमशिवनिर्वाणवपुष:[4] ॥220॥

इत्युल्लेख:[5] ॥ 11.

10. **भ्रान्तिमान्**—

उस (अन्य अप्राकरणिक वस्तु) के समान (प्राकरणिक वस्तु) के देखने पर जो अप्राकरणिक अर्थ का भान होता है वह भ्रान्ति है, उससे युक्त अलङ्कार भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥सू. 137॥

प्राकरणिक (प्रस्तुत) में अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) रूप से जो संवेदन (प्रतीति) है वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार कहलाता है, यही अभिप्राय है । जैसे—

देखो भगवान् (कृष्ण) को देखकर बादल के भ्रम से मयूर वनों में नृत्य कर रहे हैं । अथवा—

कपाल में स्थित चन्द्र-किरणों को दूध समझकर बिल्ली चाट रही है । वृक्ष के छिद्रों में (पत्तों के बीच) पिरोई हुई किरणों को हाथी मृणालदण्ड समझकर उठा रहा है । कोई रमणी शय्या पर फैली हुई उन किरणों को साड़ी समझकर सुरत-सम्भोग के बाद समेटने लगती है । इस प्रकार प्रभा से मत्त हुआ यह चन्द्रमा इस जगत् में भ्रान्ति-जन्य विप्लव उत्पन्न कर रहा है, यह आश्चर्य की बात है ॥218॥

भ्रान्तिमान् अलङ्कार का प्रसंग समाप्त हुआ ॥ 10.

---

1. हे (मू.पा.टि.)
2. भ्रमरा: (मू.पा.टि.)
3. हे (मू.पा.टि.)
4. शरीरात् (मू.पा.टि.)
5. ०ल्लेष:

11. उल्लेख—

एक ही वस्तु का अनेक ज्ञाताओं द्वारा भी अनेक प्रकार का ग्रहण उल्लेख अलङ्कार है ।।सू. 138।।

एक ही वस्तु का अनेक पदों द्वारा ग्रहण करने वाले (ज्ञाताओं) द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण उल्लेख अलङ्कार है। उदाहरण है—

तुमको शत्रु काल के रूप में, स्त्रियाँ कामदेव के रूप में और याचक कल्प-वृक्ष के रूप में ग्रहण करते हैं।

"रसगङ्गाधर" में जो निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—

हे सुन्दरि ! तुम्हारे मन्दहास्ययुक्त मुख को देखकर भ्रमर कमल के भ्रम से अत्यधिक आनन्दित होते हैं। और हे सखि ! चकोर पूर्णचन्द्रमा के भ्रम से चिरकाल तक चोंच को चंचल बनाते हैं ।।219।।

इस उदाहरण में दो भ्रमात्मक ज्ञान भिन्न-भिन्न (अन्य में अन्य विषयक होने से) भ्रमरूप हैं। (एक ज्ञान में भ्रमर द्वारा मुख को कमल समझा गया है और दूसरे ज्ञान में चकोर द्वारा मुख को चन्द्रमा समझा गया है।) अतः "रस-गङ्गाधर" में दिया गया यह उदाहरण भ्रान्तिमान् अलङ्कार रूप होने से उपेक्ष्य है। अथवा अन्य उदाहरण—

यम नियम आदि अष्टांग के ज्ञाता आपको पुरुष मानते हैं, अन्य लोग आपको कर्त्ता कहते हैं, प्रकृति की आधीनता के कारण कुछ लोग आपको प्रकृति कहते हैं तो दूसरे लोग यज्ञ-पुरुष मानते हैं। अन्य (दार्शनिक) चतुर्व्यूहों के द्वारा हरि कहते हैं तो अन्य लोग पशुपति मानते हैं। किन्तु हे परमशिव ! मैं निर्वाणपुरुष आपसे अन्य किसी को नहीं मानता ।।220।।

उल्लेख अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ।। 11.

निह्नुतिरिह धर्माणामुपमेयनिषेधसाहचर्येण आरोप्यमाणमुपमा [न] [55अ] तादात्म्य ^ मपह्नुतिः सेयम् ।।सू. 139।।

उदाहरणं यथा—

स्मितं नैतज्ज्योत्स्ना न मुखमिन्दुर्न कुटिले
भ्रुवावङ्कः पङ्केरुहयुगमनङ्के[1] कुवलयम् ।

1. अंके पंकेरुहयुगं न किन्तु कुवलयं चन्द्रविकाशि (मू.पा.टि.)

कटाक्षप्रस्यन्दो न भवति सुधा नाधरतल-
द्युतिः सन्ध्यारागं तरलयति मे पङ्कजदृशः ।।221।।

अत्रानुग्राह्यानुग्राहकत्वेनावयवसंघातात्मकतया सावयवा । निरवयवा तु यथा गङ्गाधरे—

श्यामं स्मितं च सुदृशो[1] न दृशोः स्वरूपं
किं तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च ।
नो चेत्कथं निपतनादनयो[2]स्तदैव
मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ।।222।।

अत्र प्रतिज्ञातार्थवैपरीत्ये बाधकोपन्यासाद्हेत्वपह्नुतिः ।

उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया स्थाप्यते सापह्नुतिरिति प्राञ्चः[3] ।

यत्तु कुवलयानन्दे[4]—

अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सा ।
नायं सुधांशुः, किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ।।

[5]इत्युक्तं तत्सामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वात्[6] प्राचां लक्षणविरोधाच्चोपेक्ष्यम् । सुधांशुः प्रेयसीमुखमिति तु दृढारोपं रूपकमेव नापह्नुतिः ।

इत्यपह्नुतिः ।। 12.

12. अपह्नुति—

जहाँ उपमेय का निषेध के साथ (उपमेय के) असाधारणधर्म (मुखत्व आदि) का निषेध होता है और (मुख आदि में) आरोपित किया हुआ उपमान (चन्द्र आदि) के साथ अभेद अपह्नुति अलङ्कार कहलाता है ।।सू. 139।।

उदाहरण जैसे—

यह मंदहास नहीं, अपितु ज्योत्सना है । मुख नहीं चन्द्रमा है । ये कुटिल भौंहें नहीं, (चन्द्रमा का) कलङ्क है, अङ्क में पङ्कज–युगल नहीं

1. स्त्रियः (मू.पा.टि.)
2. दृशोः (मू.पा.टि.)
3. काव्यप्रकाशकाराः (मू.पा.टि.)
4. अप्प [य] दीक्षितैः (मू.पा टि.)
5. मूलपाठ में सन्धि के कारण "प्रेयसीमुखमित्युक्तं" लिखा है ।
6. निह्नुतिरिह धर्माणामित्याद्युक्तलक्षणाभावात् (मू.पा.टि.)

अपितु (चन्द्र विकासी) कुवलय है, कटाक्षों का प्रस्यन्द (चञ्चल निपात) नहीं, प्रत्युत अमृत है, यह अधरतल की लालिमा नहीं, अपितु कमलनयनी मेरे लिये सन्ध्या के रङ्ग तरलित (प्रवाहित) कर रही है ॥221॥

उक्त पद्य अनेक अपह्नुतियों का समूहरूप है जो परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव (समर्थ्य-समर्थकभाव) से युक्त हैं, अतः यह सावयवा अपह्नुति है। निरवयवा अपह्नुति जैसे "रसगङ्गाधर" में—

सुनयना स्त्रियों के नेत्रों का स्वरूप श्याम और श्वेत नहीं है, अपितु स्पष्ट रूप से यह विष और अमृत है। यदि ऐसा न होता तो इन नेत्रों के पतन से (दृष्टिपात से) तत्काल ही युवकगण अत्यधिक मोह और आनन्द कैसे प्राप्त करते हैं? ॥222॥

यहां विष और अमृत होने की प्रतिज्ञा की गई है और उसके विपरीत पक्ष (श्याम और श्वेत नयनों का स्वरूप ही है इस पक्ष में) बाधक हेतु का वर्णन ("नो चेत्" इत्यादि द्वारा) किया गया है अतः इसे हेतु अपह्नुति कहा गया है।

काव्यप्रकाशकार का कथन है कि उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्य रूप से जो स्थापित किया जाता है, वह अपह्नुति है।

"कुवलयानन्द" में अप्पयदीक्षित ने भी कहा है—

जहां वस्तु के धर्म के निषेध के साथ ही उस धर्म का आरोप अन्य पर किया जाये, वहां पर्यस्तापह्नुति होती है। जैसे—यह चन्द्रमा नहीं है फिर चन्द्रमा कौन है? चन्द्रमा तो प्रियतमा का मुख है।

इस कथन में ("नायं सुधांशुः" में) अपह्नुति का सामान्य लक्षण संघटित नहीं होता और इसका प्राचीन ग्रन्थकारों के लक्षण से विरोध होता है अतः इसे अपह्नुति का भेद कहना समुचित नहीं है। चन्द्रमा प्रिया का मुख है—इस प्रकार यहां दृढारोप रूपक ही है, अपह्नुति नहीं।

अपह्नुति का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 12.

सम्भावनमुत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्त्रिविषम्।
[55a] वस्तुफलहेतुभेदाज्जात्याद्य[1] च ʌ स्तु तत्रान्ये ॥सू. 140॥

---

1. जातिगुणक्रियाद्रव्यं वस्तु। तत्र वस्तुनि फलोत्प्रेक्षाहेतूत्प्रेक्षे भवतः।
(मू. पा. टि.)

"तद्भिन्नत्वेन[1] तदभाववत्त्वेन[2] वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनमि"[3] ति त्रिशूली ।

तत्र "लोकोत्तरप्रभावं त्वां मन्ये नारायणं परम् ।"

नारायणेनाऽनेन प्रायशो भवितव्यमिति सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय प्रमितस्येत्यन्तम् ।

वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमावहसि [यदा] ।
जगदिह तदैव[4] जाने दशार्द्धबाणेन[5] विजितमिति ॥223॥

अत्र जगज्जयसम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय रमणीयतद्धर्मनिमित्तकमिति ।

दूरस्थोऽयं देवदत्त इवाभातीति, चञ्चलत्वादिसाधारणधर्मनिमित्तायां सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय धर्मगतं रमणीयत्वम् । रूपकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सम्भावनमिति[6] । तदेतत् समप्रकृताभ्यां[7] निगीर्णमिति गौरवादुपेक्ष्यम् ।

समेनेत्युपमानेन वस्तुफलहेतुभेदात् सम्भावनस्य त्रैविध्यात् वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा चेति त्रिविधोत्प्रेक्षा ।

[56अ] त ^ त्र जातिगुणक्रियाद्रव्याद्यं वस्तु । तत्र स्वरूप एव अन्ये फलहेतूत्प्रेक्षे । सर्वाप्युत्प्रेक्षा द्विधा वाच्या प्रतीयमाना च । नूनं मन्ये जाने शंके ध्रुवं प्रायस्तर्कयामि उत्प्रेक्षते तदिव भातीत्यादि प्रतिपादकसहिता वाच्या । प्रतिपादकशब्दरहितत्वेन सामग्रीमात्रप्रतीत्या प्रतीयमाना ।

---

1. उपमेयभिन्नत्वेन (मू.पा.टि.)
2. उपमेयाभावत्वेन वा (मू.पा.टि.)
3. उत्प्रेक्षा (मू.पा.टि.)
4. ०देव
5. कामेन (मू.पा.टि.)
6. ०नमति
7. प्रकृतस्य समेनेत्यत्रोक्ताभ्यामित्यर्थः (मू. पा. टि.)

यत्र तु प्रतिपादकमात्रं सामग्रीविरहस्तत्र सम्भावनमेव नोत्प्रेक्षा। तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकेषु विषयेषूत्प्रेक्षणं वस्तूत्प्रेक्षा।

साप्युक्तास्पदानुक्तास्पदा चेति द्विधा ॥सू.141॥

13. उत्प्रेक्षा—

प्रकृत (उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है। वस्तु फल और हेतु भेद से यह उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती हैं (वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा)। जाति आदि (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप) वस्तु है और वस्तु में फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा होती है ॥सू 140॥

त्रिशूली (रसगङ्गाधरकार) ने कहा है कि उपमेय की भिन्नता से ज्ञात पदार्थ की, उस पदार्थ में रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर की जाने वाली सम्भावना अथवा उपमेय की अभाववत्ता से ज्ञात पदार्थ की, उस धर्म के साथ रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गयी, उस धर्म की अथवा उस धर्म को युक्त होने की सम्भावना उत्प्रेक्षा है।

जैसे लोकोत्तर प्रभाववाले तुमको मैं श्रेष्ठ नारायण मानता हूँ।

यहाँ "यह प्रायः नारायण होगा" ऐसी सम्भावना उत्पन्न होगी, इस सम्भावना में अतिव्याप्ति के वारण के लिये "प्रमित" (जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो) शब्द विद्यमान है।

हे बालिके ! जब मुखकमल द्वारा मुस्कुराहट की शोभा का एक लेश धारण करती हो तो मैं उसी समय जान लेता हूँ कि इस जगत् को पंचबाण (को धारण करने वाले कामदेव) ने जीत लिया है ॥223॥

यहाँ जगत् को जय करने की सम्भावना वर्णित की गयी है, उसमें अतिव्याप्ति के वारण के लिये लक्षण में "रमणीयतद्धर्मनिमित्तकम्" (दोनों पदार्थों में रहने वाले किसी रमणीय धर्म को निमित्त मानकर) यह अंश रखा गया है।

"दूर खड़ा यह देवदत्त-सा प्रतीत होता है," इत्यादि में चंचलता आदि साधारणधर्म को निमित्त मानकर की जाने वाली सम्भावनाओं में अतिव्याप्ति के वारण के लिये निमित्तभूत धर्म में स्थित "रमणीयत्व" विशेषण दिया गया है। रूपक में अतिव्याप्ति के वारण के लिये "सम्भावना" शब्द कहा गया है। (रूपक का ज्ञान निश्चयरूप होता है, सम्भावना रूप नहीं।) अतः यह "प्रकृत समेन"

इस प्रकार कहे गये शब्दों द्वारा निगीर्ण हो जाता है—इसलिए अतिविस्तार से बचने के लिये उपेक्षणीय है।

उत्प्रेक्षा-भेद—सम अर्थात् उपमान के साथ वस्तु, फल और हेतु भेद से सम्भावना तीन प्रकार की होती है। अतः उत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है—वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा (अर्थात् जहाँ किसी एक वस्तु-उपमेय की किसी दूसरी वस्तु–उपमान के साथ तादात्म्य सम्भावना हो, वह स्वरूपोत्प्रेक्षा या वस्तूत्प्रेक्षा होती है। जहाँ किसी वस्तु के किसी कार्य के हेतु न होने पर उसकी हेतुत्व-सम्भावना की जाये, वह हेतूत्प्रेक्षा होती है। और जहाँ किसी वस्तु के फल न होने पर उसमें प्रकृत के फलत्व की सम्भवाना की जाये, वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है)।

जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप प्रकृत विषयों में उत्प्रेक्षा करना ही वस्तूत्प्रेक्षा है। इस वस्तुरूप में ही फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा है। सभी (तीनों) प्रकार की उत्प्रेक्षा ही दो-दो प्रकार की होती है-वाच्या और प्रतीयमाना। जहाँ उत्प्रेक्षा वाचक "नूनम्", "मन्ये" "जाने", "शंके", "ध्रुवम्", "प्रायः", "तर्कयामि" (तर्क करता हूँ), "उत्प्रेक्षते" (उत्प्रेक्षा करता हूँ), "इव", "भाति" इत्यादि शब्द वाच्य रहते हैं, वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है। जहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द नहीं होने पर सामग्री मात्र से उत्प्रेक्षा प्रतीत हो, वह प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। जहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द नहीं होने पर, सामग्री मात्र से उत्प्रेक्षा प्रतीत हो, वह प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। जहाँ उत्प्रेक्षाबोधक शब्द हो पर सामग्री न हो, वहाँ केवल सम्भावना मानी जाती है, उत्प्रेक्षा नहीं। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप प्रस्तुत विषयों में उत्प्रेक्षण करना ही वस्तूत्प्रेक्षा है।

वह वस्तूत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की है—उक्तास्पदा (उक्त विषया) और अनुक्तास्पदा (अनुक्त विषया) ॥सू.141॥

क्रमेणोदाहरणम्—

> स्मितप्रकाशं वदनं सुदत्याः कचावलिव्याकुलितं रतान्ते।
> वैरेण मन्ये तमसा निरुद्धं बिम्बं सुधांशोः परिकूजतीति ॥224॥

अत्र रतकूजितविशिष्टमुखविषये तमःकर्तृकवैरहेतुककर्माभिन्नोत्प्रेक्षितशशितादात्म्योत्प्रेक्षणपूर्वकं कूजनकर्तृत्वधर्मं उत्प्रेक्ष्यते सेयमुक्तास्पदा[1]। यथा वा—

1. ०क्तस्पदा

कलिन्दजातीरमरेऽर्द्धमग्ना वकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः ।
ध्वान्तेन वैराद्विनिगीर्यमाणाः क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः ॥225॥

अत्र क्रियारूपा वस्तूत्प्रेक्षा । काव्यप्रकाशे —

[56व] उन्मेषं यो[1] मम[2] न सहते जातिवैरी[3] निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्य्यदर्पः ।
नीतः शन्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु[4] ते[5] पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥226॥

अनुक्तास्पदा तु उदाहृता[6] यथा—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥227॥

अत्र प्रथमान्तार्थे कर्त्तरि लेपनकर्तृत्वादेरुत्प्रेक्षणम् । विषयस्य नभः-कर्तृकव्यापनस्य निगीर्णत्वादनुक्तास्पदा । काव्यप्रकाशगतोदाहरणे तु हेतूत्प्रेक्षा हर्षरूपहेतुमात्रस्योत्प्रेक्षात्वात् ।

फलोत्प्रेक्षा सिद्धास्पदा यथा—

अतिभरशालिस्तनयुगमनायासेनैव[7] धारयत्वे[8][पा] ।
वलिगुणनिबद्धमस्यामितीव मन्ये कृतं मध्यम् ॥228॥

वलिगुणनिवन्धनाभावेपि मध्यस्य कुचधृतेः तत्कर्तृकत्वेन तस्यास्तत्फलत्वेनोत्प्रेक्षा [9]सिद्धविषया ।

---

1. चन्द्रः (मू. पा. टि.)
2. कमलस्य (मू. पा. टि.)
3. जातेर्वैरी (मू. पा. टि)
4. हे (मू. पा. टि.)
5. तव (मू. पा. टि.)
6. पूर्वसूरिभिः (मू. पा. टि.)
7. ०मनयासेनैव
8. ०यत्नु०
9. सिद्धावि०

सैवासिद्धास्पदा यथा—

[1]अनशनमातपसहनं वने निवासं च तपो रम्भा[2] ।
प्रायस्त्वदूरुसमतामधिगंतु तरुणि[3] संतनुते ॥229॥

[57अ] अत्रोरुसमताधिगमो न तपः फलमिति [4]तत्त्वेनोत्प्रेक्षासिद्ध-विषया ।

क्रम से इनके उदाहरण हैं—

रति-क्रीड़ा के अन्त में सुन्दर दांतों वाली सुन्दरी का केशराशि से घिरा हुआ उज्ज्वल मुस्कराहट से युक्त मुख ऐसा ज्ञात होता है मानो विरोध के कारण अन्धकार से अवरुद्ध चन्द्रमा का विम्व अस्पष्ट ध्वनि (परिकूजन) कर रहा है॥224॥

यहाँ रति-कूजित से विशिष्ट मुखरूप विषय में अन्धकार कर्तृक वैरहेतुक कर्म से अभिन्न रूप में उत्प्रेक्षित चन्द्रमा के साथ तादात्म्य की उत्प्रेक्षरणा के साथ उनमें कूजन कर्तृत्व धर्म की उत्प्रेक्षा की गई है—अतः यह उक्तास्पदा उत्प्रेक्षा है ।

अथवा अन्य उदाहरण—

यमुना नदी के तीर स्थित जल में आधे डूबे हुए और अत्यधिक कोलाहल करते हुए बगुले ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वैर के कारण अन्धकार के द्वारा निगले जाते हुए बाल—चन्द्रमा चिल्ला रहे हैं ॥225॥

यहाँ क्रियारूप वस्तूत्प्रेक्षा है । "काव्यप्रकाश" में उदाहरण दिया गया है—
जो जन्म का वैरी चन्द्र रात्रि में भी मेरे (कमल के) विकास को सहन नहीं करता, उस चन्द्रमा के सौन्दर्य-गर्व को इस नीलकमल के समान नयनों वाली (सुन्दरी) ने अपने मुख की कान्ति से हठात् ही नष्ट कर दिया है, अतः हे सुन्दर शरीरवाली प्रिये ! हर्ष के कारण कमलश्री मानो तुम्हारे चरणों में संलग्न हो गई है ॥226॥

पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुसार अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण दिया गया है, जैसे—

---

1. आप एवाशनं यस्मिन् तत् तपः (मू. पा. टि.)
2. कदली (मू. पा. टि.)
3. हे (मू. पा. टि.)
4. तत्वे०

अन्धकार मानो अंगों को लीप रहा है, आकाश मानो काजल की वर्षा कर रहा है। दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि निष्फल हो गई है ।।227।।

यहाँ प्रथमान्त पदार्थ कर्त्ता (अन्धकार और आकाश) में लेपन आदि (लीपना और वर्षा करना रूप) कर्तृत्व अर्थात् क्रियाओं की उत्प्रेक्षा है। नभ की क्रिया "अञ्जन की वर्षा करना" के द्वारा अन्धकार की क्रिया व्यापन (व्याप्त होना) रूप विषय को यहां निगीर्ण कर लिया है अतः यह अनुक्त विषया उत्प्रेक्षा है। "उन्मेषं यो मम:" इत्यादि काव्यप्रकाशगत उदाहरण में (शोभारूप विषय में) हर्षरूप हेतु की उत्प्रेक्षा की गयी है अतः यह हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है।

सिद्धविषया (सिद्धास्पदा) फलोत्प्रेक्षा जैसे—

अति भारयुक्त स्तनयुगल को यह सरलता से ही धारण करे, इसीलिए (विधाता द्वारा) इसके मध्य भाग (कटि) को त्रिवली रूपी गुण (तिहरी डोरी) से निबद्ध किया गया है, ऐसा मैं मानता हूँ ।।228।।

यहाँ वलिगुण के निबन्धन का अभाव होने पर भी कटि द्वारा कुचों को धारण करने के कर्तृत्व के कारण "उस क्रिया का यह फल है" इस उत्प्रेक्षा के कारण यह फलोत्प्रेक्षा सिद्धविषया है।

असिद्धविषया (असिद्धास्पदा) फलोत्प्रेक्षा जैसे—

हे सुन्दरी ! तुम्हारी जंघाओं से लगभग समानता प्राप्त करने के लिये ही मानो कदली (केले के पौधे) ने केवल जल ही आहाररूप में लेने, धूप सहने और वन में निवास करने का तप प्रारम्भ किया है ।।229।।

यहाँ जंघाओं से समानता प्राप्त करना तपस्या का फल नहीं है, इस रूप में उत्प्रेक्षा असिद्धविषया है।

अथ हेतूत्प्रेक्षा साऽपि तथा[1] ।। सू. 142।।

तत्राद्या यथा कुवलयानन्दे—

> रात्रौ रवेर्दिवा चेन्दोरभावादिव स प्रभुः ।
> भूमौ प्रतापयशसी सृष्टवान् सततोदिते ।। 230 ।।

अत्र प्रतापयशसोः सर्गे अहेतोरपि हेतुत्वेन कल्पनम् ।

---

1. तथेति सिद्धास्पदासिद्धास्पदा चेत्यर्थः (मू. पा. टि.)

द्वितीया यथा तत्रैव—

विवस्वताऽनायिषतेव[1] मिश्राः स्वगोसहस्रेन[2] समं जनानाम् ।
गावो[3]ऽपि नेत्राऽपरनामधेयास्तेनेदमाऽऽन्ध्यं खलु नाऽन्धकारैः ॥ 231 ॥

ग्रत्रासदेव रात्रावान्ध्यहेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते इत्यसिद्धविषया ।

क्रमेणोदाहरणान्तराणि तत्रान्यधर्मसम्बन्धनिमित्तेनान्यस्याम्यतादात्म्यसम्भावनरूपा तमो व्यापनस्यानुपादानान्नभः कर्तृ काञ्जनवर्षणतादात्म्योत्प्रेक्षा । तादृश्युक्तास्पदा लेपनरूपविषयोपादानात्[4] ।

लिम्पतीव तमो गात्रं गृहीतमिव मुष्टिना ।
तवारि दुर्यशो राजन् दिनेप्यन्धयति प्रजाः ॥ 232 ॥

ग्रत्र वस्तुरूपैव ।

[57 ब] कीर्त्तिस्तवैरावतदन्ति दन्तान् विनम्रकल्पद्रुमपुष्पराशीन् ॥
समुल्लसन्ती वदनाम्बुजेभ्यः सुपर्वणामुज्ज्वलयत्यजस्रम् ॥ A233 ।

ग्रत्रोज्ज्वलीकरणाऽहेतोर्हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणं इवाद्यनुपादानात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वदनाम्बुजनिर्गमनरूपविषयसद्भावात् सिद्धास्पदा ।

हेतूत्प्रेक्षा भी फलोत्प्रेक्षा के समान दो प्रकार की होती है—सिद्धविषया और ग्रसिद्धविषया ॥ सू. 142 ॥

प्रथम सिद्धविषया का उदाहरण "कुवलयानन्द" के समान—

उस राजा ने रात्रि में सूर्य का ग्रौर दिन में चन्द्रमा का ग्रभाव होने के कारण ही मानों पृथ्वी पर निरन्तर प्रकाशित रहने वाले प्रताप ग्रौर यश की सृष्टि की ॥ 230 ॥

यहाँ रात्रि में सूर्य का ग्रभाव ग्रौर दिन में चन्द्रमा का ग्रभाव, राजा के प्रताप ग्रौर यश की रचना का कारण नहीं है, परन्तु फिर भी कवि ने सूर्यचन्द्राभाव को राजा के प्रतापयश की सृष्टि का हेतु कल्पित किया है (ग्रतः यह सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है) ।

---

1. निन्ये इत्यर्थं (मू. पा. टि.)
2. किरणसहस्रेण (मू. पा. टि.)
3. नेत्राणि (मू. पा. टि.)
4. पाण्डुलिपि में सन्धि करके "विषयोपादानाल्लिम्पतीव" दिया गया है ।

हेतूत्प्रेक्षा के द्वितीय भेद असिद्धविषया का उदाहरण भी "कुवलयानन्द" के समान ही—

सूर्य अपनी सहस्र गायों (किरणों) के साथ मिली हुई लोगों की नेत्र, इस दूसरे नाम वाली गायों (नेत्रों) को भी मानो घेरकर ले गया है, उसी से यह अन्धता हो गयी है, अन्धकार के कारण यह अन्धता नहीं है ॥ 231 ॥

यहां (सूर्य अपनी किरणों के साथ लोगों के नेत्रों को ले गया है, यह सम्भावना की गयी है जो) असत्य है, पर कवि ने उसी को रात्रिगत अन्धता का हेतु उत्प्रेक्षित किया है, इस प्रकार यह असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

क्रम से दिये गये अन्य उदाहरणों के अन्तर्गत वहां ("लिम्पतीव तमोऽगानि" इत्यादि उदाहरण में) अन्य धर्म का सम्बन्ध निमित्त होने के कारण अन्य वस्तु का अन्य वस्तु से तादात्म्य सम्भावना रूप है। अंधकार की क्रिया-व्यापन (व्याप्त होना) रूप विषय को यहां निर्गीण कर लिया गया है। "नभ" की क्रिया "अञ्जन की वर्षा करना" इस तादात्म्य की सम्भावना रूप होने से उत्प्रेक्षा है। उसी प्रकार लेपनरूप विषय का ग्रहण करने से यहां उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा होगी—

मुट्ठी के द्वारा ग्रहण किये हुए के समान मानो अन्धकार शरीर को लीप रहा है। हे राजन्! तुम्हारे शत्रुओं की अपकीर्त्ति प्रजाओं को दिन में भी अंधा बना रही है ॥ 232 ॥

यहां वस्तुरूप उत्प्रेक्षा ही है।

तुम्हारी कीर्त्ति देवताओं के मुखकमलों से प्रकाशित होती हुई ऐरावत हाथी के दांतों, तथा झुके हुए कल्पवृक्ष के पुष्पसमूह को निरन्तर उज्ज्वल बनाती है ॥ 233 ॥

यहां उज्ज्वलीकरण के अहेतु की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा की गई है अतः हेतूत्प्रेक्षा है। "इव" आदि शब्दों का कथन नहीं होने से प्रतीयमान उत्प्रेक्षा है। वदनाम्बुज (मुखकमल) से निर्गमनरूप विषय का ग्रहण होने से यह सिद्धास्पदा (सिद्धविषया) हेतूत्प्रेक्षा है।

अभीप्सता त्वन्मुखकान्तिमब्जैर्विरोधितं शीतकरेण शश्वत्।
दृगञ्जने साम्यगुणांकलिप्सा बभूव दोषाय तथापि तस्य ॥ 234 ॥

अत्र मुखकान्तिकामनावैरहेतुर्न भवति वस्तुतस्तादृशकामनाऽभावादसिद्धास्पदा।

यशोवितानस्य गुणा गुणास्ते[1] दिशेभदन्त दृढकीलबद्धाः ।
त्रिवर्णशुद्धा मतिरस्य[2] गुप्त्यै कृतोज्ज्वला दण्डचतुष्टयी किम् ॥
॥ 235 ॥

अत्र दण्डचतुष्टयीकर्तृकवितानगुप्तेस्तत्फलत्वेन ।

उत्पत्य गगनं भानौ पतत्यनलचिन्तया ।
प्राप्तुं तवाननेनैक्यं किमिन्दुः प्रतिपर्वणि ॥ 236 ॥

अत्रानलनिपतनधियाऽध्यवसितस्येन्दुनिपातस्य नाननैक्यप्राप्तिः फलं तत्र फलत्वेनोत्प्रेक्षणमसिद्धास्पदम् ।

अत्र केचिद्वाच्यप्रतीयमानयोरुत्प्रेक्ष्यं जात्याद्यम् । तत्र वस्तुहेतुफलात्मकत्वं विना द्रव्यं भवतीति ।

तत्र जातिः—

[58 अ] पीताम्बरेण पवनप्रणत्तिAतेनाद्य गोपालः ।
प्रचलत्पताक इव किं विजयस्तम्भः स्मरस्य सखि ॥ 237 ॥

गुणः—

अलके[3] तिलके[4] निरीक्षिते[5] वचने चेतसि भाविता मुहुः ।
त्वयि वक्रिम[6]चातुरी परं सहजातेव सुखं निमीलति ॥ 238 ॥

क्रिया—

त्वत्प्रतापानलः शत्रूंनिधनीकृत्य नित्यशः ।
तद्यशः पारदं भस्मकरोतीवात्मतृप्तये ॥ 239 ॥

फुल्लं पद्ममिवाभाति वदनं तन्वि तावकम् ।
चञ्चरीक इवायं ते किं पतत्यालि कामुकः ॥ 240 ॥

---

1. हे राजन् ते गुणा *औदार्य्यधैर्य्यादयो यशश्चन्द्रोदयस्य गुणा रज्जुरूपा,
   * अदा ० (मू. पा. टि.)
2. अस्य यशोवितानस्य गुप्त्यै रक्षणाय (मू. पा. टि.)
3. कुटिलकचे (मू. पा. टि.)
4. तिलके ललाटे (मू.पा. टि.)
5. विलोकने (मू. पा. टि.)
6. वक्रिमत्वं गुणः (मू. पा. टि.)

अत्रैक व्यक्तित्वात् द्रव्यशब्दः ।

इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ 13.

तुम्हारे मुख की क़ान्ति प्राप्त करने की इच्छा करते हुए चन्द्रमा निरन्तर कमलों से विरोध रखता है । फिर भी उसके नेत्रों के अञ्जन (कज्जल) से समानता के लिये कलंकरूपी गुण की इच्छा उसके दोष के लिये ही हुई ॥ 234 ॥

मुखकान्ति की इच्छा वैर का कारण नहीं होती, वस्तुतः इस प्रकार की कामना का अभाव होने के कारण यह असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण है ।

हे राजन् ! तुम्हारी उदारता, धैर्य आदि गुण यशरूपी चंदोवे के रज्जुरूप हैं, जो दिशारूपी हाथी के दांतों की दृढ़ कील में बद्ध हैं (अर्थात् गुणों के कारण यश समस्त दिशाओं में व्याप्त है) । इस यश रूपी वितान की रक्षा के लिये त्रिवर्ग (प्रणव) से शुद्ध उज्ज्वल बुद्धि नियुक्त है, तब दण्डचतुष्टयी (चंदोवे के लिये प्रयुक्त चार डण्डे) का क्या प्रयोजन है ? ॥235 ॥

यहां दण्डचतुष्टयी के कर्त्ता वितान की रक्षा का उसके फलरूप में उत्प्रेक्षा किये जाने के कारण फलोत्प्रेक्षा है ।

प्रतिपर्व में चन्द्रमा क्या आसमान में उठकर सूर्य में, अपने आपको अग्नि में जलाने का ख्याल करता हुआ, जाकर गिरता है ? तो क्या उसका यह कार्य मुख से एकता प्राप्त करने के लिये है ? ॥236॥

यहां अग्नि में गिरने की बुद्धि से अध्यवसित चन्द्रमा के गिरने का एकत्व फल है और फलरूप में उत्प्रेक्षा किये जाने से असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है ।

यहां कुछ लोगों ने वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के दो भेद वाच्या और प्रतीयमाना उत्प्रेक्षाओं के जाति आदि बहुत से भेद किये हैं जिनमें से वस्तु, हेतु एवं फलात्मक उत्प्रेक्षा द्रव्य-रहित होती हैं ।

जाति को निमित्त बनाकर उत्प्रेक्षा का उदाहरण है—

हे सखि ! आज वायु से हिलाये जाते हुये पीताम्बर के कारण गोपाल क्या हिलती हुयी पताका वाले कामदेव के विजयस्तम्भ के समान है ॥ 237 ॥

गुण का उदाहरण जैसे—

कुटिल केश, ललाट, दृष्टि, वचन और चित्त में बार-बार भावित होने वाली तुम्हारी अत्यन्त वक्रता की मानो जन्मजात चातुरी सुख को छीन लेती है । ॥ 238 ॥

क्रिया का उदाहरण—

तुम्हारे प्रताप की अग्नि नित्य ही शत्रुओं को ईंधन बनाकर मानो अपनी तृप्ति के लिए उनके यशरूपी पारे को जलाकर राख कर देती है ॥ 239 ॥

हे कृशांगी ! तुम्हारा मुख प्रफुल्लित कमल की भाँति सुशोभित होता है। हे सखि ! यह कामुक क्या भौंरे के समान तुम पर गिर रहा है ॥ 240 ॥

यहाँ एक व्यक्तिरूप होने के कारण द्रव्यशब्द है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ है ॥ 13.

विषयस्य विषयिणा यन्निगरणमस्योक्तिरतिशयोक्तिः सा ॥ सू. 143 ॥

शक्यतावच्छेदरूपेणाऽन्यस्य बोधनमुक्तिः। उदाहरति—

कनकलता[1] मिलितो मे हरति तमालद्रुमस्तापम्।

अत्र तमालेन विषयिणा विषयस्य भगवतो निगरणम्।

इयं रूपकातिशयोक्तिरिति कुवलयानन्दे। यथा वा ममैव—

[2]बंधूककिंशुकसरोरुहपुष्पिताग्रा
सा केलिकाननमही कुसुमायुधस्य।
यस्यां सरस्तटमवाप्य नवालताऽन्या-
धत्ते फलोद्गममदः सुकृतेन यूनाम् ॥ 241 ॥

कुवलयानन्दे—

[58ब] समावद्धग्रासैरु ^ पवनचकोरैरनुसृतः
किरन् ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम्।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥ 242 ॥

अत्र प्रसिद्धचन्द्रात्कोयमिति भेदस्तत उत्कर्षश्च।

---

1. कनकलतात्वेन राधिकायास्तमालद्रुमत्वेन हरेरिति विषयस्य निगरणम् (मू. पा. टि.)

2. अत्र बंधूकादिविषयिणा अधरनासानेत्ररूपविषयस्य मध्यानायिकायाः सरस्तटमिति नाभेः फलोद्गमेन कुचस्य च निगरणम् (मू. पा. टि.)

काव्यप्रकाशे[1]—

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

[2]अण्णं[3] लडहत्तणअं[4] अण्णं[5] चिअ[6] कावि[7] वत्तणच्छाया ।
सामा सामण्णं[8] पजावइणो रेहिच्चिअण होइ ॥ 243 ॥

14. अतिशयोक्ति—

विषयी (उपमान) के द्वारा विषय (उपमेय) का जो निगरण होता है उसकी उक्ति ही अतिशयोक्ति है ॥ सू. 143 ॥

शक्यतावच्छेदरूप से अर्थात् अभिहित शब्दार्थ के असाधारण धर्मरूप से अन्य (अर्थ) का बोधन ही उक्ति है । उदाहरण—

कनकलता से मिला हुआ तमालवृक्ष मेरे ताप (दुःख) को दूर करता है ।

यहाँ (कनकलता रूप विषयी के द्वारा राधिका रूप विषय का तथा) तमाल-वृक्षरूप विषयी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण रूप विषय का निगरण किया गया है ।

"कुलवलयानन्द" में (इस प्रकार विषयी के द्वारा विषय का अध्यवसाय होने पर) उसे रूपकातिशयोक्ति कहा गया है ।

अथवा मेरा (हरिप्रसादरचित) ही उदाहरण जैसे—

बंधूकवृक्ष, किंशुक (ढाक का) वृक्ष और कमल के पुष्पों से युक्त अंगों वाली वह (युवती) कामदेव की क्रीड़ाकानन रूपी भूमि है, जिसमें सरोवर-तट को प्राप्त करके अन्य नवीन लता युवकों के अनुग्रह से इस फलोद्गम को धारण करती है ।

---

1. अतिशयोक्तेर्लक्षणमिति शेषः (मू. पा. टि.)
2. अन्यत् मनोज्ञत्वं अन्यदेव कापि वर्तनच्छाया ।
   श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥ इति संस्कृतम् ।
3. अन्यत् (मू. पा. टि.)
4. मनोज्ञत्वं (मू. पा. टि.)
5. अन्य (मू. पा. टि.)
6. देव (मू. पा. टि.)
7. कापि (मू. पा. टि.)
8. सामान्य प्रजापतेः समासमाना रेखैव न भवति (मू. पा. टि.)

(यहाँ बंधूकादि विषयी के द्वारा मध्यानायिका के अधर, नासिका और नेत्ररूप विषय का, सरोवर के तट द्वारा नाभि का तथा फलोद्गम द्वारा कुचों का निगरण किया गया है।) ॥ 241 ॥

"कुवलयानन्द" में (उदाहरण दिया गया है)—

("विद्धशालभञ्जिका" नाटिका में राजा विदूषक से नायिका के मुख की प्रशंसा करता हुआ कह रहा है–) लवलीलता के पके फल के समान श्वेत चाँदनी को अमृत का ग्रास समझकर उपवन के चकोरों द्वारा जिसका पान किया जा रहा है, इस प्रकार की श्वेत चांदनी बिखेरता हुआ परकोटे के अग्रभाग पर देखो और तनिक अनुमान लगाओ कि आकाश के बिना ही, हरिण-रहित (जिसमें हरिण का कलंक नहीं है ऐसा) यह कौन चन्द्रमा है। (उक्त पद्य में नायिकामुख रूप विषय का निगरण कर चन्द्रमा रूप विषयी के साथ उसका अध्यवसाय स्थापित किया गया है।) ॥ 242 ॥

यहाँ ("कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः" इस पद से इस चन्द्रमुख का) प्रसिद्ध चन्द्र से भेद एवं उत्कर्ष व्यञ्जित किया गया है।

"काव्यप्रकाश" में (अतिशयोक्ति का लक्षण दिया गया है)—

प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन, "यदि" के समानार्थक शब्द लगाकर कल्पना करना तथा कार्य-कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय (भी अतिशयोक्ति कहलाता है)।

क्रमशः अतिशयोक्ति के उदाहरण हैं—

हे देव ! (नायिका की) सुन्दरता कुछ और ही (लोकोत्तर) है, शरीर की कान्ति भी कुछ और ही है। वह श्यामा साधारण (सृष्टि-निर्माता) प्रजापति की तो रेखा (रचना) ही नहीं हो सकती ॥ 243 ॥

(यहाँ प्रस्तुत नायिका का वर्णन अन्य रूप में किया गया है।)

"यद्यर्थस्य" यदिशब्देन चेत्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनमर्थादसम्भाविनोऽर्थस्य यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥ 244 ॥

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वोक्तौ—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं[1] रमणीवल्लभ[2] लोचनविषयं त्वया भजता ॥[3] 245 ॥

अयोगे योगकल्पनायां तु सम्बन्धातिशयोक्तिः । यथा —

[59अ] कतिपयदिवसैः क्षयं प्रयायात् कनकगिरिः कृतवासरावसानः ।
इति मुदमुपयाति चक्रवाकी वितरणशालिनि वीररुद्रदेव[5] ॥ 246 ॥

कार्यस्य हेतुमात्रप्रसक्तौ चपलातिशयोक्तिः । यथा—

यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तान्च तन्वङ्ग्या ।
गलितानि पुरो वलयान्यपराणि तथैव दलितानि ॥ 247 ॥

कार्यकारणयोः सहत्वे अक्रमातिशयोक्तिः—

मुञ्चति मुञ्चति कोशं[6] भजति च भजति प्रकम्पमरिवर्गः ।
हम्मीरवीरखड्गे त्यजति त्यजति क्षमामाशु[7] ॥ 248 ॥

वेदे अतिशयोक्तिर्यथा—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायावि"ति । स्मृतौ च "या निशा सर्वभूतानामि"ति ।

इत्यतिशयोक्तिः ॥ 14.

"यद्यर्थ" के अर्थात् यदि शब्द के द्वारा अथवा (उसके समानार्थक) चेत् शब्द के द्वारा कथन करने में जो कल्पना अर्थात् असम्भव अर्थ की कल्पना (की जाये उस अतिशयोक्ति का उदाहरण) जैसे—

पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा का बिम्ब कलंकरहित हो तब उस (नायिका) का मुख (चन्द्रमा के सादृश्यरूप) पराभव को प्राप्त कर सकता है ॥ 244 ॥

---

1. पश्चात् (मू. पा. टि.)
2. हे (मू. पा. टि.)
3. मालतीमाधवे (मू. पा. टि.)
4. कुवलयानन्दे (मू. पा. टि.)
5. त्वपि (मू. पा. टि.)
6. कोशं खड्गपिधानं भाण्डागारं च प्रकम्पं खड्गचालनं शरीरकम्पनं च ((मू. पा. टि.)
7. खड्गे क्षमां शान्तिं त्यजति शत्यरिवर्गः क्षमां पृथ्वीं त्यजतीत्यर्थः (मू. पा. टि)

कारण की शीघ्रकारिता को कहने के लिये कार्य को पूर्व में कहा जाये (उस अतिशयोक्ति का उदाहरण "मालती-माधव" नाटक का है)—

हे रमणीवल्लभ (स्त्रियों के प्रिय नायक) ! पुष्परूपी धनुष और बाण वाले कामदेव ने मालती के हृदय पर पहिले ही अधिकार कर लिया और तुम दृष्टिगोचर होकर बाद में (उसके हृदय पर अधिकार कर पाये) ॥ 245 ॥

असम्बन्ध (अयोग) में सम्बन्ध (योग) की कल्पना सम्बन्धातिशयोक्ति कहलाती है। जैसे "कुवलयानन्द" में—

वीररुद्रदेव के दानशील होने पर चक्रवाकी इसलिए प्रसन्न हो रही है कि अब दिन का अन्त करने वाला स्वर्णपर्वत (मेरुपर्वत) कुछ ही दिनों में क्षीण हो जायेगा ॥ 246 ॥

(यहां "सूर्यास्त करने वाला मेरुपर्वत शीघ्र समाप्त हो जायेगा" इस सम्भावना के द्वारा प्रयुक्त चक्रवाकी के सन्तोष के असम्बन्ध में भी उसके सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।)

कार्य का हेतुमात्र प्रसक्त (प्राप्त) होने पर चपलातिशयोक्ति होती है, जैसे-

जाता हूँ, नहीं जाता हूँ, इस प्रकार पति के बोलने पर तन्वंगी के कंकण उसके सामने ही कलाई से गिर पड़ते हैं तथा दूसरे इसी प्रकार चटख जाते हैं ॥247॥

कार्य व कारण का सहत्व होने पर अक्रमातिशयोक्ति कहलाती है—

हम्मीरवीर की तलवार के म्यान छोड़ने पर शत्रुवर्ग कोश को छोड़ देते हैं, कंपन उत्पन्न करने पर शरीर में कंपन का अनुभव करते हैं और क्षमाभाव छोड़ने पर शीघ्र ही पृथ्वी छोड़ देते हैं ॥248॥

वेद में भी अतिशयोक्ति देखी जाती है. जैसे—"[1]द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि श्लोक में। स्मृति में भी अतिशयोक्ति पायी जाती है, जैसे—"[2]या निशा सर्वभूतानाम्" इत्यादि श्लोक में।

अतिशयोक्ति अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥14.

1, द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

2. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

नियतानां धर्मैक्यं कथितैषा तुल्ययोगिता कविभिः ।।सू.144।।

प्रकृतानामेव अप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादि रूपैकधर्मान्वय इत्यर्थः । औपम्यं चात्र गम्यं, तत्प्रयोजकसमानधर्मोपादानात् । एतेन सादृश्यं पादार्थान्तरं न साधारणोधर्मः । उदाहरति—

सङ्कुचति मानिनीनां मानो दिवसश्च हेमन्ते ।

अत्र प्रकृतायाः हेमन्तशीतभीतेर्दिवसमानिनीमानयोः सङ्कुचनैक- [59ब] क्रियान्वयः । यथा वा—

जहि रोषमकारणं प्रिये गदितैवं दयितेन भामिनी ।
अपि लोचनयोरपाकरोदुदकं सा मनसश्च कश्मलम् ।।249।।

अत्रापि अपाकरोदिति क्रिया ।

गुणरूपो यथा गङ्गाधरे—

न्यञ्चति वयसि प्रथमे समुदञ्चति किं च तरुणिमनि[1] सुदृशः ।
उल्लसति कापि शोभा वचसां च दृशां च विभ्रमाणां च ।।250।।

अप्रकृतानामेव यथा—

न्यञ्चति बाल्ये सुदृशः समुदञ्चति गण्डसीम्नि पाण्डिमनि ।
मालिन्यमाविरासीद्राकाधिपलवलिकनकानाम् ।।251।।

क्रियायाः साक्षाद्धर्मिण्यनन्वयाद्गुणः ।

"धवलीभवत्यनुदिनं लवलीकनकं कलानिधिश्चाय"मिति चेद्गुणविशिष्टा क्रिया ।

इति तुल्ययोगिता ।।15.

15. तुल्ययोगिता—

कवियों के द्वारा नियत (अर्थात् केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों) का एक धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित होने पर वह तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ।।सू 144।।

केवल प्रकृत का ही अथवा केवल अप्रकृत का ही गुणक्रिया आदि रूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध (ही तुल्ययोगिता है), यह अभिप्राय है । यहां (तुल्ययोगिता में) औपम्य (सादृश्य) गम्य होता है, क्योंकि उसका प्रयोजक (औपम्यनियामक)

---

1. तरुणत्वे (मु. पा. टि.)

साधारणधर्म यहाँ उपात्त रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि सादृश्य एक पृथक् पदार्थ है, साधारणधर्म नहीं। उदाहरण दिया जाता है—

हेमन्तऋतु में मानिनियों का मान और दिन संकुचित होता है।

यहाँ हेमन्त में शीतलता से संत्रस्त दिन और मानिनियों का मान, ये दोनों प्रकृत विषय ही "संकुचन" रूप एक क्रिया (साधारणधर्म) से अन्वित हैं। अथवा (दूसरा उदाहरण)—

प्रिये ! अकारण रोष छोड़ो, ऐसा पति के कहते ही उस पत्नी ने भी नेत्रों से अश्रुजल और मन से खिन्नता को दूर कर दिया ।।249।।

यहाँ भी "अपाकरोति" इस क्रिया (रूप एक धर्म से ही नेत्रों के अश्रु और मन की खिन्नता दोनों का कथन किया गया है)।

गुणरूप का उदाहरण जैसे "रसगङ्गाधर" में—

प्रथम वयस् (शैशवावस्था) के बीत जाने पर और तरुणावस्था के उदित होने पर सुन्दर नेत्रों वाली नायिका के वचन, नेत्र और विलासों की कोई और ही (अलौकिक) शोभा प्रस्फुटित होती है ।।150।।

केवल अप्रकृत पदार्थों का वर्णन होने पर (तुल्ययोगिता का उदाहरण) जैसे—

बाल्यावस्था व्यतीत होने पर सुन्दर नयनों वाली नायिका के कोमल कपोलों पर स्वच्छतातिशय समुदित हुआ। तब उसके सम्मुख पूर्णिमा के चन्द्र, लवली-नामक लता और स्वर्ण में मालिन्य आविर्भूत हो गया। (अर्थात् युवती के कपोल-तल की स्वच्छता की तुलना में ये सभी पदार्थ मलिन दिखने लगे ।।251।।

यहाँ आविर्भाव क्रिया का पूर्णिमाचन्द्र आदि धर्मी के साथ अन्वय नहीं होने से, केवल मालिन्यरूप गुण (समानधर्म) के साथ ही अन्वय होता है।

उक्त पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार कर दिया जाये कि "धवली भवत्यनुदिनं लवलीकनकं कलानिधिश्च"—अर्थात् लवलीलता, स्वर्ण और यह चन्द्रमा प्रदि-दिन धवल होते से प्रतीत होते हैं, तब यहाँ (धवलता गुण तथा भवति क्रिया रूप समानधर्म होने से) गुणविशिष्टा क्रिया होगी।

तुल्ययोगिता का प्रकरण समाप्त हुआ ।।15.

यत्र प्रकृतो धर्मः प्रसङ्गतोऽन्यं प्रकाशयति ।
दीप इव दीपकोऽयं प्राग्वद्गम्या भवेदुपमा ।।सू.145।।

उदाहरणं यथा—

सत्कविकविता माध्वी[1] मदनकला शशिरुचिश्च युवती च ।
मदयति कं न युवानं सुन्दरि सगुणेषु रज्यन्तम् ॥252॥

यथा वा गङ्गाधरे—

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकान्ते ।
सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री विधातृसृष्टौ नहि दृष्टपूर्वा ॥253॥

[60अ] अत्राऽभावः साधारणोधर्मः ^ । यथा वा—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥254॥

अनेकक्रियाणामेककारकान्वये कारकदीपकम् ॥सू.146॥

यथा—

वसु दातुं यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातुं च [2]सादृशान् राजन्नतीव निपुणो भवान् ॥255॥

अत्र दीनस्य वाक्ये दानत्राणक्रिययोः प्रकृतयोररिमर्दनस्याऽप्रकृतस्य उभयात्मनः यशोधानस्य साधारणं कर्तृकारकम् ।

अत्र विचार्यते तुल्ययोगितादीपकयोर्न भेदः [3]धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरभवात् । तत्तुल्ययोगिता द्विधा प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृद्वृत्तिर-प्रकृतानामेव प्रकृताप्रकृतानां चेति ।

यत्तु "आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी" त्यादि उत्तरो-त्तरं पूर्वपूर्वस्योपकारकतायां मालादीपकं तन्न सादृश्यगन्धाऽभावात् । तत्र त्वेकावली न दीपकमिति ।

इति दीपकालङ्कारः ॥16.

---

1. सुरा (मू. पा. टि.)
2. मद्०
3. पाण्डुलिपि में "धर्म" शब्द दो बार लिखा गया है ।

16. दीपक—

जहाँ प्रस्तुत के लिये कहा गया साधारणधर्म प्रसंगवश अन्य (अप्रस्तुत) को भी प्रकाशित करता है, वह "दीप" के समान दीपक अलङ्कार होता है। पूर्व (तुल्ययोगिता) के समान ही यहां औपम्य (सादृश्य) गम्य होता है। (अर्थात् जिस प्रकार दीप प्रकाशनार्थ अभीष्ट वस्तु के साथ अनभीष्ट समीपस्थ वस्तु को भी प्रकाशित करता है तत्सदृश ही यहाँ साधारणधर्म प्रकृत के साथ अप्रकृत को भी प्रकाशित करता है, उससे अन्वित होता है। अतः इसे दीप के समान कहा गया है।) ।।सू॰।145।

उदाहरण जैसे—

हे सुन्दरी ! श्रेष्ठ कवि की कविता, सुरा, कामकला, चाँदनी और युवती—सगुणों पर आसक्त रहने वाले किस युवक को मदोन्मत्त नहीं करती ? (यहाँ प्रस्तुत युवती तथा अप्रस्तुत कविता आदि के "मदयति" रूप का एक ही साधारणधर्म से अन्वय होने से दीपक अलङ्कार है। कविता आदि के समान युवती भी मदोन्मत्त करने वाली होती है, यह उपमा गम्य है) ।।252।।

अथवा जैसे "रसगङ्गाधर" में—

मृत-व्यक्ति की ग्रहण करने की इच्छा, कंजूस की दानेच्छा, परपुरुषगामिनी स्त्री की अपने पति में रुचि, सांप की शान्ति और कुटिल की मैत्री विधाता की सृष्टि में आज तक कभी नहीं देखी गयी ।।253।।

यहाँ अभाव साधारणधर्म है। (कुटिला नायिका की स्वपतिगत प्रीतिरूप प्रस्तुत तथा मृतव्यक्ति की लिप्सा आदि अप्रस्तुत वस्तु का पूर्वकालिक दर्शन अभावरूप का एक साधारणधर्म के साथ अन्वय होने से दीपक अलंकार है।) अथवा (भर्तृहरि विरचित) दूसरा उदाहरण—

सान पर घिसी हुई मणि, तलवार से आहत युद्धविजयी, मदक्षीण सर्प, शरद् ऋतु में सूखे किनारे वाली नदियाँ, कलासम्पूर्ण चन्द्रमा, सुरतमृदिता बालवनिता और याचकों में समस्त वैभवों से वंचित राजा—ये तनुता (कृशता) से सुशोभित होते हैं ।। 254 ।।

(यहाँ याचकों में समस्त वैभव देने से वैभवरहित राजा प्रस्तुत है, शाणोल्लीढ मणि आदि अप्रस्तुत हैं, इनको "शोभन्ते" रूप एक ही साधारणधर्म से अन्वित किये जाने के कारण दीपक अलंकार है।)

अनेक क्रियाओं का एक कारक के साथ अन्वय होने पर कारकदीपक होता है ।। सू. 146 ।।

यथा—

हे राजन् ! धन का दान करने, यश को धारण करने, शत्रु का दमन करने और सदृश व्यक्तियों की रक्षा करने में आप अतिनिपुण हैं ।। 255 ।।

यहां दीन के वचन में धन–दान और स्वकीय-त्राण, इन दो प्रस्तुत क्रियाओं का, अरिमर्दनरूप अप्रस्तुत क्रियां का और यशधारण रूप प्रस्तुताप्रस्तुतरूप उभयात्मक क्रिया का "भवान्" इस एक कर्ताकारक के साथ अन्वय होने से कारक-दीपक अलंकार है ।

यहां विचार किया जाता है कि तुल्ययोगिता और दीपक में भेद नहीं है क्योंकि साधारणधर्म का एक बार उपादान होने पर उससे उत्पन्न विच्छित्ति-चमत्कार का अभाव होता है । वह तुल्ययोगिता दो प्रकार की होती है—केवल प्रस्तुत का ही एक धर्म से वर्णन होन पर तथा केवल अप्रस्तुत का ही एक धर्म से वर्णन होने पर और दीपक में धर्मी प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों रहते हैं (अतः दोनों में भेद स्पष्ट हो जाता है) ।

जो "[1]आस्वादेन रसः रसेन कविता काव्येन वाणी" इत्यादि पद्य "रस-गंगाधर" में मालादीपक के उदाहरणरूप में दिया गया है और पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर की उपकारक हो तो मालादीपक होता है, यह कथन भी उपयुक्त नहीं है । ऐसे स्थलों पर सादृश्य का सम्बन्ध नहीं होता । वहां एकावली अलङ्कार होता है, दीपक अलङ्कार नहीं ।

दीपक अलङ्कार का प्रसंग समाप्त हुआ ।। 16.

यत्र इह साधारणधर्मो वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नः वाक्यार्थयोस्तदार्थिक-
[60 व] मौपम्यमियं भवेदुपमा इयं प्रतिवस्तूपमा ।। सू. 147 ।।

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यमिति संक्षेपः । यथा—

---

1. आस्वादेन रसो रसेन कविता काव्येन वाणी तया
   लोकान्तःकरणानुरागरसिकः सभ्यः सभा चामुना ।
   दारिद्र्यानलदह्यमानजगतीपीयूषधाराधर ।
   क्षोणीनाथ ! तया भवांश्च भवता भूमण्डलं भासते ।।

   —रस०–3, पृ. 75.

आपद्गतोऽपि साधुर्निजगुणमत्युज्ज्वलं तनुते ।
क्षलनज्वालाकवलितमपि कनकं कान्तिमावहति ॥ 256 ॥

यथा वा गङ्गाधरे—

[1]वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः ।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥ 257 ॥

[2]इति पूर्वत्र साधर्म्येण इह तु वैधर्म्येणापीति विशेषः ।
काव्यप्रकाशे तु माला प्रतिवस्तूपमाप्युक्ता यथा—

[3]यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरव[4]मद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ 258 ॥

इति प्रतिवस्तूपमा ॥ 17.

बिम्बप्रतिबिम्बत्वे धर्मस्य तथोपमानानां
दृष्टान्तालङ्कारं कथयन्ति पुराविदः कवयः ॥ सू. 148 ॥

प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां सामान्यधर्मस्य च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावत्वे दृष्टान्तः । उदाहरणं यथा—

[61अ] अनपेक्षितोपकारं परहितमेवातनोति साधुजनः ।
केनोक्तोऽविधुरुच्चैः कुवलयवलयं [5]विकाशयति ॥ 259 ॥

अत्र हितविकाशयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः ।

प्रतिवस्तूपमायां शुद्धसामान्यात्मना धर्म इह तु प्रतिबिम्बित इति भेदः ।

विमर्शिनीकारस्तु—प्रतिवस्तूपमायां प्रकृतार्थसादृश्यप्रतिपत्तये अप्रकृतार्थोपादानम् । इह तु प्रकृतार्थप्रतीतेर्विशदीकरणार्थमेव न सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थमिति भेद इत्याह ।

---

1. देश०
2. पाण्डुलिपि में सन्धि करके "महिमानमिति" लिखा है ।
3. पाण्डुलिपि में 'यदिह' पाठ है ।
4. गुरुत्वम् (मू. पा. टि.)
5. प्रका०

अयं वैधर्म्येणाऽपि दृश्यते । यथा—

तावन्मनसिदैदुःखं मनसि, न यावत्कटाक्षितं सुतनोः ।
उदयति शशिनि कुमुदिनीकोटरतमसां क्व संस्थानम् ॥ 260 ॥

अत्रावस्थानाऽनवस्थानयोर्वैधर्म्येण विम्वप्रतिविम्बभावः । इति दृष्टान्तः ॥ 18.

17. प्रतिवस्तूपमा—

यहाँ वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से संयुक्त वहुत से साधारणधर्म होते हैं । दो वाक्यों में उनके अर्थों में सादृश्य हो इस प्रकार उपमा होनी चाहिये तव प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है ॥ सू. 147 ॥

संक्षेप में कहते हैं—वस्तु–प्रतिवस्तुभाव से संयुक्त साधारण तथा दो वाक्यार्थों में अर्थगत औपम्य हो तो प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है । जैसे—

सज्जनपुरुष विपत्तिग्रस्त होने पर भी अपने उज्ज्वल गुणों का विस्तार करते हैं । पिघला देने वाली ज्वाला से ग्रसित होने पर भी स्वर्ण कान्ति को धारण करता है ॥ 256 ॥

(यहाँ "तनुते" और आवहति" दोनों साधारणधर्म वस्तु–प्रतिवस्तुभाव से संयुक्त हैं । विपत्तिग्रस्त सज्जन पुरुष उसी गुणों को धारण करता है जिस तरह अग्निग्रस्त स्वर्ण और भी अधिक कान्ति धारण करता है, इस रूप में दोनों वाक्यों में सादृश्य गम्य है ।)

अथवा "रसगङ्गाधर" का उदाहरण—

देश में उत्पन्न पुरुष गुण-युक्त होने पर भी विशिष्ट महापुरुष के सम्पर्क से ही पूजे जाते हैं । तुम्बी से हीन होकर वीणा का दण्ड महत्त्व नहीं प्राप्त कर पाता ॥ 257 ॥

(यहाँ पूजा और महत्त्व-प्राप्ति रूप साधारणधर्म में वस्तु-प्रतिवस्तूपमा है । जिस प्रकार तुम्बीविहीन दण्ड महत्त्व प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार संगविहीन पुरुष पूज्य नहीं होते, दोनों वाक्यों में यह साम्य गम्य है ।)

(यहाँ पूर्वश्लोक ("आपद्गतोऽपि") में साधर्म्य से तथा वाद वाले श्लोक ("वंशभवो") में वैधर्म्य (निषेध) से उपमा ज्ञात होती है ।

"काव्यप्रकाश" में माला प्रतिवस्तूपमा भी कही गयी है, जैसे—

यदि अग्नि जलती है तो इसमें क्या अद्भुत है? यदि पर्वत में गौरव (भारीपन) है तो उससे क्या हुआ? सागर का जल सदैव खारा होता है। दुःखी नहीं होना, यह सज्जनों का स्वभाव ही है ॥ 258 ॥

प्रतिवस्तूपमा का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 17.

18. दृष्टान्त—

साधारणधर्म के समान ही उपमान आदि (उपमान, उपमेय और उनके विशेषण) का भी विम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर पूर्ववर्ती आचार्य दृष्टान्त अलंकार कहते हैं ॥ सू. 148 ॥

उक्त दो वाक्यों के अर्थों के अवयवभूत उपमान, उपमेय, साधारणधर्म आदि के विम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त होने पर दृष्टान्त होता है। उदाहरण, जैसे—

सज्जनपुरुष उपकार की अपेक्षा के बिना ही दूसरे का हित करते रहते हैं। किसके कहने से चन्द्रमा अपनी किरणों से कुवलय-वलय को विकसित करता है ॥ 259 ॥

यहाँ हित और विकास में विम्बप्रतिबिम्बभाव है।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार में साधारणधर्म शुद्ध सामान्य अर्थात् वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न रहता है, किन्तु दृष्टान्त में वह साधारण धर्म भी विम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त रहता है, यही इन दोनों में भेद है।

विमर्शिनीकार ("अलङ्कारसर्वस्व" पर विमर्शिनी नामक टीका लिखने वाले विद्वान्) का कहना है कि प्रतिवस्तूपमा में प्रस्तुत अर्थ के सादृश्य की प्रतीति कराने के लिये अप्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। यहाँ (दृष्टान्त) में (अप्रस्तुत अर्थ का ग्रहण) प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में एक प्रकार की स्पष्टता लाने के लिये ही किया जाता है, सादृश्य-प्रतीति के लिये नहीं, यही इन दोनों में भेद है।

यह दृष्टान्त अलङ्कार वैधर्म्य द्वारा भी देखा जाता है, जैसे—

जब तक कोमलाङ्गी के कटाक्ष नहीं चलते हैं, तब तक मनसिज (काम) का दुःख मन में होता है, चन्द्रमा के उदित होने पर कुमुदिनी के भीतर अन्धकार का स्थान कहाँ रहेगा? ॥ 260 ॥

यहाँ कटाक्षित रूप स्थिति तथा अन्धकार के अभाव का वैधर्म्य से विम्बप्रतिबिम्बभाव है।

दृष्टान्त अलङ्कार समाप्त हुआ ॥ 18.

तुल्यवाक्यार्थयोरार्थोऽभेदो य उपमाश्रयः ।
सा वाक्यार्थे पदार्थेऽपि कैश्चिदुक्ता निदर्शना ।।सू. 149 ।।

तुल्यत्वमर्थयोरुपात्तत्वे प्रयोजकं एतेनातिशयोक्त्यादौ नातिव्याप्तिः । वाच्यरूपकवारणाय आर्थं इति । प्राथमिकान्वयबोधाऽविषयत्वं आर्थत्वम् । उदाहरणम्—

हृदि सन्तमनन्त[1] येऽपरैरमरैस्त्वां तुलयन्ति सन्ततम् ।
दिवि ते दिननायकं न किं सममिच्छन्ति खगैरनुज्ज्वलैः ।।261।।

यथा वा शूली—

[61व] त्वामन्तरात्मनि ल Λ सन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त मदनान्तक[2] शोधयन्तः ।
विस्मृत्य कण्ठतटमध्यपरिस्फुरन्तं
चिन्तामणिं क्षितिरजःसु[3] गवेषयन्ति ।।262।।

पूर्वस्मिन्[4] भिन्नवाक्ये इह त्वेकवाक्ये इति भेदः । अत्र प्रकृतकधर्मगतत्वेन विशिष्टार्थयोरार्थभेदेन वाक्यार्थनिदर्शना ।

पदार्थनिदर्शना यथा—

वृषभासनकमलासनगरुडासनकांक्षितप्रसरम् ।
क्षीराब्धिलहरिलीलाललितं तव वीक्षितं जयति ।।263।।

अत्र लहरिलीलावीक्षितयोः[5] सादृश्यमूलस्ताद्रूप्याभिमानः । यथा वा गङ्गाधरे—

पाणौ कृतः पाणिरिलासुतायाः
सस्वेदकम्पो रघुनन्दनेन ।
हिमाम्बुमन्दानिलविह्वलस्य
प्रभातपद्मस्य बभार शोभाम् ।।264।।

---

1. हे (मू. पा. टि.)
2. हे शिव (मू. पा. टि.)
3. ०रजांसि
4. हृदिसन्तमित्यत्र (मू. पा. टि.)
5. ०वीक्षतयोः

उपमानोपमेययोरन्यतरधर्मस्यान्यतरत्रारोप इति भावः । न चोभयत्र रूपकध्वनिना[1] निगीर्य्याध्यवसानरूपयातिशयोक्त्या च गतार्थतेति वाच्यम् । रूपकस्य गुणीभूतत्वेनाऽयोगात्, उपमेयगतोपमानाभेदस्य तत् [62अ] शरीरत्वेन परस्पराभेदस्योभयत्र विश्रा ʌ न्तिशरीराया वाक्यार्थ-निदर्शनायाश्च भेदात् निगरणाऽनिगरणाभ्यां चातिशयोक्तेः पदार्थनिदर्शनाया भिन्नत्वात् ।

"सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानमौपम्यं निदर्शने"ति कश्चित्तन्न रूपकातिशयोक्त्यादाव [ति] व्याप्तेः ।

इति निदर्शना ।।19.

19. निदर्शना—

समान दो वाक्यार्थों की अर्थ से ज्ञात होने वाली अभिन्नता जो उपमाश्रित है (सादृश्य में जिसका पर्यवसान होता है) वह किन्हीं (विद्वानों) द्वारा निदर्शना कही गयी है । वह (निदर्शना) वाक्यार्थ में अथवा पदार्थों में भी होती है ।।सू.149।।

तुल्यता (सादृश्य) अर्थ से उपात्त हो, यही प्रयोजक है, इस बात से अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों में अतिव्याप्ति नहीं होती है । वाच्यरूपक से अलग करने के लिए "आर्थ" (अर्थ से ज्ञात होने वाला) यह कहा गया है । "आर्थ" का अभिप्राय है कि प्रथम बोध में जो अन्वयबोध का विषय नहीं हो (अर्थात् प्रथम शाब्दबोध में भेद प्रतीत हो, बाद में अर्थानुसन्धान के बल से अभेद भासित हो) ।

निदर्शना का उदाहरण जैसे—

हे अनन्त शिव ! जो लोग हृदय में निरन्तर रहने वाले तुम्हारी तुलना अन्य देवताओं से करते हैं, वे आकाश में सूर्य को अनुज्ज्वल नक्षत्रों के समान क्यों नहीं मानते । (शिव को अन्य देवताओं के समान मानना सूर्य को अन्य नक्षत्रों के समान मानना है । यह अभेद-बोध अर्थतः ही होता है, अतः यहाँ निदर्शना है ।)।।261।।

अथवा जैसे "शूली" (रसगङ्गाधरकार) द्वारा दिया गया उदाहरण—

---

1. वाक्यनिदर्शनायारूपकध्वनिना गतार्थत्वं पदनिदर्शनाया अतिशयोक्त्या-गतार्थत्वं न वाच्यम् (मू. पा. टि.)

हे मदनान्तक (कामदेव का अन्त करने वाले) शिव ! अनन्त (अन्तहीन) और अन्तरात्मा में सुशोभित होने वाले (निवास करने वाले) आपको तीर्थों में ढूंढते हुए (अज्ञानी जन) कण्ठतट के मध्य चमकने वाली चिन्तामणि को भूलकर पृथ्वी की धूल में ढूंढते हैं। (शिव का अन्यत्र अन्वेषण करना कण्ठस्थित चिन्तामणि का धूल में अन्वेषण करने के समान है, इस सादृश्य से ही दोनों वाक्यों की अभिन्नता ज्ञात होती है।) ॥262॥

पूर्व "हृदिसन्तम्" इत्यादि पद्य में अभेद भिन्नवाक्यगत (दो वाक्यों में) है और "त्वामन्तरात्मनि" इत्यादि पद्य में अभेद एक वाक्यगत है। यहाँ उक्त एक साधारणधर्मता के द्वारा विशिष्टार्थ का अर्थतः भेद होने से वाक्यार्थ निदर्शना है।

पदार्थनिदर्शना जैसे—

वृषभासन (बैल पर आरूढ अर्थात् शिव), कमलासन (कमल पर स्थित अर्थात् ब्रह्मा), गरुडासन (गरुड पर आसीन अर्थात् विष्णु) इन तीनों के द्वारा जिसके प्रसार (दृष्टि प्रसार) की आकांक्षा की जाती है, (अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिसकी बहुत अधिक आकांक्षा करते हैं) ऐसी क्षीरसागर की लहरों की क्रीडा के समान सुन्दर आपकी दृष्टि की जय हो ॥263॥

यहाँ "लहरियों की लीला" और (शिव की) दृष्टि के सादृश्यमूलक ताद्रूप्य का स्थापन (अभिमान) किया गया है।

अथवा जैसे "रसगङ्गाधर" में दिया गया उदाहरण—

रघुनन्दन (रामचन्द्रजी) के द्वारा अपने हाथ में लिए गये, स्वेद और कम्पन से युक्त पृथ्वीपुत्री (सीता) के हाथ ने पाले के जल और मन्द हवा से व्याकुल प्रातःकालीन कमल की शोभा को धारण किया ॥264॥

उपमान और उपमेय में किसी एक धर्म का दूसरे में आरोप होना यही भाव (अर्थात् निदर्शना कही जाती) है। दोनों (वाक्यार्थ तथा पदार्थ निदर्शना) में ही वाक्यार्थनिदर्शना रूपकध्वनि से गतार्थ नहीं है और पदार्थनिदर्शना को निगरणपूर्वक अतिशयोक्ति से गतार्थ नहीं कहना चाहिये। रूपक में व्यंग्य गुणीभूत होने से ध्वनि नहीं है, उपमेय में उपमान का अभेद होने से रूपक का, तथा (निदर्शना में उपमान का उपमेय में तथा उपमेय का उपमान में अभेद प्रतीत होता है अतः) उभयविश्रान्त अभेदरूपा वाक्यार्थनिदर्शना का स्वरूप से ही परस्पर भेद होने से

(दोनों अलग-अलग हैं) । रूपक-ध्वनि तथा अतिशयोक्ति में निगरण-अनिगरण का भेद है, वस्तुतः अतिशयोक्ति में भी उपमेय में उपमान का अभेद होता है । अतः उसी प्रकार अतिशयोक्ति और पदार्थनिदर्शना भिन्न-भिन्न हैं ।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने निदर्शना का लक्षण दिया है, कि–स्वतःसम्भवी अथवा कवि-कल्पित वस्तु–सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले औपम्य का नाम निदर्शना है । यह उचित नहीं है, क्योंकि यह लक्षण रूपक और अतिशयोक्ति आदि में अतिव्याप्त हो जाता है ।

निदर्शना अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ।।19.

उपमानादुत्कर्षो गुणवत्त्वेनैव वर्ण्य [विषय] स्य व्यतिरेको ।।सू.150।।

निशि सुप्तं न पद्मनिशप्रबुद्धमुखतुल्यम् ।

उपमानादुपमेयोत्कर्षो व्यतिरेक इति भावः । आधिक्यमात्रं व्यतिरेक इति मम्मटभट्टाः । यथा वा—

कटु जल्पति कश्चिदल्पवेदी यदि चेदीदृशमत्र किं विदध्मः ।
कथमिन्दुरिवाननं त्वदीयं सकलङ्कः स[1] कलङ्कहीनमेतत् ।।265।।

अत्राऽयमभिप्रायः उपमेयोत्कर्षकोपमानापकर्षकयोर्वैधर्म्ययोर्द्वयोरप्युपादानं अनुपादानं एकतरानुपादानं[2]चेति व्यतिरेकस्य चत्वारो भेदाः । तत्रोपमायाः श्रुत्यर्थाक्षेपयोगेन द्वादश तत्रापि श्लेषस्य योगायोगाभ्यां [62ब] चतुर्विंशतिभेदाः सर्वे चोपमाभेदाः संभ ∧ वन्ति ।

कटु जल्पतीति गङ्गाधरोदाहरणे उभयोरुपादानं श्रौत्युपमा[3] ।

शशिना तुल्यं वदनं यदि कथयति कोऽपि तत्र किं ब्रूमः ।
अक्षयकलाभिरामं क्षीणकलेनेन्दुना समं हि कुतः ।।266।।

अत्रार्थी[4] ।

परिमिततरुसुरवाटीपरिपाटीं हसति काननं कुसुमैः ।
अमिततरुतरलपल्लववलयं तव वल्लवाधिपते ।।267।।[5]

---

1. स इन्दुः सकलङ्कः आननं तु कलङ्कहीनम् (मू. पा. टि.)
2. उपमेयोत्कर्षकानुपादानम् उपमानापकर्षकानुपादानमेवं द्वयम् (मू.पा.टि.)
3. इव शब्दोपादानात् (मू. पा. टि.)
4. तुल्यपदोपादानात् (मू. पा. टि.)
5. वल्लवानां गोपानामाधिपते हे हरे (मू.पा.टि.)

अत्र हसतीति श्रुत्यर्थमार्गोल्लंघिन्युपमाक्षिप्तव ।

20. व्यतिरेक—

गुण-विशेष से संयुक्त रहने के कारण ही उपमान से वर्ण्य-विषय (उपमेय) का उत्कर्ष व्यतिरेक अलङ्कार होता है ।।सू.150।।

जैसे–रात्रि में प्रसुप्त (बन्द) कमल दिन-रात प्रबुद्ध मुख के समान नहीं है ।

उपमान से उपमेय का उत्कर्ष व्यतिरेक होता है, यही अभिप्राय है । व्यतिरेक का अभिप्राय है (विशेषेण अतिरेकः व्यतिरेकः) आधिक्यमात्र, यह मम्मट-भट्ट का कथन है ।

अथवा अन्य उदाहरण—

(नायिका के प्रति नायक की उक्ति–) यदि (तेरा मुख चन्द्रमा के समान है) इस प्रकार के कटुवचन कोई अल्पज्ञ व्यक्ति कहता है, तो इसमें हम क्या करें ? तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान किस प्रकार हो सकता है ? वह चन्द्रमा तो कलंकयुक्त है लेकिन तुम्हारा मुख कलंकहीन है ।। 265 ।।

यहां यह अभिप्राय है कि व्यतिरेक अलङ्कार के चार भेद हो जाते हैं— (1) उपमेय के उत्कर्षक तथा उपमान के अपकर्षक, इन दोनों वैधर्म्यों का शब्दतः कथन होने पर, (2) दोनों वैधर्म्यों का शब्दतः कथन नहीं होने पर, (3) उपमेय के उत्कर्ष का कथन नहीं होने पर और (4) उपमान के अपकर्षक का कथन नहीं होने पर । इन चारों प्रकारों के उपमा के श्रौती, आर्थी और आक्षिप्ता, इन तीनों भेदों के द्वारा बारह भेद हो जाते हैं । इन बारह प्रकारों के भी श्लेष का प्रयोग तथा श्लेप-विहीन होने पर चौबीस भेद हो जाते हैं और उपमा के सभी भेद सम्भव हो सकते हैं ।

"रसगङ्गाधर" के "कटु जल्पति." इस उदाहरण में (निष्कलङ्करूप उपमेयोत्कर्षक तथा सकलङ्क रूप उपमानोत्कर्षक, इन दोनों वैधर्म्यों का शब्दतः कथन होने से व्यतिरेक का) उभयोपादानम् भेद है और "इव" शब्द के रहने से श्रौती उपमा है ।

(दूसरा उदाहरण है–) तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान है, इस प्रकार के वचन यदि कोई कहता है तो हम क्या कहें ? क्योंकि निरन्तर क्षीण न होने वाली कलाओं से सुन्दर (मुख) तथा क्षीणकलाओं वाले चन्द्रमा की समानता कैसे हो सकती है ? ।। 266 ।।

यहाँ "तुल्य" शब्द का प्रयोग होने से आर्थी उपमा है।

हे गोपों के अधिपति श्रीकृष्ण! तुम्हारे अनेक वृक्षों के हिलते हुए पल्लवों से युक्त कंकण के कारण, कानन (वन) सीमित वृक्षों वाले देवउद्यान की व्यवस्था (क्रम) पर हँसते हैं ॥ 267 ॥

यहाँ "हसति"—इस पद में श्रौती एवं आर्थी के मार्ग का उल्लंघन करने के कारण "आक्षिप्ता" उपमा ही है।

अत्रैव क्वचिच्छाब्दसादृश्यनिषेधाक्षिप्तावुपमेयोत्कर्षोपमानापकर्षौ, क्वचिच्च शाब्देनोपमेयोत्कर्षेणाक्षिप्तौ उपमानापकर्षसादृश्याऽभावौ, क्वचिच्चोपमानापकर्षेणाक्षिप्तौ उपमेयोत्कर्षतदभावौ, क्वचिच्च त्रितयमप्याक्षिप्तमेव।[1] यथा—

अपारे खलु संसारे विधिनैकोऽर्जुनः कृतः।
कीर्त्या निर्मलया भूप त्वया सर्वेऽर्जुनाः कृताः ॥ 268 ॥

यत्तु कुवलयानन्दकृतोदाहृतम्—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
[63अ] सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृ^तः ॥ 269 ॥

अत्र सशोकत्वेनाऽशोकापेक्षयाऽपकर्षः पर्यवस्यतीति, तदेतदपास्तमाधिक्यमात्रं व्यतिरेक इति काव्यप्रकाशकारोक्त्यैव सादृश्यदूरीकरणे ध्वनिकृता[2] चाऽस्योदाहृत्वाच्च।

[3]यद्यप्यनुभयपर्यवसायित्वे व्यतिरेकस्योदाहरणम्—

दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोषनिष[ण्]णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेद[:] ॥ 270 ॥ इति।

तदपि न तथा हृद्यम्। उत्कर्षकधर्मानुपस्थितेरुपमानादुत्कर्षरूपस्याऽभावात् अपकर्षरूपस्योक्तिमात्रेणाप्यसङ्गतेरहृद्यत्वाच्च। तस्माद्विशेषण-

1. ० क्षप्तमेव
2. आनन्दवर्द्धनेन (मू. पा. टि.)
3. यद्यप्यनुभवप ०

साम्यात् कृपणकृपाणयोस्तुल्यतैवाकारभेदत्वादक्षरभेदो न विरुद्ध इति गम्योपमैव न व्यतिरेक इति ।

उदाहरणान्तरं तु प्रकाश एवावलोकनीयम् । उभयानुपादाने भेदत्रयं तु दुरुपपा [दा] द् हीदमित्यप्यवधेयम् ।

इति व्यतिरेक: ।। 20.

यहीं (व्यतिरेक अलङ्कार में) कहीं पर सादृश्य का निषेध शब्द से वर्णित होता है और उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष आक्षिप्त होते हैं । और कहीं पर उपमेय का उत्कर्ष शब्द के द्वारा कहा जाता है और उपमान का अपकर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त होता है और कहीं पर उपमान के अपकर्ष का कथन होता है और उपमेय का उत्कर्ष तथा सादृश्य का अभाव आक्षिप्त होता है और कहीं पर तीनों आक्षिप्त होते हैं । यथा—

हे राजन् ! अपार संसार में विधाता ने एक ही अर्जुन (नामक व्यक्ति) बनाया है, पर तुमने अपनी निर्मल कीर्ति से सबको अर्जुन (धवल, उज्ज्वल) कर दिया ।। 268 ।।

कुवलयानन्दकुमार अप्पय दीक्षित ने उदाहरण दिया है—

(अशोक वृक्ष के प्रति किसी विरही की उक्ति–) हे अशोक ! तुम नवीन पल्लवों से रक्त (रक्तिम) हो और मैं भी प्रिया के प्रशस्त गुणों में रक्त (अनुरक्त) हूँ । हे सखे ! तुम पर शिलीमुख (भ्रमर) आते हैं और मेरे पास भी कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आते हैं । सुन्दरी स्त्री के पदतल का आघात तुम्हारी प्रसन्नता का कारण होता है और उसी के समान मेरी भी (प्रसन्नता का कारण होता है) । इस प्रकार हम दोनों के सब कुछ समान है । केवल विधाता के द्वारा मुझे सशोक (शोकयुक्त) बनाया गया है । (अर्थात् सभी समान होने पर भी तुम अशोक हो, मैं सशोक हूँ ।) ।। 269 ।।

यहाँ "सशोक" पद के द्वारा उपमान अशोक से (उपमेय विरही का) अपकर्ष पर्यवसित होता है । पर काव्यप्रकाशकार ने कहा है कि ("उपमान से उपमेय का) आधिक्यमात्र व्यतिरेक है", इस उक्ति के द्वारा ("कुवलयानन्द" में दिया गया "रक्तस्त्वं" इत्यादि) यह उदाहरण अनुचित सिद्ध हो जाता है (क्योंकि इस पद्य में उपमेय का न्यूनत्व वर्णित किया गया है) । और ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने सादृश्य के दूरीकरण में "रक्तस्त्वम्" इत्यादि पद्य उदाहृत किया है ।

यद्यपि कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अनुनयपर्यवसायी व्यतिरेक अलङ्कार का उदाहरण दिया है—

कृपण (कंजूस व्यक्ति) तथा कृपाण (तलवार) में केवल आकार से ("आ" की मात्रा से, स्वरूप से) भेद है। कृपण दृढ़तरनिबद्धमुष्टि (दृढ़ता से मुट्ठी बाँधने वाला अर्थात् पैसा न छोड़ने वाला) होता है और कृपाण भी दृढ़तरनिबद्ध-मुष्टि (जिसकी मूंठ बहुत मजबूत बँधी हुई होती है ऐसा) है। कृपण कोषनिषण्ण (खजाने पर बैठा हुआ) होता है और कृपाण भी कोषनिषण्ण (म्यान में स्थित) होता है। कृपण सहज मलिन (स्वभावतः मलिन वेष वाला) होता है और कृपाण भी सहज मलिन (काले रंग का) होता है ॥ 270 ॥

यह भी इसी प्रकार उचित नहीं है। उत्कर्षक धर्म की उपस्थिति नहीं होने से उपमान से उत्कर्षरूप व्यतिरेक यहाँ नहीं हो सकता। उपमान से अपकर्षरूप व्यतिरेक भी यहाँ नहीं है क्योंकि शब्दमात्र में भी (ह्रस्वमात्रा वाला उत्कर्ष और दीर्घमात्रा वाला अपकर्ष होने से) असंगति है। और यह अपकर्ष वाला भेद सुन्दर भी नहीं है। "दृढ़तरनिबद्धमुष्टि" आदि विशेषण दोनों में समान होने से कृपण और कृपाण में समता ही है। आकार (आकृति) का भेद होने से अक्षर का भेद भी विरुद्ध (केवल उपमेय का उत्कर्षक) नहीं होता, अतः यह उपमागम्य ही है, व्यतिरेक नहीं।

व्यतिरेक का अन्य उदाहरण "काव्यप्रकाश" में ही देख लेना चाहिये। उभय के अनुपादान के जो तीन भेद होते हैं, उनके (उदाहरणों) की दुर्लभता है। यह ध्यान में रखना चाहिये।

व्यतिरेक अलङ्कार समाप्त हुआ ॥ 20.

गौणप्रधानभावाच्छिन्नसहार्थसंबंध : ॥ सू. 151 ॥
प्राणैः समं रिपूणां जीवा चकृषे[1] **सहोक्तिरियम्** ॥

[63ब] एकार्थाभिधायक ∧ त्वेपि सहार्थबलादुभयावगमकत्वमिति भट्टाः। यथा वा—

भाग्येन सह रिपूणामुत्तिष्ठसि विष्टरात् क्रुधाविष्टः।
सहसैव पतसि तेषु क्षितिशासन[2] मृत्युना साकम् ॥ 271 ॥

पूर्वं तु कर्मणः, इह तु कर्त्तुरिति भेदः। अत्रोभयत्रापि तृतीया-प्रयुक्तो गुणभावः। प्राधान्येन क्रियान्वये तुल्ययोगिता दीपकं वा।

---

1. त्वयेति शेषः (मू. पा. टि.)
2. हे (मू. पा. टि.)

सहार्थप्रयोगे तु सत्या, वृद्धो यूनेति तृतीया साम्राज्यभावात् । अतिशयो-क्त्या चास्यापि चमत्कारित्वमन्यथा पुत्रेण सहागतः पितेत्यादौ नालङ्कारः ।
इति सहोक्तिः ॥ 21.

यदनन्वयवचनं विनोक्तिरिति निरुक्तमन्वये ॥ सू. 152 ॥

एवं स्वलङ्कारताप्यङ्गतो लक्षणम् । उदाहरणम्—

न विना भीमसेनवरं विभाति धर्मात्मजोऽर्जुनम् ।

अत्र भीमसेनस्याविनाभावेऽपि विनाभावो[1] निबद्धः ।

रमणीयेऽरमणीये विनार्थसम्बन्धतो विनोक्तिरिह[2] ।
[3]मालिन्यतान्यसम्पर्कमस्यां रमणीयता भवति ॥ सू. 153 ॥

वस्तुनो रमणीयत्वारमणीयत्वाभ्यां द्विधा । तत्राप्यलङ्कारान्तर-[64अ] सम्पर्कमूलमेव रमणीयत्वम् । उभयत्राप्युदाहरणं यथा काव्यप्र-काशे—

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन[4] विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनः ॥ 272 ॥

इत्यरमणीये । रमणीये यथा—

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥ 273 ॥

रमणीयत्वमाविष्कृतं जगन्नाथेन—

मानं विना विराजन्ते गुणिनो [5]भूषणैस्तु न ।
शौर्येण विना भाति नरो न कबरीभरः ॥ 274 ॥

---

1. ०भावो
2. स्वमते (मू. पा. टि.)
3. अन्यालङ्कृतसंसर्गेणैव अस्या विनोक्ते रमणीयता (मू.पा.टि.)
4. शशिचन्द्रे नैष्ट्यं (मू.पा.टि.)
5. भूष०

अत्र प्रतिवस्तूपमानुकूलत्वेन चमत्कारः ।

इति विनोक्तिः ।। 22.

21. सहोक्ति—

गौण और प्रधान भाव से युक्त अर्थ "सह" (शब्द) से सम्बद्ध होने पर वह सहोक्ति कहलाती है । (अर्थात् एक ही पद "सह" अर्थ के सामर्थ्य से गौण और प्रधान दोनों अर्थों का बोधक होता है) ।। सू. 151 ।।

उदाहरण जैसे—(हे राजन् ! तुमने) शत्रुओं के प्राणों के साथ धनुष की प्रत्यञ्चा खींच ली । (यहाँ गौण प्राणों का और प्रधान प्रत्यञ्चा का सहार्थ सम्बन्ध है ।)

मम्मट भट्ट का कथन है कि एकार्थवाचक होने पर भी सह शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से जहाँ दोनों का बोध होता है, वह सहोक्ति है । अथवा उदाहरण जैसे—

हे पृथ्वीशासक ! तुम क्रोधाविष्ट होने पर शत्रुओं के भाग्य के साथ उठते हो (अर्थात् तुम्हारे आसन से उठते ही शत्रुओं का भाग्य भी उठ जाता है) और मृत्यु के साथ सहसा ही उन पर गिरते हो । (तुम्हारे आक्रमण के साथ ही मृत्यु का भी आक्रमण हो जाता है ।) ।। 271 ।।

प्रथम उदाहरण ("प्राणैः समं.") में कर्म कारक की सहोक्ति है (कर्षण क्रिया के कर्म प्रत्यञ्चा का प्राणों के साथ सहभाव है) । इस("भाग्येन.")उदाहरण में कर्तृ कारक की सहोक्ति है (उत्थान और पतन क्रिया के कर्ता राजा का भाग्य तथा मृत्यु के साथ सहभाव है) । इन दोनों उदाहरणों में यही भेद है । दोनों उदाहरणों में ही ("सहयुक्तेऽप्रधाने" सूत्र से) तृतीया विभक्ति के विधान के कारण गुणभाव है । प्रधानरूप से क्रिया के साथ अन्वय होने पर तुल्ययोगिता अथवा दीपक अलङ्कार हो जाता है ।"सह" आदि शब्दों का प्रयोग न होने पर सहोक्ति गम्य हो सकती है । "वृद्धो यूना" इत्यादि पाणिनि सूत्र के अनुसार तृतीया विभक्ति के प्रयोग से उसका ज्ञापन होता है और अतिशयोक्ति होने पर ही सहोक्ति में चमत्कारित्व रहता है, अन्यथा (सहभाव के रहने पर भी अतिशयोक्ति का सम्बन्ध नहीं रहने से) "पुत्रेण सहागतः पिता" इत्यादि में अलंकार नहीं है ।

सहोक्ति अलङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ।। 21.

22. विनोक्ति—

नित्य सम्बन्ध होने पर जो असम्बन्ध (दो वस्तुओं के सम्बन्धाभाव) का कथन होता है, वह विनोक्ति है ।। सू. 152 ।।

[illegible] है । उदाहरण —

[illegible] के बिना [illegible] शोभित नहीं होता ।

[illegible] के [illegible] अलंकार [illegible] होने पर भी [illegible] प्रकार [illegible] हुआ है ।

[illegible]) है । [illegible] अथवा [illegible] होने पर [illegible] के अर्थ के [illegible] ([illegible]) "विनोक्ति" होती है । (अर्थात् किसी वस्तु के बिना कोई वस्तु रमणीय हो अथवा किसी वस्तु के बिना कोई वस्तु [illegible] हो, वहाँ विनोक्ति होती) । [illegible] के [illegible] विनोक्ति [illegible] होती है ॥ सू. 153 ॥

[illegible] रमणीयता और [illegible] से विनोक्ति दो प्रकार की है । यहाँ [illegible]) [illegible] होता है । [illegible] जैसे "[illegible]" में—

रात्रि के बिना (दिन में) चन्द्रमा [illegible] हो जाता है और यह रात्रि [illegible] चन्द्रमा के बिना [illegible] हो जाती है । रात्रि और चन्द्रमा दोनों [illegible] सुशोभित नहीं होता ॥ 272 ॥

यहाँ (रात्रि के बिना चन्द्रमा और चन्द्रमा के बिना रात्रि की अशोभनीयता [illegible]) [illegible] का उदाहरण है । रमणीयता होने पर विनोक्ति [illegible]

[illegible] ([illegible] पर [illegible] जाता है । पर उसके) बिना [illegible] के [illegible] से [illegible] हो जाता है । (इसी प्रकार किसी [illegible] बन जाता है, परन्तु) उस (दुष्ट) मित्र के बिना [illegible] हो जाता है ॥ 273 ॥

[illegible] और दुष्ट मित्र के न रहने पर [illegible] की शोभनता का [illegible] विनोक्ति की रमणीयता का उदाहरण है ।)

[illegible] रमणीयता का उदाहरण दिया है—

[illegible] ([illegible]) के बिना सुशोभित होते हैं, [illegible] (रंग) [illegible] होती । [illegible] ([illegible]) के बिना सुशोभित होता [illegible]) के बिना सुशोभित नहीं होते ॥ 274 ॥

[illegible] विनोक्ति [illegible] के अनुरूप होने से चमत्कार

विनोक्ति अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 22.

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टपूरकमहिम्ना ।
अप्रकृतस्याऽर्थस्याऽभिधानमाहुः समासोक्तिम् ॥ सू. 154 ॥

पूरकं विशेषणं स्पष्टं समासेन संक्षेपेणार्थद्वयप्रतिपादनात् समासोक्तिः । अप्रस्तुतव्यवहारारोपश्चारुताहेतुः । अप्रस्तुतरूपसमारोपवाचकपदसमभिव्याहाराऽभावान्न रूपके इति प्रसङ्गः । उदाहरणं यथा—

[64 ब]　[1]रजोरूक्षैरंगैस्तव ^ पयसि[2] तृष्णाकुलधिया
लुठन् भूयो भूयो भुवि चपलयन्नक्षि परितः ।
समारोहत्यङ्कं यदि कथय गङ्गे तव कथं
दयावेल्लद्वीची वलयविषयं नैष्यति जनः ॥ 275 ॥

अत्र शिशुजननीवृत्तान्तः प्रकृताभिन्नः । यथा वा—

देव त्वां परितः स्तुवन्तु कवयो लोभेन, किं तावता
स्तव्यस्त्वं भवितासि, यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना ।
क्रोडान्तः कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः[3] समालिङ्गति
द्यां चुम्बत्यमरावतीं च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ॥ 276 ॥

यथा वा—

[4]व्यावल्लत्कुचभारमाकुलकचं व्यालोलहारावलि [:]
प्रेंखत्कुण्डलशोभिगण्डयुगलं प्रस्वेदि वक्त्राम्बुजम् ।
शश्वद्दत्तकरप्रहारमधिकश्वासं रसादेतया
यस्मात्कन्दुक[5]सादरं सुभगया संसेव्यसे तत्कृती ॥277॥

अत्र विपरीतरतासक्तनायिकावृत्तान्तः प्रतीयते । पूर्वत्र विशेषणानि श्लिष्टानि इह तु साधारणानीति[6] भेदः । विशेषणसाम्यबलादप्र

1. रजो धूलिर्गुणश्च (मू. पा. टि.)
2. पयसि जले दुग्धे च (मू. पा. टि.)
3. ०तीमंगं
4. व्यावल्लात्कु०
5. हे (मू. पा. टि.)
6. ०नीत

स्तुतवृत्तान्तस्फूर्तिः समासोक्तिरित्याशयः विशेषणसाम्यबलादप्रस्तुतस्य गम्यत्वमिति सर्वस्वकारोक्तेः ।

इति समासोक्तिः ॥ 23.

23. समासोक्ति—

प्रकृत (प्रस्तुत) अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणों के प्रभाव से, जो अप्रकृत अर्थ का कथन है, उसे समासोक्ति कहते हैं ॥ सू. 154 ॥

"पूरकं" का अभिप्राय है जो विशेषणों से स्पष्ट हो, वह समास से अर्थात् संक्षेप से (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) दोनों अर्थों का कथन होने से समासोक्ति है। अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप सुन्दरता का कारण है। अप्रस्तुतरूप समारोप वाचक पद के प्रयोग का अभाव होने से यहां रूपक नहीं है।

उदाहरण जैसे—

हे गङ्गे ! तुम्हारे पय (जल) के प्रति तृष्णा से आकुल बुद्धि के कारण रज (रजोगुण) से रूखे अंगों से वार-बार धरती पर लोटता हुआ तथा चारों ओर नेत्र घुमाता हुआ तुम्हारा भक्त यदि तुम्हारे अंग (जलरूप तरङ्ग) पर आरूढ होने लगता है (जैसे धूल से रूखे अंगों से कोई बालक माँ के पय (स्तन्य) के लिये तृषित होकर मचलता हुआ, धरती पर वार-बार लोटता है और चंचल नेत्रों से चतुर्दिक् माता को खोजता है) तो वह दया से हिलती हुई वीचियों के वलय का विषय कैसे नहीं बनेगा ? (माता अपने हिलते हुए वलय वाले हाथ बढ़ाकर पुत्र को गोद में कैसे नहीं उठा लेगी ?) ॥275॥

यहां (श्लेषयुक्त विशेषणों के कारण गङ्गा और भक्त के व्यवहाररूप प्रस्तुत अर्थ के साथ) माता और शिशु का व्यवहार-रूप अप्रस्तुत अर्थ भी भासित होता है।

अथवा "रसगङ्गाधर" में उद्धृत उदाहरण—

(राजा के प्रति किसी कवि का कथन–) हे देव ! कविलोग लोभवश तुम्हारे पास स्तुति करें, पर इससे क्या तुम स्तुतियोग्य हो जाओगे ? अब भी जिनके धनुष का तरुण प्रताप पृथ्वी का आलिंगन करता है, दिशाओं का आलिंगन करता है, स्वर्ग का चुम्बन लेता है और अगम्य (अप्राप्य, गमन के अयोग्य) भी अमरावती को सहसा गमन करता है ॥276॥

(यहाँ राजा-प्रताप-वृत्तान्त रूप प्रस्तुत अर्थ के साथ ही परस्त्रीकामुकरूप अप्रस्तुत वृत्तान्त भी प्रगट होता है।)

अथवा अन्य उदाहरण—

आच्छादित करता स्तन-भार हैं, केश बिखरे हुए हैं, हिलती हुई हारावली है, झूलते हुए कुण्डलों से सुशोभित कपोल-युगल हैं, स्वेदकणों से मुखकमल भीगा हुआ है, निरन्तर हाथ का प्रहार किया जा रहा है तथा श्वास बहुत तेज चल रही है। इस प्रकार हे कन्दुक! पूरे रस के साथ इस प्रिया के द्वारा तुम आदर के साथ सेवित हो, इसलिये धन्य हो ॥277॥

यहाँ विपरीतरतासक्त-नायिका-वृत्तान्त प्रतीत होता है। पूर्व पद्यों में विशेषण श्लिष्ट हैं, पर यहाँ साधारण हैं, यही भेद है। विशेषण-साम्य के बल से अप्रस्तुत वृत्तान्त का स्फुरण (प्रकटीकरण) समासोक्ति होता है, यह आशय है। अलङ्कार-सर्वस्वकार का कथन है कि विशेषण-साम्य के बल से अप्रस्तुत अर्थ ज्ञात होना ही समासोक्ति है।

समासोक्ति का प्रकरण समाप्त हुआ ॥23.

[65अ] साभिप्रायकमुक्तं विशेषणं परिकरस्तत्र प्रकृतार्थोपयोगिचमत्कारि-व्यङ्ग्यत्वं साभिप्रायत्वम् ॥सू.155॥

उदाहरति—

तापं हरतु [ह] रो मे गङ्गाजलमज्जदमलजटः।

अत्र तापहरणकर्तृत्वे हरस्य गङ्गाजलमज्जदमलजटत्वविशेषणस्य चमत्काराधायकत्वम्।

अत्र कश्चित् निष्प्रयोजनविशेषणोपादानेऽ[1]पुष्टार्थरूपदोषात्साभि-प्रायकपदोपादाने तु तदभाव एव, न कश्चिदलङ्कारः। तन्न, चमत्कारित्वे सत्युपस्कारस्यालङ्कारत्वप्रयोजकस्य[2]दोषाभावस्वरूपभिन्नत्वात्। अतएव श्रीरामार्याष्टोत्तरशतमणिमालायामस्मद्गुरूणां पद्ये परिकरप्रस्तावः। यथा—

कोशलपाल कृपालय पालय मामपि लघीयांसम्॥
तिरयति कथं तमो मां त्वामनुसृत्यांशुमालिवंशमणिम् ॥278॥

---

1. अपुष्टो वितते व्योम्नि विलोक्येन्दुं त्यज क्रुधमित्यत्रापुष्टोऽर्थदोषः (मू. पा. टि.)

2. ०कस्यो

अत्र विहितविशेषणवत्त्वस्य सम्बोधनस्य पालनप्रार्थनारूप-प्रकृतार्थस्य कोशलदेशपालनसमर्थत्वसम्बोधनमहिम्ना वाक्यार्थोपस्कारस्य [65अ]सत्त्वादलङ्कारनिर्घोषः। दोषाभावस्तु यथापाऽत्यस्य देशपालकस्य क्रियन्नम पालनमित्यर्थचमत्कारसंवलितस्यापि अपुष्टार्थत्वपरिहार एव नालङ्कारकारणतेति चमत्कारापकर्षाभाव एव दोषाभावो नोपस्कारकोऽ-पीति परिकरः ॥24.

24. परिकर—

साभिप्रायक विशेषण को परिकर कहा जाता है। प्रकृत (वर्णनीय) अर्थ में उपयोगी चमत्कारी व्यंग्य को साभिप्रायत्व कहा जाता है। (अर्थात् उन विशेषणों को साभिप्राय कहा जायेगा जिनसे वर्णनीय विषय संगत अथवा पुष्ट होता है और चमत्कारयुक्त व्यंग्य अर्थ निकलता है।) ॥सू.155॥

उदाहरण है—

गङ्गाजल से धुली होने के कारण स्वच्छ जटाओं वाले हर (शिव) मेरे ताप (दुःख) को हरें (दूर करें)।

यहाँ तापहरण के कर्ता हर का विशेषण 'गङ्गाजलमज्जदमलजटः' चमत्कारा-धायक है।

किसी विद्वान् का कथन है कि प्रयोजनरहित विशेषण ग्रहण करने पर "अपुष्टार्थ" नामक दोष बताया गया है, (अपुष्टार्थ जैसे—"विस्तृत गगन में चन्द्रमा को देखकर क्रोध को त्याग दो), तो प्रयोजनयुक्त पदों का ग्रहण होना केवल उस (दोष) का अभाव ही है, कोई अलङ्कार नहीं है—यह कथन उचित नहीं है। चमत्कारिता होने पर अलंकारत्व के प्रयोजक — वर्णनीय वस्तु के उपस्कारक (वर्णनीय वस्तु को पुष्ट तथा सम्पादन करने वाला साभिप्रायक विशेषण) का स्वरूप तथा दोष के अभाव का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। अतएव हमारे गुरु (हरि प्रसाद के गुरु) की कृति "श्री रामार्या अष्टोत्तरशतमणिमाला" के पद्य में परिकर का प्रयोग हुआ है, जैसे—

हे कृपा से धान्य कोशलपाल राम! मुझ तुच्छ की रक्षा करो। सूर्यवंश के मणिस्वरूप तुम्हारा अनुसरण करने पर मुझे अन्धकार कैसे आच्छादित कर सकेगा? ॥278॥

यहाँ विशेषण रूप में रखा हुआ सम्बोधन "कोशलपाल" "पालन"–रक्षा करने की प्रार्थना रूप प्रकृत अर्थ का उपकारक है। कोशलपाल पालन करने में समर्थ है–इस सम्बोधन के कारण वाक्यार्थ पुष्ट होने से यहाँ परिकर अलङ्कार है। दोषाभाव जैसे—

देश का पालन करने वाला यदि पालन नहीं करे तो मेरा पालन कैसे होगा, इस प्रकार अर्थ-चमत्कार से मिश्रित होने पर भी अपुष्टार्थत्व का अभाव ही अलङ्कार का कारण नहीं है, चमत्कार के अपकर्ष का अभाव ही दोषाभाव है, वह उपस्कारक नहीं है।

परिकर अलङ्कार-प्रकरण समाप्त हुआ ॥24.

एकश्रुत्या श्लेषः कथनमनेकार्थविषयं चेत् ॥ सू.156 ॥

उदाहरति—

उदयति मालिन्यहरः सवितामहसां प्रतापस्ते।

अत्र सूर्यः प्रतापश्च एकश्रुत्या श्लेषविषयः। यथा वा—

करकृतचक्रप्रीतेर्नाशिततमसो हरेः[1] प्रसभम्।
कमलाकरेण लब्धा विकाशसंपत् सुखाय वो भूयात् ॥279॥

अयमभंगश्लेषः चक्रतमःकमलाहरीणामवयवविभागं विनैव द्वितीयार्थकथनात्। यथा वा—

सम्भूत्यर्थं सकलजगतो विष्णुनाभिप्रपन्नम्।
यन्नालं स त्रिभुवनगुरुर्वेदनाथो[2] विरञ्चिः ॥
ध्येयं धन्यालिभिरतितरां स्वप्रकाशस्वरूपम्।
[66अ] पद्माख्यं[3] तत्किमपि ललितं वस्तु वस्तुÅष्टयेस्तु ॥280॥

अत्र सभंगश्लेषः।

अत्र गङ्गाधरः प्रायेणायमलङ्कारो विषयमलङ्कारान्तरस्य तत्र बाधकत्वं सङ्कीर्णत्वं बाध्यत्वं वा।

---

1. हरेरिति विष्णोः सूर्य्यस्य च (मू. पा. टि.)
2. ०नापो
3. पद्मं पंकजं पद्मा लक्ष्मीश्च (मू. पा. टि.)

यथाहुरुद्भटाचार्याः—"येन नाऽप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक" इति न्यायेनालङ्कारान्तरविषय [1]एवायमारभ्यमाणोऽलङ्कारान्तरं बाधते। न चास्य[2] विविक्तो [3]विषयो येनान्यं न बाधेत, तथाहि, अप्रकृतमात्रयोः प्रकृतमात्रयोर्वा तुल्ययोगिता प्रकृताऽप्रकृतयोर्दीपकमुपमादयश्च तदनुगता एव ।

25. श्लेष—

यदि एक श्रुति अर्थात् किसी पद अथवा पदांश के एक बार श्रवण से अनेक अर्थों के विषय का कथन हो तो श्लेष होता है ॥सू.156॥

उदाहरण है—

मालिन्य (अन्धकार को) दूर करने वाला सूर्य और मालिन्य (दुःखों को) दूर करने वाला तुम्हारी दीप्ति का (तेज का) प्रताप उदित हो रहा है ।

यहाँ सूर्य और प्रताप एकश्रुति से श्लेष के विषय हैं । अथवा जैसे—

(करकृतचक्रप्रीते) हाथ में लिये हुए सुदर्शनचक्र में प्रीति रखने वाले (विष्णु) (करकृतचक्रप्रीते) किरणों से निर्मित कालचक्र में प्रीति रखने वाले (सूर्य), (हरिपक्ष में) हठात् अज्ञान का नाश करने वाले, (सूर्य पक्ष में) अन्धकार का नाश करने वाले, (हरिपक्ष में) लक्ष्मी के हाथ से प्राप्त प्रसन्नता रूपी सम्पत्ति (सूर्य पक्ष में) कमलों के समूह द्वारा प्राप्त की हुई प्रफुल्लतारूपी सम्पत्ति आपके सुख के लिये हों ॥ 279 ॥

यहाँ चक्र, तम, कमला और हरि पदों को अलग-अलग किये बिना ही ये पद दो-दो अर्थों को कहते हैं, अतः यहाँ अभंगश्लेष है । अथवा जैसे—

("संभूत्यर्थं" इत्यादि पद्य में "पद्म"—भगवान की नाभि का कमल तथा "पद्मा"—लक्ष्मी, इन दोनों पक्ष में अर्थ है ।) पद्म के पक्ष में अर्थ है—समस्त संसार की उत्पत्ति के लिये विष्णु की नाभि का जिसने आश्रय लिया है, जिसकी नाल (डण्ठल) को तीनों लोकों के गुरु और जगदुत्पादक ब्रह्मा भी नहीं जानते,

---

1. अयं श्लेषः (मू. पा. टि.)
2. श्लेषस्य (मू. पा. टि.)
3. भिन्नो विषयः (मू. पा. टि.)

जो भाग्यशाली भ्रमरों द्वारा अत्यन्त ध्यान करने योग्य हैं, जो स्वप्रकाशस्वरूप है (सूर्य के पूर्व ही इसकी उत्पत्ति होने के कारण जो स्वयं अपने आप खिलता है, सूर्य के प्रकाश से नहीं खिलता), ऐसी पद्म नामक जो अवर्णनीय रूप से सुन्दर वस्तु है, वह आपके सन्तोष के लिये हो।

पद्मा (लक्ष्मी) के पक्ष में अर्थ होगा—वह त्रिभुवन गुरु, वेदनाथ, ब्रह्मा समस्त जगत् के संभूत्यर्थ (सम्यक् ऐश्वर्य) के लिये समर्थ नहीं है (अर्थात् ब्रह्मा वेदों के द्वारा ज्ञान दे सकते हैं, समग्र संसार को उत्पन्न कर सकते हैं, पर ऐश्वर्य नहीं दे सकते, लक्ष्मी ही ऐश्वर्यस्वरूपा है)। जो विष्णु के द्वारा स्वीकृत की गई है, जो धन्य (भाग्यवान्) लोगों की पंक्तियों (समूहों) से अत्यन्त ध्यान करने योग्य हैं, जो स्वप्रकाशस्वरूप है, वह पद्मा (लक्ष्मी) नामक कोई सुन्दर वस्तु आपके सन्तोष के लिये हो ॥ 280 ॥

यहाँ ("पद्माख्यम्"—इस एक श्रुति से पद्म = कमल तथा पद्मा = लक्ष्मी इन दो अर्थों की प्रतीति होती है अतः) समभंगश्लेष है।

यहाँ "रसगङ्गाधर" में कहा गया है कि यह अलंकार (श्लेषालंकार) प्रायः अन्य अलंकार के विषय का बाधक होता है, यहाँ (अन्य अलंकारों के साथ) इसे संकर कहा जायेगा या इसे बाध्य समझा जायेगा।

यहाँ आचार्य उद्भट का कहना है कि "जिसके अप्राप्त न होने पर (अर्थात् अवश्य प्राप्ति होने पर) जो आरम्भ होता है वह (दूसरा) उस (प्रथम) का बाधक होता है," इस न्याय से दूसरे अलङ्कारों के विषय में किया जाने वाला यह श्लेष अलंकार अन्य अलङ्कारों को बाधित करता है। इस श्लेष का ऐसा कोई भिन्न विषय नहीं है जिससे अन्य को बाधित नहीं करे क्योंकि केवल दो अप्रस्तुत का अथवा केवल दो प्रस्तुत का वर्णन होने पर तुल्ययोगिता अलंकार होगा। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का वर्णन होने पर दीपक अलंकार होगा और उससे अनुगत उपमा आदि भी रहेंगे ही।

तन्न, "सर्वदो माधवः पातु यो गङ्गां समदीधरदि"ति पद्ये श्लेषातिरिक्तः कोऽलंकारः। न चात्र प्रकृते हरिहरयोः सादृश्यप्रतिपादिविषयेन तुल्ययोगिता तस्याश्च सादृश्यप्रत्ययनियतत्वात्, तदेकश्रुत्यार्थद्वयप्रतिपादनमेव चमत्कारजनकं नालङ्कारान्तरप्रसङ्गः, तत्सावकाशत्वान्ना-[66ब] लङ्कारान्तरापवादकत्वं सङ्कीर्ण ^ त्वं तु स्यात्।

प्रकृताप्रकृतोभयविशेष्ययोरपि श्लिष्टपदोपात्तत्वे ध्वनिविषयः। यथा—

निरन्तर गिरने वाली दान के संकल्प-जल की धारा की वृष्टि से पृथ्वीतल को जिसने सिक्त कर दिया और जिसका स्वरूप धनदाताओं के द्वारा सर्वप्रथम पूजित होता है, ऐसे इस सार्वभौम (समस्त पृथ्वी का शासक) राजा की उत्कृष्ट विजय हो। (यह इस पद्य का प्रस्तुत अर्थ है। अप्रस्तुत दिग्गज का अर्थ भी यहाँ प्रतीत होता है-)निरन्तर गिरती हुई मदजल की धारा की वृष्टि से जिसने पृथ्वीतल को आर्द्र कर दिया है और जिसका स्वरूप कुबेर के सामने भी पूजित है, ऐसा यह सार्वभौम नामक दिग्गज (उत्तरदिशा का हाथी) सबसे उत्कृष्ट है ॥ 281 ॥

यहाँ राजा रूप प्रस्तुत अर्थ के रहने पर भी अप्रस्तुत रूप उत्तर दिशा का दिग्गज अर्थ भी व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में उपमानोपमेय भाव दिखाना यहाँ वक्ता का तात्पर्य है, यही कल्पना की जाती है, अतः यहाँ शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि है।

"काव्यप्रकाश" में यह पद्य दिया गया है—

सुन्दर आत्मा वाले, दूसरों द्वारा अनभिभवनीय शरीर वाले, उच्चवंश में उत्पन्न, बाणों का संग्रह (अभ्यास) करने वाले, अबाधित गति वाले, शत्रुओं का वारण (नाश) करने वाले राजा का हाथ निरन्तर दान के जल के सेवन से सुन्दर रहता था।

द्वितीय अर्थ है—

जो श्रेष्ठ जाति का है, जिसकी देह पर चढ़ने में कठिनाई होती है, जिसकी पीठ की हड्डी विशाल और उन्नत है,(मदजल के कारण)जिसने भ्रमरों का संग्रह कर रखा है, जिसकी गति धीमी है, ऐसे (परवारण) उत्तम हाथी की सूंड मद-जल के बहने से सदा सुन्दर प्रतीत होती है ॥ 282 ॥

इत्यादि श्लोक में श्लेष अलंकार है।

श्लेष अलंकार समाप्त हुआ ॥ 25.

अप्रस्तुतेन सदृशं प्रस्तुतमवगम्यते यस्यां
कार्येण कारणं वा सामान्यविशेषयोर्विलोममपि
अप्रस्तुतप्रशंसा सा चैषा पञ्चधा भवति ॥ सू. 157 ॥

अप्रस्तुतेन व्यवहारेणोक्तान्यतरेणाऽप्रस्तुतव्यवहारस्य वर्णनमात्र [67अ] ∧ मप्रस्तुतप्रशंसा। तत्राऽप्रस्तुतेन स्वसदृशं प्रस्तुतं गम्यते कार्येण कारणं कारणेन कार्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण सामान्यं चेति विलोम-

[म] पि? शब्दार्थः। क्रमेणोदाहरणानि—

अमन्दारविन्दोदरस्पन्दमानैर्मरन्दैर्मिलिन्दस्य[2] सानन्दताऽभूत्।
कथं तस्य तुन्दे करीरस्य गुन्दे प्रयन्द्योत्तरं न क्षता रक्षतिः[3] स्यात्॥
॥ 283 ॥

यथा वा—

करिविरहितमवनीतलमेतस्य[4] बभूव खरनखरैः।
सम्प्रत्याखुकदम्बे पूर्णा कथमेव [5]करञ्जकण्डूतिः ॥ 284 ॥

कार्येण कारणं गम्यं यथा—

कमलं निरणायि नाऽन्तरा न शिरीषेऽपि मनोऽनुरज्यति।
तव कोमलमङ्गमीक्षतः क्व पुनः पल्लवपेशला दृशः ॥285॥

अत्र कमलादितिरस्कारेण कार्येणाङ्गसौकुमार्यातिशयः कारणम्। यथा वा काव्यप्रकाशे—

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या सुतरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि।
[67 ब] लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीनाश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥ 286 ॥

अत्र कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम्।

26. अप्रस्तुतप्रशंसा—

(1) जिसमें अप्रस्तुत के द्वारा सदृश प्रस्तुत का बोध कराया जाता है, (2) कार्य से कारण की अथवा (3) कारण से कार्य की अभिव्यक्ति होती है, (4) सामान्य से विशेष की अथवा (5) विशेष से सामान्य की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार यह अप्रस्तुतप्रशंसा पांच प्रकार की होती है ॥ सू. 157 ॥

1. ०लोमापि
2. मकरन्दैर्मिलिन्दस्य भ्रमरस्य (मु. पा. टि.)
3. वानः (मू. पा. टि.)
4. एतस्य सिंहस्य (मू. पा. टि.)
5. करज०

अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा अथवा उक्त अन्य किसी रूप में अप्रस्तुत व्यवहार का वर्णन मात्र अप्रस्तुतप्रशंसा है। यहाँ (1) अप्रस्तुत के द्वारा स्वसदृश प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो, (2) कार्य के द्वारा कारण अथवा (3) कारण के द्वारा कार्य, (4) सामान्य के द्वारा विशेष अथवा (5) विशेष के द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति होना यही "विलोममपि" शब्द का अर्थ है।

क्रम से उदाहरण देते हैं—

खिले हुए कमल के भीतर हिलते हुए पुष्पों के रस से भ्रमर आनन्दित होता था। उस भ्रमर का करीर के वृक्ष के तुच्छ गुच्छे में विना घायल हुए कैसे निवास हो सकता है ? (यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर के वृत्तान्त से किसी पुरुषविशेष का वृत्तान्त प्रतीत होता है।) ॥ 283 ॥

अथवा दूसरा उदाहरण—

इस सिंह के तीक्ष्ण पंजे से पृथ्वीतल हाथियों से रहित हो गया। अब चूहों के झुण्ड में उसके नाखूनों की खुजली कैसे दूर हो ॥ 284 ॥

कार्य के द्वारा कारण गम्य होने पर उदाहरण है—

मन न तो कमल की ओर आकर्षित होता है, न ही शिरीष पुष्प में प्रसन्न होता है। तुम्हारे कोमल अंग को देखने को पल्लव (नवीन पत्ते) के समान कोमल नेत्र कहाँ हैं ? ॥ 285 ॥

यहाँ कमल आदि का तिरस्कार करना, इस कार्य से सौकुमार्यातिशयरूप कारण व्यक्त होता है। अथवा "काव्यप्रकाश" में दिया गया उदाहरण—

हे सुन्दरि ! क्या (वाहर) गये हुए (प्रियजन) पुनः नहीं मिलते ? (अतः) तुमको मेरी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, (तुम तो) वैसे ही बहुत दुबली हो। इस प्रकार अश्रुसजल नेत्रों से मेरे कहने पर, आँसू आने पर लज्जा के कारण स्थिर पलकों वाले तथा गिरते हुए आँसुओं को पी लेने वाले नेत्रों से मुझको देखकर उसने (नायिका ने) हँसने के द्वारा भाविमरण के प्रति (अपना) उत्साह सूचित कर दिया ॥ 286 ॥

यहाँ (किसी के द्वारा यात्रा का विचार क्यों छोड़ दिया, इस) कार्य के पूछे जाने पर (नायिका ने) कारण को कहा है।

कारणे कार्यं यथा तत्रैव—

राजन् राजसुता[1] न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे ! भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा—
च्चित्रस्थानवलोक्य [2]शून्यवलभावेकैकमाभाषते ।। 287 ।।

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

सामान्येन विशेषो यथा कुवलयानन्दे—

सौहार्दस्वर्णरेखाणामुच्चावचभिदाजुषाम् ।
परोक्षमिति कोऽप्यस्ति परीक्षानिकषोपलः ।। 288 ।

अत्र प्रत्यक्ष इव परोक्षः हितमाचरन्नुत्तम इति विशेषस्य सामान्येनावगतिः ।

विशेषेण सामान्यावगतिर्यथा—

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः ।
लेढि जिघ्रति संक्षिप्य करोत्युन्नतमाननम्[3] ।। 289 ।।

अत्राप्रस्तुतेन मर्कटवृत्तान्तेनाऽनभिज्ञेषु रमणीयवस्तुसमर्प्पणम् । काव्यप्रकाशे तु—

सुहृद्वधूवाप्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन[4] यः ।
[68 अ] स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः
।। 290 ।।

अत्रैतादृक्कर्मकरणे त्वं श्लाघ्य इति विशेषेण सामान्यमुक्तम् ।
इति अप्रस्तुतप्रशंसा ।। 26.

कारण के द्वारा कार्य की अभिव्यक्ति का उदाहरण "काव्यप्रकाश" में ही दिया है—

1 पुत्री (मू. पा. टि.)
2. शून्यवल०
3. ०मासनम्
4. यमुनागकरणेन (मू. पा. टि.)

राजपुत्री मुझे नहीं पढ़ा रही है, रानियाँ भी चुपचाप बैठी हैं, अरी कुब्जा (दासी), मुझे भोजन दे, क्या राजकुमार और मन्त्रियों ने अभी तक खाना नहीं खाया है ? (जो मुझे अभी तक खाना नहीं दे रही हो), हे राजन् ! राहगीरों द्वारा पिंजड़े से मुक्त किया हुआ तोता तुम्हारे शत्रु के भवन में शून्य कोठे पर चित्रों में अंकित प्रत्येक से इस प्रकार सम्भाषण कर रहा है ।। 287 ।।

यहाँ आपको प्रस्थान के लिये उद्यत जानकर आपके शत्रु सहसा ही पलायन कर गये हैं, इस प्रकार कारणरूप प्रस्तुत से कार्य का कथन किया गया है ।

सामान्य के द्वारा विशेष की अभिव्यक्ति जैसे "कुवलयानन्द" में—

मित्रता रूपी स्वर्णरेखा की शुद्धता एवं अशुद्धता के अन्तर की परीक्षा के लिये परोक्ष ही परीक्षा रूपी कोई कसौटी होती है ।। 288 ।।

यहाँ (कोई व्यक्ति अपने मित्र से यह कहना चाहता है कि यदि तुम) मेरे सामने होने पर जैसा हित करते हो वैसा ही मेरे परोक्ष में भी हित करोगे तभी उत्तम मित्र कहे जाओगे । इस विशेष रूप प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना सामान्य के द्वारा की गयी है ।

विशेष के द्वारा सामान्य की अभिव्यक्ति जैसे—

किसी ज्ञानविहीन व्यक्ति के द्वारा वक्षःस्थल पर पहनाये गये हार को वन्दर चाटता है, सूंघता है और उसे समेटकर (अपना) मुख ऊँचा करता है । ।। 289 ।।

यहाँ अप्रस्तुत बन्दर के वृत्तान्त से अनभिज्ञों को रमणीय वस्तु का समर्पण (रूप प्रस्तुत अर्थ) व्यक्त होता है । "काव्यप्रकाश" में तो (उदाहरण है)—

जो व्यक्ति शत्रु का नाश करके मित्र की पत्नी के आंसुओं को पोंछता है वही पूज्य है, वह पुरुष है, वह नीतिमान् है, उसी का जीवन सार्थक है (और) वही लक्ष्मी का अधिकारी है ।। 290 ।।

यहाँ इस प्रकार के कर्म करने से तुम प्रशंसनीय हो, यह विशेष से सामान्य कहा गया है ।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार समाप्त हुआ ।। 26.

भङ्ग्यन्तरेणकथनं विवक्षितार्थस्य यत्र भवेत् ।
आक्षेपो वा युक्तपर्यायोक्तं वदन्ति बुधाः ।। सू. 158 ।।

अत्राहुरभिनवगुप्तपादाचार्याः—"पर्यायेण वाच्यातिरिक्त-प्रकारेण व्यङ्ग्येन चोपलक्षितम् । वक्तुमभिहितः पर्यायोक्तमि" ति

योगार्थं लक्षणम् । तत्र पर्यायशब्देन प्रकारान्तरं धर्मान्तरं यद्युच्येत तदा विवक्षितार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मपुरस्कारेणाभिहितमिति योगार्थःस्यात् । "दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्ष" इत्यत्र रामत्वातिरिक्तधर्म-पुरस्कारेण रामस्यैवाभिधानात् पर्यायोक्तम् । अत्र व्यङ्ग्यस्यैव लक्षणे प्रवेशावश्यकतापर्यायेण तस्यैव गृहीतुमुचितत्वात् प्रकारान्तरग्रहणं नाव-श्यकमित्युक्तं आक्षेपो वेति ।

यत्तु "नमस्तस्मै कृतो येन मुधा राहुवधूकुचावि" त्यत्र राहुवधूकु-चवैयर्थ्यकारित्वेन भगवानभिहित इति तत्तुच्छम् । भगवतो विशेषणम-[68ब] हिम्ना लभ्यत्वे राहुशिरच्छेदकारित्वस्यैव व्यञ्ज्यत्वात् ।

उदाहरणं यथा गङ्गाधरे—

त्वां सुन्दरीनिवहनिष्ठुरधैर्यगर्व[1]—
निर्वापणैकचतुरं[2] समरे निरीक्ष्य ।
केषामरिक्षितिभृतां नवराज्यलक्ष्मीः
स्वामिव्रतात्वमपरिस्खलितं बभार ॥ 291 ॥

अत्र सर्वापि शत्रुराज्यसम्पत्त्वां प्राप्तेत्यर्थो रूपान्तरेणाभिहितः ।
इति पर्यायोक्तम् ॥ 27.

27. पर्यायोक्ति—

जहाँ विवक्षित अर्थ का किसी दूसरी भंगिमा (शैली) में कथन किया जाये अथवा आक्षेप किया जाये उसको विद्वज्जन युक्त पर्यायोक्त या पर्यायोक्ति कहते हैं । ॥ सू. 158 ॥

इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि पर्याय—वाच्यातिरिक्त प्रकार अर्थात् व्यंग्य से उपलक्षित होकर कहने के लिये अभिधा द्वारा प्रतिपादित हो उसे पर्यायोक्ति कहते हैं । यह उनका योगार्थ के आधार पर लक्षण है । यहाँ पर्याय शब्द से प्रकारान्तर अथवा धर्मान्तर यदि कहा जाये तो वक्तव्य वस्तु को जिस रूप में कहना चाहते हैं उसके अतिरिक्त अन्य रूप को पुरस्कृत करके अभिधा से प्रतिपादन करना, यही योगार्थ होगा । इस स्थिति में "दशवदनरावण का वध करने वाले कमलनयन दशरथपुत्र" इत्यादि में रामत्व से अन्य धर्म (पुण्डरीकाक्ष)

1. ॰निष्टुरधैर्यगर्व
2. ॰पनैकचतुरं

के पुरस्कार द्वारा "राम का ही अभिधा से कथन होने के कारण पर्यायोक्ति होने लगेगा। यहाँ लक्षण में व्यंग्य का ही प्रवेश आवश्यक माना जाय तो पर्याय शब्द से उस (व्यंग्य) का ही ग्रहण करना उचित होने से "प्रकारान्तर" का ग्रहण आवश्यक नहीं है, अतः हमने "आक्षेपो वा" यह भी कहा है।

और जो—राहुवधू के स्तनों को व्यर्थ करने वाले उस (भगवान् वासुदेव) को नमस्कार है। यहाँ राहुवधूस्तनवैयर्थ्यकारित्व रूप से भगवान् वासुदेव अभिहित (वाच्य) हुआ है, यह कहना उचित नहीं है। भगवान् की विशेष महिमा से प्राप्त राहुशिरच्छेदकारिता के ही व्यञ्जित होने के कारण (यह कथन अनुचित है)।

"रसगङ्गाधर" में पर्यायोक्ति का उदाहरण दिया गया है–

(राजा को सम्बोधित करके कवि कह रहा है–) सुन्दरी-समूह के निष्ठुर धर्म-गर्व को (हम किसी भी परपुरुष को देखकर विचलित नहीं हो सकतीं, इस गर्व को) समाप्त करने में अनुपम चतुर आपको युद्ध में देखकर किन शत्रु-राजाओं की नव राजलक्ष्मी ने अखण्डित पतिव्रता धर्म को धारण किया ? ॥291॥

यहाँ सभी शत्रुओं की राज्यसम्पत्ति तुमको प्राप्त हो गयी, यह अर्थ (राजलक्ष्मी का पतिव्रतधर्म खण्डित हो गया, इस प्रकार) अन्य रूप में कहा गया है।

पर्यायोक्ति अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥27.

निन्दास्तवनाभ्यां यत्पर्यवसानं तयोर्विलोमने[1] [गम्ये]।
व्याजस्तुतिर्न चैषा ध्वनिविषयो[2] बाधितत्वेन ॥ सू.159॥

अत्राद्या यथा गङ्गाधरे—

उर्वी शासति मय्युपद्रवलवः कस्यापि न स्यादिति
प्रौढं व्याहरतो वचस्तव कथं देव प्रतीमो वयम्।
प्रत्यक्षं भवतो विपक्षनिवहैर्द्यामुत्पतद्भिः क्रुधा
यद्युष्मत्कुलकोटिमूलपुरुषो निर्भिद्यते भास्करः ॥292॥

अत्र निन्दा बाधिता स्तुतौ पर्यवस्यति। द्वितीया यथा—

साधु दूति पुनः साधु कर्त्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ॥293॥

---

1. ०मन
2. व्यंग्यविषयः (मु. पा. टि.)

अत्र साधुकारिणीत्वरूपास्तुतिर्निन्दायाम् ।
इति व्याजस्तुति ॥28.

[69अ] अथ आक्षेप :—तत्र केचित्[1] "उपमेयस्य उपमानसम्बन्धिसकलप्रयोजननिष्पादनक्षमत्वादुपमानकैमर्थ्य[2]मुपमानाधिक्षेपरूपमाक्षेपमा"हु:[3] ।

तत्रोदाहरणम्—

वसुधावलयपुरन्दर[4] विलसति भवत: कराम्भोजे ।
चिन्तामणिकल्पद्रुमकामगवीभि: कृतं जगति ॥294॥

उपमाप्रयोजननिष्पादनमार्थम् ।

अपरे[5] तु "पूर्वोपन्यस्तस्यार्थस्य पक्षान्तरालम्वनप्रयुक्तनिषेध" इत्याहु: । तत्रोदाहरणम्—

सुराणामारामादिह झटिति झंझानिलहत:
पतेच्छाखीन्द्रो[6]ऽयं यदि तदखिलो नन्दति जन: ।
किमेभिर्वा कार्यं शिव शिव विवेकेन विकलै-
श्चिरं जीवन्नास्तामधिधरणि दिल्लीनरपति: ॥295॥

28. व्याजस्तुति—

निन्दा और स्तुति का जो पर्यवसान और उनका प्रतिकूल क्रम से (पर्यवसान) है, वह व्याजस्तुति है (अर्थात् निन्दा का स्तुति में और स्तुति का निन्दा में पर्यवसान होना, दोनों ही व्याजस्तुति है । और (प्रथमत: प्रतीत निन्दा और स्तुति के) बाधित होने से यह (व्याजस्तुति) व्यंग्य का विषय (ध्वनिविषय) नहीं है ॥सू.159॥

यहां प्रथम (निन्दा के द्वारा स्तुतिरूपा व्याजोक्ति) का उदाहरण "रसगङ्गाधर" में है—

1. विमर्शिनीकारादय: (मू. पा. टि.)
2. किमर्थस्य भाव: कैमर्थ्यम् (मू. पा. टि.)
3. °धिक्षेपरूपाक्षेपमाहु: ।
4. हे (मू. पा. टि.)
5. रत्नाकरादय: (मू. पा. टि.)
6. कल्पवृक्ष: (मू. पा. टि.)

(किसी राजा की स्तुति करते हुए कवि का कथन—) हे देव ! "मेरे पृथ्वी पर शासन करते हुए किसी को भी संकट का अंश भी प्राप्त नहीं होगा", इस प्रकार दृढ़ता से कहते हुए आपके वचन का हम कैसे विश्वास करें ? क्योंकि आपके सम्मुख स्वर्ग की ओर उछलकर जाते हुए शत्रु-समूह द्वारा क्रोध से आपके कुल परम्परा के मूलपुरुष सूर्य को निर्भिन्न (आच्छादित) किया जाता है ।।292।।

यहाँ (राजा का वर्णन) निन्दा से बाधित स्तुति में पर्यवसित होता है। दूसरा (स्तुति का निन्दा में पर्यवसित होने का) उदाहरण है—

हे दूति ! तुमने अच्छा किया, बहुत अच्छा किया । इसके अतिरिक्त क्या किया जा सकता था, जो मेरे कारण दाँतों से भी और नखों से भी छिद गयीं ।।293।।

यहाँ "भला करने वाली" इस रूप में स्तुति का (दूती-विरुद्ध आचरण करने के कारण धिक्कार है इस) निन्दा में (अर्थ व्यक्त होता है) ।

व्याजस्तुति अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ।।28.

29. आक्षेप—

अब आक्षेप अलङ्कार का निरूपण प्रारम्भ होता है—

इस विषय में (विमर्शिनीकार आदि) कतिपय विद्वानों का कथन है कि उपमेय के उपमान सम्बन्धी समस्त प्रयोजनों के निष्पादन में समर्थ होने के कारण उपमान किसके लिये है, इस प्रकार उपमान का तिरस्कार कहने पर आक्षेप कहते हैं । इसका उदाहरण दिया है—

हे पृथ्वी-मण्डल के इन्द्र ! आपका हस्त-कमल जब सुशोभित हो रहा है तो जगत् चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु से युक्त हो गया है ।।294।।

यहाँ (चिन्तामणि आदि) उपमान (के जन-मनोरथ पूर्त्ति आदि) प्रयोजन का (राजा के हस्तकमल रूप उपमेय के द्वारा) निष्पादन आर्थ (अर्थ से) ज्ञात होता है ।

अन्य (रत्नाकर आदि विद्वानों) का कथन है कि पूर्ववर्णित अर्थ का अन्य पक्ष के अवलम्बन से प्रयुक्त निषेध (आक्षेप है) । इसका उदाहरण है—

यदि देवताओं के उद्यान से यह कल्पवृक्ष आँधी से आहत होकर शीघ्र ही यहाँ (पृथ्वीपर) गिर जाये तो समस्त मनुष्य प्रसन्न हो जायें । अथवा ! शिव ! शिव ! विवेक से रहित (जड़) इन (कल्पवृक्षों) से क्या प्रयोजन है ? दिल्ली नरेश चिर-काल तक पृथ्वी पर जीवित रहें (संसार में व्यक्तियों के लिये यही सब कुछ हैं) ।।295।।

(यहाँ पद्य के पूर्वार्ध में कथित पक्ष का, उत्तरार्ध द्वारा दूसरे पक्ष का अवलम्बन कर प्रतिक्षेपमात्र किया गया है।)

काव्यप्रकाशकारास्तु—

निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

विशेषव्यङ्ग्यरूपमर्थविशेषं वक्तुं विवक्षितस्य प्रकृतार्थस्य निषेधो निषेधसदृशकथनादिप्रत्याख्यानरूपः। स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति [69ब] द्विधेत्याहुः। तत्रोदाहरणम्—

रीतिं गिराममृतवृष्टिकिरां त्वदीयां
तां चाकृतिं कृतवरैरभिनन्दनीयाम्।
लोकोत्तरामथ कृतिं करुणारसार्द्रां
ज्ञातुं न कस्यचिदुदेति मनः प्रसारः[1]॥296॥

वर्णनीयस्यानिर्वाच्यतां बोधयितुं करिष्यमाणस्य मतिप्रसारस्य निषेधः।

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टिः।
तस्याः सुभग कथेयं तिष्ठतु[2] तावत्कथान्तरं कथय॥297॥

अन्ये पुनः[3]—

आक्षेपः स निषेधः सव्यङ्ग्यस्तत्र कीर्तितः कविभिः।
उक्तानां भेदानामिहैव *यस्मात्समावेशः॥सू.160॥

उदाहरणम्—

त्वामवश्यं सिसृक्षन् यः सृजति स्म कलाधरम्।
किं वाच्यं तस्य वैदुष्यं पुराणस्य महामुनेः॥298॥

इत्याक्षेपः॥29.

काव्यप्रकाशकार का कथन है—

जो बात कहना चाहते हैं उसमें वैशिष्ट्य के कथन की इच्छा से जो निषेध किया जाये वह आक्षेप होता है। वह आक्षेप दो प्रकार का है—(1) वक्ष्यमाणविषयक,

1. ॰सादः

2. ॰ष्टतु

3. स्वमतमाह (मू. पा. टि.)

(जो बात आगे कहनी है उसका पहले ही निषेध कर देना), (2) उक्त-विषयक (पूर्व कथित बात का निषेध)।

विशेष का अभिप्राय है व्यंग्यरूप अर्थविशेष, (वक्तुं विवक्षितस्य) कहने की इच्छा करने का अर्थ है प्रकृतार्थ और निषेध से अभिप्राय है कि निषेध के समान कथनादि का प्रत्याख्यान—कहकर बदल जाना। वह (आक्षेप) दो प्रकार का कहा गया है— वक्ष्यमाणविषय और उक्तविषय। इस मत का उदाहरण है—

अमृतवर्षण करने वाली आपकी वाणी की शैली, श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा अभिनन्दनीय आपकी उस आकृति और करुणारस से आर्द्र अलौकिक कृति को जानने के लिये किसके मन में प्रसन्नता (उत्सुकता) उदित नहीं होती (किसके मन का प्रसार नहीं होता)॥ 296 ॥

वर्णनीय (महापुरुष के गुणों) की अनिर्वचनीयता को बताने के लिये अवश्य होने वाले मतिप्रसार का निषेध किया गया है। (अतः यह उक्त लक्षण का उदाहरण हो जाता है।)

(आक्षेप के द्वितीय भेद का उदाहरण—) नायिका की सखी नायक से कह रही है—हे सुभग! उसकी श्वास अनुमान से ही जानी जाती है, अंग शीतल हैं, दृष्टि निश्चल है, यही उस (नायिका) की कथा है। पर इस प्रसंग को छोड़ो, दूसरी बात कहो॥ 297 ॥

(काव्यालोककार स्वमत कह रहे हैं कि) अन्य कुछ विद्वान् कहते हैं—वह निषेधमात्र आक्षेप है। वह निषेध कवियों द्वारा व्यंग्यार्थयुक्त कहा गया है। जिससे उक्त सभी भेदों का इसमें समावेश हो जाता है॥ सू. 160 ॥

उदाहरण है—

किसी सुन्दर व्यक्ति के प्रति कथन है—तुम्हारा सृजन अवश्य करने की इच्छा रखते हुए भी जिसने चन्द्रमा का निर्माण किया, उस बूढ़े महामुनि (ब्रह्मा) की विद्वत्ता का क्या कहना? ॥ 298 ॥

(यहाँ "तुम्हारे रहते चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है?"—यह बात ध्वनित होती है। "वृद्ध ब्रह्मा में विद्वत्ता नहीं है", यह निषेध आक्षेप की ध्वनि है।)

आक्षेप अलंकार का प्रकरण समाप्त हुआ॥ 29.

अविरोधेऽपि विरुद्धं वचनं स विरोध इत्युक्तः।
जात्यादीनां ह्रासाद्विरुद्धता तेन दशभेदाः॥सू. 161॥

जातेर्जात्यादिभिश्चतुर्भि[1]गुर्णस्य त्रिभिरेव[2] क्रियाया द्वाभ्यां[3] द्रव्यस्य [4]तेनैवेति दशभेदाः। क्रिया चात्र न वैयाकरणानामिव शुद्धा भावना, [70अ] नापि नैयायिकानामिव ∧ स्पन्दरूपा, किन्तु तत्तद्धातुवाच्या विशिष्टव्यापाररूपा।

उदाहरणं काव्यप्रकाशे—

[5]अभिनवनलिनीकिस[6]लयमृणालवलयादि दवदहनराशिः।
सुभग[7]! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशस्त्वद्वियोगपरिपाते॥ 299॥

[8]गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः।
विश्वम्भराप्यतिलघुर्नरनाथ[9]! तवान्तिके नियतम्॥ 300॥

[10]येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां सम्प्राप्य धाराधर[11]–
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च [12]कमपि स्नेहं[13] पराप्नोति च।
तेषां सङ्गरसङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते!
पांशूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम्॥ 301॥

30. विरोध—

वस्तुतः विरोध नहीं होने पर भी, विरुद्ध वचन होने पर वह विरोध कहा जाता है। जाति आदि के ह्रास से विरुद्धता होने पर विरोध अलंकार के दस भेद हो जाते हैं॥ सू. 161॥

---

1. जातिगुणक्रियाद्रव्यैश्चतुर्भिः (मू. पा. टि.)
2. गुणक्रियाद्रव्यैस्त्रिभिरेव (मू. पा. टि)
3. क्रियाद्रव्याभ्यां (मू. पा. टि.)
4. द्रव्येनैव (मू. पा. टि.)
5. जात्याजातिर्विरुध्यते (मू. पा. टि.)
6. किशल०
7. हे (मू. पा. टि.)
8. जात्या गुणो विरुध्यते (मू. पा. टि.)
9. हे (मू. पा. टि.)
10. जात्या क्रिया विरुध्यते (मू. पा. टि.)
11. खड्गः (मू. पा. टि.)
12. किम०
13. मज्जादिभेदनात् स्नेहम् (मू. पा. टि.)

जाति का जाति आदि चार (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य) के साथ, गुण का (गुण, क्रिया और द्रव्य) तीन के साथ, क्रिया का (क्रिया और द्रव्य) दो के साथ, द्रव्य का केवल उसके (द्रव्य के) साथ ही विरोध हो सकता है, इस प्रकार विरोध (विरोधाभास) अलंकार के दस भेद हो जाते हैं। यहाँ क्रिया वैयाकरणों के समान शुद्ध भावना (सामान्य कृति) नहीं है, न ही नैयायिकों के समान स्पन्दरूपा (गत्यात्मक व्यापार) है, किन्तु उन-उन धातुओं से वाच्य होने वाली विशिष्टव्यापाररूपा है।

(सभी भेदों के) उदाहरण "काव्यप्रकाश" के अनुसार हैं—

1. जाति का जाति के साथ विरोध का उदाहरण—

हे सुभग ! भाग्यवश तुम्हारे वियोग (वज्र) के गिरने पर हरिण के समान नेत्रों वाली उस (नायिका) के लिये नवीन कमलिनीपत्र और कमलनाल के वलय आदि दावाग्नि के पुंज हो जाते हैं। (यहाँ नलिनीकिसलय और मृणालवलय इन दोनों जातिवाचक शब्दों का दवदहन जातिवाचक शब्द के साथ विरोध होने से विरोधाभास का उदाहरण है।) ॥ 299 ॥

2. जाति से गुण का विरोध होने पर विरोध अलंकार का उदाहरण—

हे राजन् ! आपके सम्मुख पर्वत भी नीचे हो जाते हैं, पवन भी निश्चल, समुद्र भी गम्भीरता से रहित और पृथ्वी भी निश्चय ही अतिलघु हो जाती है। (यहाँ पर्वत आदि जातिवाचक शब्दों में अनुन्नतत्व आदि वर्णित होने से जाति का गुण के साथ विरोध बताया गया है।) ॥ 300 ॥

3. जाति से क्रिया का विरोध होने पर—

जिनके कण्ठ का आलिंगन प्राप्त करके वह तीक्ष्ण (निष्ठुर) तलवार अनुरक्त (रक्त से लाल, अनुराग युक्त) हो जाती है और किसी अनुपम स्नेह (रक्त से प्राप्त चिक्कणता, प्रीति) को प्राप्त कर लेती है, हे राजन् ! युद्ध की अभिलाषा में आसक्त मन वाले उन राजाओं को आप धूल के आवरण से अलंकृत करने का कार्य करते हैं, यह आश्चर्यजनक है। (यहाँ खड्ग जातिवाचक शब्द का अनुराग और स्नेह-प्राप्तिरूप क्रिया के साथ विरोध दिखलाया गया है।) ॥ 301 ॥

[1]सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम्।
अवसरवशतः शफरो[2] जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥ 302 ॥

---

1. जात्या द्रव्यं विरुध्यते (मू. पा. टि.)
2. मत्स्यरूपः (मू. पा. टि.)

[1]सततं मुसलासक्ता[2] बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते !
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति[3] कराः सरोजसुकुमाराः ॥ 303 ॥

[4]पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं [5]सुतत्त्वविदाम् ।
[70ब] परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत्प्रमोदयति ॥ 304 ॥

[6]क्रौञ्चोऽद्रिरुद्दामदृपत् दृढोऽसौ, यन्मार्गणानर्गलशातपाते[7] ।
अभूम्नवाम्भोजदलाभिजातः, स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥ 305 ॥

[8]परिच्छेदातीतः[9] सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपदं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥ 306 ॥

4. जाति से द्रव्य का विरोध होने पर विरोध अलंकार—

जो इस संसार का निर्माण करते हैं, रक्षा करते हैं और अनायास ही संहार कर देते हैं, वे जनार्दन भी अवसर के वशीभूत होकर मछली (मत्स्यावतार) बन जाते हैं, यह आश्चर्य की बात है। (यहाँ शफरत्व जाति का जनार्दनरूप द्रव्य से विरोध प्रदर्शित किया गया है।) ॥ 302 ॥

5. गुण से गुण का विरोध होने पर विरोधालंकार का उदाहरण—

हे राजन् ! निरन्तर मूसल में लगे रहने वाले और घर के अनेक काम करने से कठोर हुए ब्राह्मणपत्नियों के हाथ आपके होने पर कमल-सदृश सुकुमार हो गये हैं। (अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों को आपने इतना दान दिया कि उनकी पत्नियों को कार्य नहीं करना पड़ता, अतः उनके हाथ कोमल हो गये हैं। यहाँ कठिनत्व और सुकुमारत्व दोनों गुणों का विरोध वर्णित किया गया है।) ॥303॥

---

1. अत्र गुणेन गुणो विरुध्यते (मू. पा. टि.)
2. मुशलासक्ता
3. त्वयि (मू. पा. टि.)
4. अत्र गुणेन क्रिया विरुध्यते (मू. पा. टि.)
5. सुतत्व०
6. अत्र गुणेन द्रव्यं विरुध्यते (मू. पा. टि.)
7. तीक्ष्णपाते सति (मू. पा. टि.)
8. अत्र क्रियया क्रिया विरुध्यते (मू. पा. टि.)
9. परिणामरहितः (मू. पा. टि.)

6. गुण के द्वारा क्रिया का विरोध—

दुष्ट व्यक्तियों का वचन कोमल होने पर भी तत्त्वज्ञ व्यक्तियों के मन को अत्यन्त सन्तप्त करता है। सज्जन व्यक्तियों का वचन कठोर होने पर भी चन्दन के रस के समान आनन्दित करता है। (यहाँ पेशलत्व गुण का दाह–क्रिया के साथ तथा परुषत्व गुण का प्रमोदन–क्रिया के साथ विरोध लक्षित होता है। ॥ 304 ॥

7. गुण के द्वारा द्रव्य का विरोध—

विशाल चट्टानों से सुदृढ़ यह क्रौंच नामक पर्वत, जिन (परशुराम) के बाणों की अनियन्त्रित तीक्ष्ण वृष्टि से नवीन कमल-पत्र के समान कोमल हो गया, वे भार्गव (भृगुनन्दन परशुराम) सत्य ही अपूर्व (अलौकिक) पुरुष हैं। (यहाँ कोमलत्व गुण का क्रौंच द्रव्य के साथ विरोध भासित होता है।) ॥ 305 ॥

8. क्रिया के द्वारा क्रिया का विरोध—

जो परिणामरहित है, सभी वचनों (की शक्ति) से जो परे है, जो इस जन्म में कभी अनुभव का विषय नहीं बन सका, विवेक नष्ट होने से बढ़े हुए महान् अज्ञान के कारण जो गहन हो गया है, इस प्रकार का कोई (कामजन्य) विकार अन्तःकरण को जड़ बना रहा है और सन्ताप भी उत्पन्न कर रहा है ॥ 306 ॥

यहाँ जड़ बना रहा है और सन्ताप कर रहा है, इन दोनों क्रियाओं में विरोध है।

[1]अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥307॥

[2]समदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात्।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शंकरजूटापगापि[3] कालिन्दी ॥308॥

वस्तुतस्तु विरोधस्तावदेकाधिकरणासम्बद्धत्वेन[4] प्रसिद्धयोरेकाधि-

---

1. अत्र क्रियया द्रव्यं विरुध्यते (मू. पा. टि.)
2. अत्र द्रव्येन द्रव्यं विरुध्यते (मू. पा. टि.)
3. गङ्गा (मू. पा. टि.)
4. ० रणासम्बद्धत्वेन

कारणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादनम् । स च प्रतीतिसमकालमेवाविरोधबुद्धि-तिरस्कृतो भवति । कार्यकारणादिबुद्ध्यनालीढ इति यावत् ।

[7।अ] अत्र जात्यादिविरोधो धर्ममात्र ∧ स्योपलक्षणम् । तेन "शुद्ध-सत्त्वात्मनोप्यस्य येषा मूर्त्तिस्तमोमयी[1]", "[2]अगोद्धारप्रवृत्तस्य नागोद्धार-कता" [3]यथेत्यादौ सखण्डोपाधिरभावश्च सङ्गच्छते ।

शब्दत्वश्लेपमूलत्वान्यां द्विविध एवायं[4] रमणीयः । शब्दस्य द्योत-कत्वे शाब्दः अन्यत्र त्वार्थ इति प्राचीनाचार्योक्तेः । जात्यादिविरोधस्त्व-हृद्य इत्यनुसन्धेयम् ।

इति विरोधालङ्कारः ।। 30.

9. क्रिया के द्वारा द्रव्य का विरोध—

यह समुद्र जल का एक आवास है, रत्नों की खान है, ऐसा सोचकर तृष्णा से व्याकुल मन से हमने इसका आश्रय लिया । पर कौन यह जानता था कि अपने हाथ की अंजलि के भीतर समाये हुए और फड़फड़ाते हुए तिमि और मगरमच्छों वाले इस समुद्र को अगस्त्य मुनि क्षणभर में ही पी जायेंगे । (यहाँ पान क्रिया का अगस्त्य मुनि तथा समुद्ररूप द्रव्य के साथ विरोध दिखलायी देता है)।।307।।

10. द्रव्य से द्रव्य का विरोध होने पर विरोध अलंकार का उदाहरण है—

हे पृथ्वी के तिलक (राजन्) ! आपके (गंगा नदी के) तट पर उपस्थित होने पर (आपकी सेना के) मदयुक्त हाथियों का (कृष्णवर्णवाला) मदजल निकल कर नदी में मिल जाने से शिवजी के जूड़े से निकलने वाली गंगा भी (जल के कृष्णवर्ण हो जाने से) यमुना बन गयी । (यहाँ गंगा और यमुना नदीरूपी द्रव्यों का परस्पर विरोध दिखाया गया है ।) ।। 308 ।।

वस्तुतः विरोध अलंकार तो एक आश्रय से सम्बद्ध नहीं रहने वाले प्रसिद्ध दो पदार्थों का, एक आश्रय से सम्बद्ध रूप में वर्णन किया जाना है , और वह विरोध की प्रतीति उस समय होने पर भी अविरोध-ज्ञान से तिरस्कृत हो जाती

---

1. कृष्ण (मू. पा. टि.)
2. गोवर्द्धन (मू. पा. टि.)
3. कालियोद्धारकता (मू. पा. टि.)
4. ० वार्या

है। कार्यकारणभावादिज्ञान से अचुम्बित (विरोधाभास रहने पर) ही विरोध अलंकार होता है।

यहाँ (विरोध अलंकार में) जाति आदि का विरोध धर्ममात्र का उपलक्षण है (अर्थात् जाति आदि भी धर्मरूप होने से अभीष्ट अवश्य हैं, पर जाति आदि से अन्य धर्म भी ग्राह्य हैं)। अतएव "शुद्धसत्त्वात्मा होने पर भी इसकी यह जो मूर्त्ति तमोमयी (कृष्णवर्ण की) है" (यहाँ 'सत्त्वात्मनः' तथा 'तमोमयी' में विरोध है, पर तमोमयी पद का अर्थ कृष्णवर्ण करने पर विरोध का परिहार होता है।) "अगोद्धार = गोवर्द्धन पर्वत को उठाने में जो प्रवृत्त है, उसकी नागोद्धारकता = पर्वत को न उठाने वाला गुण जिस प्रकार है।" (यहाँ "अगोद्धारकत्व" तथा "नागोद्धारकत्व" में विरोध है, पर नागोद्धारकर्ता में नाग = कालियसर्प का उद्धार करने वाले, इस प्रकार अर्थ लेने पर विरोध का परिहार होता है।) इन उदाहरणों में सखण्ड उपाधि और अभाव का ग्रहण हो जाता है। (यहाँ "शुद्धसत्त्वात्मत्व" तथा "अगोद्धारकत्व" कोई जाति नहीं, अपितु केवल धर्म हैं, ऐसे धर्म को "सखण्डोपाधि" कहते हैं। (यहाँ "शुद्धसत्त्वत्व" तथा "आत्मत्व" इसी प्रकार "अगत्व" तथा "उद्धारकत्व" ये दो-दो खण्ड हैं। इसी तरह "शुद्ध-सत्वात्मत्वाभाव" तथा "अगोद्धारकत्वाभाव" भी जाति के अन्तर्गत नहीं अपितु धर्म के अन्तर्गत आते हैं। धर्म उस वस्तु को कहते हैं जो कहीं रहने वाली हो, अभाव भी कहीं रहता है, अतः धर्म है।)

शब्द के श्लेषमूलत्व होने से (शुद्ध और श्लेषमूलक इस प्रकार विरोध अलङ्कार के) ये दो भेद ही सुन्दर होते हैं। शब्द के द्योतक होने पर शाब्द विरोध होता है और अन्यत्र आर्थ विरोध होता है, यह प्राचीन आचार्यों का कथन है। जाति आदि के आधार पर विरोध अलङ्कार के भेद सुन्दर नहीं हैं, यह जानना चाहिये।

विरोध अलङ्कार समाप्त हुआ ॥ 30.

> **हेतोः[1] प्रतिषेधेऽपि व्यक्तिः कार्यस्य यत्र भवेत्।**
> **हेत्वन्तरकल्पनया न विरोधः सा विभावना भवति ॥ सू. 162 ॥**

कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिस्तत्राऽऽपाततया भासमानो विरोधः कारणान्तरकल्पनया निवर्त्त्यते। यथा—

1. हेतोः कारणस्य (मू. पा. टि.)

मीलितनयनोऽपि मुनिः पश्यति सकलं विवेकविमलमतिः ।
शरदि शशाङ्के विलसति कुवलयमङ्के स्वयं समायाति ॥ 309 ॥

अत्र पूर्वार्द्धे विलोकनकारणं चक्षुस्तदभावेऽप्युपनिबध्यमानमवलो-
[71ब] कनमापातविरुद्धमपि विवेकनैर्मल्यरूपहेतुकतया पर्यवस्य ^ति ।
अत्र त्रिशूली यत्तूक्तं कुवलयानन्दे—कारणं विना कार्योत्पत्तिरेका । कारणानामसमग्रत्वे द्वितीया । सत्यपि प्रतिबन्धके कार्योत्पत्तिस्तृतीया । अकारणात्कार्योत्पत्तिश्चतुर्थी । विरुद्धात्कार्यजन्म पंचमी । कार्यात्कारण-जन्म षष्ठी[1] ।

31. विभावना—

कारण का प्रतिषेध (अभाव) होने पर जहाँ कार्य की अभिव्यक्ति हो वह विभावना अलङ्कार होता है । अन्य हेतु की कल्पना से यहाँ विरोध नहीं रहता है ॥ सू. 162 ॥

कारण के बिना उसी स्थिति में कार्य की उत्पत्ति वर्णित होने पर, वहाँ बाहरी रूप में प्रतीत होने वाला विरोध अन्य कारण की कल्पना से दूर हो जाता है । उदाहरण जैसे—

विवेक के कारण निर्मल बुद्धियुक्त मुनि नेत्रों को बन्द रखने पर भी सब कुछ देखता है । शरद् ऋतु के चमकते चन्द्रमा के अंक में नीला कुमुद स्वयं आ जाता है ॥ 309 ॥

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में देखने का कारण नेत्र है, पर उसके अभाव में भी देखने का कार्य बताया गया है, जो प्रथम दृष्टि में विरुद्ध प्रतीत होने पर भी विवेकनैर्मल्यरूप हेतु के द्वारा (विरोध) दूर हो जाता है ।

यहाँ त्रिशूली (पण्डितराज जगन्नाथ) ने लिखा है कि "कुवलयानन्द" में छह प्रकार की विभावना बतायी गई है—1. कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, 2. कारणों की असमग्रता (अपूर्णता) में कार्य की उत्पत्ति, 3. प्रतिबन्धक विद्यमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति, 4. अकारण (अन्य कारण) से कार्य की उत्पत्ति, 5. विरुद्ध वस्तु से कार्य की उत्पत्ति और 6. कार्य से कारण की उत्पत्ति ।

---

1. ० ष्ठी

क्रमेणोदाहरणम्—

अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तस्याः पदाम्बुजम् ।
अस्त्रैस्तीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः ।।
सातपत्रं दहत्याशु प्रतापतपनस्तव ।
शंखाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम् ।।
शीतांशोः किरणा हन्त दहन्ति सुदृशो दृशौ ।
यशःपयोधिरभवत्करकल्पतरोस्तव ।।

[1]इत्यादिस्तत्रोच्यते । किमत्र विभावनासामान्यलक्षणं यस्यैते प्रकाशः । कारणं विना कार्योत्पत्तिरिति चेत् न प्रकारभेदान्तःपातित्वात् । किं च प्रथमद्वितीययोः प्रकारयोर्भेदो दुरुपपादः कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन कारणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावस्य विवक्षितत्वात् । एवं [72अ] प्रतिबन्धकमपि कारणाभाव एव, प्रतिबन्धकाभाऽवस्य कारणत्वात् । इति तृतीयोऽपि भेदो न विलक्षणः । चतुर्थेऽपि भेदे कारणाभाव आर्थः । "शंखाद्वीणानिनादोयमि" त्युक्ते वीणां विनैवेति प्रत्ययादवैलक्षण्यम् । तस्माद्भेदषट्कोपपादनमनुपपन्नम् ।

इनके क्रम से उदाहरण दिये गये हैं—

1. उसके चरणकमल लाक्षारस न लगाने पर भी लाल हैं ।
2. कामदेव अतीक्ष्ण और कोमल अस्त्रों से जगत् पर विजय पाता है ।
3. आपका प्रतापरूपी सूर्य छत्रधारी को शीघ्र जलाता है ।
4. शंख से यह वीणा की ध्वनि उत्पन्न हो रही है, यह बहुत अद्भुत है ।
5. खेद है कि चन्द्रमा की किरणें सुनयना के नेत्रों को जला रही हैं ।
6. आपके हाथरूपी कल्पवृक्ष से यशरूपी समुद्र उत्पन्न हुआ ।

इत्यादि उदाहरण यहाँ दिये गये हैं । जिस (विभावना) के ये प्रकार बताये गये हैं उस विभावना का सामान्य लक्षण क्या है ? "कारण के विना कार्य की उत्पत्ति" यदि यह लक्षण माना जाये तो उपर्युक्त छह प्रकार के भेद इसके अन्तर्गत नहीं आयेंगे । इसके अतिरिक्त प्रथम और द्वितीय प्रकारों में भेद प्रमाणित नहीं होता है क्योंकि कारणता के अवच्छेदक (परिचायक या निर्धारक) सम्बन्ध से, कारण के अवच्छेदक (धर्म से अवच्छिन्न) विशिष्ट प्रतियोगिताक

1. पाण्डुलिपि में "तव" और "इत्यादि" में सन्धि करके "तवेत्यादि" पाठ दिया है ।

(तदनुरूपक) अभाव का कहना अभीष्ट है। (प्रथम उदाहरण में कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध संयोग है और धर्म लाक्षारसत्व है, अतः यहाँ संयोग सम्बन्ध से लाक्षारसत्व से युक्त कारण का अभाव वर्णित होने से विभावना होती है। द्वितीय उदाहरण में जगत्-विजय का कारण तीक्ष्णता और कठोरता से युक्त अस्त्र ही है अतः तीक्ष्ण तथा कोमल अस्त्रों के रहने पर भी तीक्ष्णत्व और कठोरत्व अस्त्रस्वरूप कारणतावच्छेदक धर्म से युक्त कारण का अभाव वर्णित होने से दोनों प्रकारों में भेद नहीं रह पाता है)। इसी प्रकार प्रतिबन्धक भी कारण का अभाव ही है क्योंकि प्रतिबन्धक का अभाव (कार्यमात्र के प्रति) कारण है। अतः कुवलयानन्दकार के द्वारा कथित तृतीय भेद ("प्रतिबन्धक रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति") भी विलक्षण (भिन्न) नहीं है। चतुर्थ भेद भी आर्थ कारणाभाव है। "शंख से यह वीणा की ध्वनि उत्पन्न हो रही है", यह कहने पर वीणा के बिना ही (वीणा की ध्वनि हो रही है) यह अर्थ प्रतीत होने से यहाँ भी विलक्षणता नहीं है। इस प्रकार छह प्रकार की विभावना कहना युक्तियुक्त नहीं है।

तदेवं समर्थनीयं विनापि कारणं कार्यजन्मेति विभावना सामान्यं लक्षणम्। सा द्विधा—शाब्दी आर्थी च। आद्या त्रिविधा—प्रतिबन्धकातिरिक्तकारणव्यक्तिप्रतियोगिकाभावोक्तिपूर्विका कार्याभाववैकल्योक्तिपूर्विका प्रतिबन्धकोक्तिपूर्विका[1] चेति। आर्थ्यपि त्रिधा—प्रकृतकार्यसमानजातीयकार्यान्तरस्य कारणात्, प्रकृतकार्यविरुद्धकार्यस्य कारणात्, स्वकार्याद्वा प्रकृतकार्यस्योत्पत्तिः।

विभावना द्विधा—उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता च। आद्या यथा—

कटिः क्षीणा मन्दं हसितमसिता वीक्षणगतिः।
प्रवालान्तःपाति स्फुरति च यदास्याधरतलम्।
तदाद्याभीरीणां हृदयमनलेनाननुगतं
मुहुस्ताम्यत्यन्तर्ज्वलदिव मनो मुह्यतितराम् ॥310॥

[72ब] यथा वा—

विना विषं मूर्च्छयति स्म यूनां,
मनो मृगाक्षी हसितेन मन्दम्।
अतः परं यौवनभाविताङ्गी,
सर्वाङ्गमन्तर्दहतीति युक्तम् ॥311॥

1. ०पूर्वका

द्वितीया यथा—

विनातपत्रं भवता नृपाणां नरेश[1] संतप्यमपाकृत यत् ।
प्रचण्डदण्डेप्यनुरज्य राजन् राजन्वतीमेतु जनस्ततो गाम् ॥312॥

इति विभावना ॥31.

कुवलयानन्दकार के कथन का इस प्रकार समर्थन करना चाहिए कि "कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति" यह विभावना का सामान्य लक्षण है । यह (विभावना) दो प्रकार की है—1. शाब्दी (जहाँ शब्द के द्वारा कारणाभाव का वर्णन हो), और 2. आर्थी (जहाँ कारणाभाव अर्थ से ज्ञात हो) । प्रथम (शाब्दी विभावना) तीन प्रकार की है—1. प्रतिबन्धकातिरिक्तकारणव्यक्तिप्रतियोगिकाभावोक्तिपूर्विका (कारण के अभाव का वर्णन प्रतिबन्धक के रूप में न होकर कारणरूप वस्तु के अभाव का वर्णन ।)2. कार्य के अभाव की कमी (कारणगत जिस विशेष के कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकी है उस कमी) की उक्तिपूर्विका विभावना, 3. प्रतिबन्धक की उक्तिपूर्विका (प्रतिबन्धक रूप में कार्य की उत्पत्ति) । आर्थी विभावना भी तीन प्रकार की है—1. प्रस्तुत कार्य के समानजातीय अन्य कार्य के कारण से (कार्य की उत्पत्ति), 2. प्रस्तुत कार्य से विरुद्ध कार्य के कारण से (कार्य की उत्पत्ति), 3. अपने कार्य से ही प्रकृत कार्य की उत्पत्ति ।

विभावना दो प्रकार की है–1. उक्तनिमित्ता और 2. अनुक्तनिमित्ता ।
प्रथम (उक्तनिमित्ता) का उदाहरण यथा—

जब क्षीण कटि, मन्द हास्य, नीले नेत्र, मुख पर ओष्ठ जैसे प्रवाल (किसलय) समाविष्ट होकर स्थित हैं तब से लेकर आभीर जाति की स्त्रियों के हृदय अग्नि के बिना ही बार-बार पीड़ित होते हैं, भीतर से जले हुए के समान मन और भी अधिक उद्विग्न हो जाता है । (यहाँ पर क्षीण कटि, मंद हास्य, नीले नेत्र, किसलय जैसे ओष्ठ रूप निमित्त उक्त हैं, जिससे बिना अग्नि के ही आभीर जाति की स्त्रियों के हृदय पीड़ित होते हैं और उद्विग्न होते हैं ॥310॥

अथवा जैसे उदाहरण—

मृग के सदृश नेत्रों वाली नायिका धीरे से हँसकर युवकों के मन को बिना विष के ही मूर्च्छित कर देती थी । इसके पश्चात् यौवन से युक्त अंगों वाली होने

---

1. हे (मू. पा. टि.)

पर अब लज्जा के साथ अन्तःकरण को जलाती है, यह उचित है। (यहाँ मंद हँसना रूप निमित्त उक्त है जिससे विना विष के भी युवकों का मन मूर्च्छित होता है।) ॥311॥

द्वितीय (अनुक्तनिमित्ता विभावना) का उदाहरण है—

हे राजन्! आपके द्वारा विना छत्र के राजाओं को पीड़ित करके दूर कर दिया गया। हे राजन्! प्रचण्ड दण्ड होने पर भी आपके प्रति अनुरक्त होकर अब लोग राजन्वती (श्रेष्ठ राजा से युक्त) पृथ्वी को प्राप्त करें ॥312॥

विभावना अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥31.

कारणकलापसत्त्वे[1] कार्यानुत्पत्तिरभिहिता कविभिः।
[2]दृष्टा न विशेषोक्तिर्गुणहानौ साम्यदार्ढ्यं तु ॥सू.163॥

एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यमिति वामनः। यथा–"द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्" तदेतन्नातीव युक्तिसहम्। द्यूते राज्यस्य तादात्म्यारोपे सिंहासनराहित्यकल्पना दृढारोपरूपकस्यैव युक्तत्वात्। उदाहरणम्—

साधुमुखकमलवासितमापीतमपीह कर्णपर्णपुटैः।
हरिनामामृतमसकृत्तथापि नो तृप्तये भवति ॥313॥

यथा वा—

श्रुतिशतनिर्णीतमिदं जगदखिलमसत्यमेव बुधाः।
अनुभूयतेऽपि हा हा तथापि नासक्तिरपयाति ॥314॥

[73अ] इति विशेषोक्तिः ॥32.॥

32. विशेषोक्ति—

कवियों के द्वारा कारण-समूह वर्तमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति का कथन न करना (विशेषोक्ति है)। "गुण (धर्मविशेष) के अभाव की कल्पना करके सादृश्य की दृढ़ता" में विशेषोक्ति नहीं है ॥सू.163॥

आचार्य वामन का कथन है कि एक गुण (धर्मविशेष) के अभाव की कल्पना में साम्य की दृढ़ता (विशेषोक्ति) है। जैसे—जुआ पुरुष के लिये सिंहासन-

1. ०त्वे
2. द्र०

रहित राज्य है" । यह युक्तिसंगत नहीं है । यूत में राज्य का तादात्म्य सम्बन्ध से आरोप होने पर (राज्य में भी) सिंहासनराहित्य की कल्पना की गयी है, अतः यहाँ दृढ़ारोप रूपक कहना ही उचित है (विशेषोक्ति नहीं) । (विशेषोक्ति का उदाहरण है—

इस संसार में सज्जन–पुरुष के मुख–मकल से सुगन्धित, कानों रूपी पत्तों के दोनों से बार-बार पान किया हुआ होने पर भी हरिनामामृत हमारी तृप्ति के लिये नहीं होता है । (प्रभु का नाम बार-बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती।) ।।313।।

अथवा अन्य उदाहरण—

सैकड़ों श्रुति–वाक्यों से निश्चय किया है कि यह समस्त जगत् असत्य है, विद्वज्जन इसका अनुभव भी करते हैं । परन्तु खेद है कि इसमें आसक्ति दूर नहीं होती । (यहाँ आसक्ति दूर होने का कारण वर्णित होने पर भी आसक्ति दूर होने रूप कार्य नहीं होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है ।) ।। 314 ।।

विशेषोक्ति अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ।। 32.

वैयधिकरण्यमुभयोर्विरुद्धमिव हेतुकार्ययोर्यत्र सू. ।। 164 ।।

श्रुत्यन्तचारिनयनं मुवितः केशेष्वसङ्गतिः सेयम ।।

यथा वा—

भ्रुवा पौष्यं चापं नमयति दृशान्यस्यति शरान्
समक्षं सर्वेषामियमतुललावण्यवसतिः ।
स्मरस्ताम्यन् [1]वाणैर्मम हृदयविश्रामपदवीं
[2]तितिक्षन् न क्षान्ति व्रजति कथमद्याप्यनुपदम् ।। 315 ।।

पूर्वोदाहरणे श्लेषमूला, अत्र तु विभावनादिसम्वलिता शुद्धैव[3] चमत्कारहेतुः ।

"समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनमसङ्गति-स्तद्विपरीतो विरोधालङ्कारः" इति कश्चित् ।

इत्यसंगतिः ।। 33.

---

1. वा०
2. तितक्ष०
3. असंगतिः (मू. पा. टि.)

33. असङ्गति—

जहाँ कारण व कार्य की भिन्नदेशता होने पर दोनों विरुद्ध के समान प्रतीत होते हैं, वहीं यह असङ्गति है ॥ सू. 164 ॥

जैसे—(नायिका के) श्रुत्यन्त (वेदान्त, कानों के छोर) का परिशीलन (अभ्यास, स्पर्श) करने वाले नयन हैं, किन्तु केशों में मुक्ति होती है। (यहाँ श्रुत्यन्तचारिनयन कारण हैं तथा केशों में मुक्ति कार्य है जो भिन्नदेशता से संयुक्त है और विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। पर "नयनों के वेदान्त का परिशीलन करने से केश मुक्त हो जाते हैं" इस अर्थ का अनुसंधान करने पर विरोध समाप्त हो जाता है।)

अथवा दूसरा उदाहरण—

यह अनुपम लावण्य की वासस्थली (नायिका) सभी के सम्मुख भौंहों के द्वारा पुष्प-धनुष को तानती है, नेत्रों से बाण छोड़ती है। कामदेव मन में सन्तप्त होता हुआ, अपने बाणों से मेरे हृदय के विश्राम-मार्ग को छोड़ने की इच्छा करते हुए भी किसी प्रकार अब भी पद-पद पर धैर्य धारण नहीं करता है ॥ 315 ॥

प्रथम उदाहरण "श्रुत्यन्तचारि" इत्यादि में श्लेषमूला असंगति है (यहाँ श्रुति पद श्लिष्ट है)। प्रस्तुत ("भ्रुवा" इत्यादि उदाहरण) में विभावना आदि से युक्त शुद्धा असंगति ही चमत्कार का कारण है।

किसी विद्वान् (पण्डितराज जगन्नाथ) का कथन है कि यदि दो पदार्थ एक आधार में रहने के लिये प्रसिद्ध हों और उन दो पदार्थों को भिन्न-भिन्न आधारों में वर्णित किया जाये तो असंगति अलंकार होता है। और इसके विपरीत होने पर (अर्थात् दो पदार्थ भिन्न-भिन्न आधारों में रहने के लिये प्रसिद्ध हों और उन दो पदार्थों की स्थिति एक आधार में वर्णित हो तो) विरोधालंकार होता है।

असंगति अलंकार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 33.

अनुरूपः संसर्गः सममसमं तद्विलोमेन ॥ सू. 165 ॥

अनुरूपमिति योग्यतायां[1], अनुरूपं यत्र न विद्यत इति त्वसमं युक्तमिदमिति लौकिकव्यवहारागोचरत्वमित्यर्थः। उत्पत्तिलक्षणः संयोगादिलक्षणश्च द्विधा संसर्गः। तत्र समं यथा गङ्गाधरे—

[2]मन्त्रार्पितहविर्दीप्तहुताशनतनूभुवः।
[73 ब] शिखास्पर्शेन पाञ्चाल्या [:] स्थाने दग्धः सुयोधनः ॥316 ॥

---

1. सम.लङ्कार (मू. पा. टि.) 2. मन्त्रापित०

इति समालङ्कारः ।। 34.

असमो यथा—

राकासुधाकरसहोदरता मुखस्य
व्यक्ता करस्य कमलेन तुला तथापि ।
त्वत्तः कथं कथय वागियमग्निकल्पा
जाता लिपिश्च कठिना मम दाहहेतुः ।। 317 ।।

इत्यसमालङ्कारः ।। 35.

34.सम तथा 35. असम अलङ्कार—

लोक-व्यवहार के अनुरूप (योग्य) सम्बन्ध समालङ्कार होता है और इसके विपरीत (अननुरूप सम्बन्ध) को असम अलङ्कार कहते हैं ।। सू. 165 ।।

लोक व्यवहार के अनुरूप से अभिप्राय है—योग्यता होने पर समालंकार होता है और जहाँ अनुरूप नहीं होता वह असमालंकार होता है । संसर्ग दो प्रकार का होता है—उत्पत्ति रूप और संयोगादि रूप । सम अलंकार का उदाहरण "रसगङ्गाधर" के अनुसार है—

मन्त्रों के साथ दी गयी हवि से प्रदीप्त अग्नि के शरीर से उत्पन्न द्रौपदी की शिखा (चोटी) के स्पर्श से दुर्योधन उचित ही दग्ध हुआ । (अग्नि की शिखा के स्पर्श से दाह होता है उसी प्रकार अग्नि से उत्पन्न द्रौपदी की शिखा—चोटी के स्पर्श से भी दाह होना उचित है, क्योंकि कारण का गुण कार्य में भी होता है । यहाँ लोक व्यवहार के अनुरूप सम्बन्ध होने से समालंकार है ।) ।। 316 ।।

समालङ्कार समाप्त हुआ ।। 34.

असमालंकार का उदाहरण—

मुख की सहोदरता (समानता) पूर्णिमा के चन्द्रमा से और हाथ की तुलना कमल से व्यक्त है । फिर भी कहो कैसे तुमसे अग्नि के समान यह वाणी और मेरे दाह की हेतु यह कठिन लिपि उत्पन्न हुयी । (पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख और कमल के समान हाथ कोमल व सुन्दर होने पर उससे अग्नि के समान वाणी और दाहक कठोर लिपि की उत्पत्ति प्रतिकूल होने के कारण आश्चर्यकारी है ।)
।। 317 ।।

असमालङ्कार समाप्त हुआ ।। 35.

अन्यतरस्याधिक्यादाधाराधेययोरधिकम्[1] ॥ सू. 166 ॥

तत्र आधेयाधिक्यं यथा गङ्गाधरे—

लोकानां विपदं धुनोपि, तनुपे संपत्तिमत्युत्कटा—
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल मा गा मदम् ।
यत्कीर्त्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डभाण्डोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतामपि तनुं कष्टेन हा वर्त्तते ॥ 318 ॥

अत्र कीर्त्तेराधेयाया महत्त्वे[2], तेन च व्याजस्तुतिः पुष्टा भवति ।

गिरामविपयो राजन् विस्तारस्तव चेतसः ।
सावकाशतया यत्र शेते विश्वाश्रयो हरिः ॥ 319 ॥

अत्राधारस्याधिक्यम् ।
इत्यधि [का] लङ्कार : ॥ 36.

इष्टविपरीतकल्पनमिष्टार्थं तद्विचित्रमिह ॥ सू. 167 ॥

विपरीतकल्पनं प्रतिकूलताप्रकटीकरणम् ।

[74 अ] बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते ऽकर्मपाशान्
अन्तः शान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्तां भजन्ति ।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः
सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजां नराणाम् ॥ 320 ॥

इति विचित्रम् ॥ 37.

उपकारोन्योन्यस्यान्योन्यम् ॥ सू. 168 ॥

उपकारो गुणक्रियादिरूपविशेपाधानम् ।

श्रमसलिलकणमाला अपि तनुकान्तिसुवर्णं परस्परं रुचिमुदञ्चयति ।
कुवलयानन्दे तूदाहृतम्—

यथोर्ध्वाक्षः पिवत्यम्बु पथिको विरलांगुलिः ।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम्[3] ॥ 321 ॥

इत्यन्योन्यालङ्कारः ॥ 38.

---

1. अधिकमित्यधिकालंकार इत्यर्थः (मू. पा. टि.)
1. ०त्वं
3. सूक्ष्मां (मू. पा. टि.)

36. अधिकालङ्कार—

आधार और आधेय में से किसी एक का आधिक्य वर्णित होने पर अधिकालङ्कार होता है ।। सू. 166 ।।

आधेय का आधिक्य वर्णित होने पर अधिकालङ्कार का उदाहरण "रसगङ्गाधर" के अनुसार—

हे राजन् ! आप लोगों की विपत्ति को दूर करते हैं और सम्पत्ति का अत्यधिक विस्तार करते हैं, इस प्रकार की जड़ बुद्धिवाले व्यक्तियों की बड़ी-बड़ी बातों से गर्व नहीं करें। क्योंकि आपकी प्रिया कीर्त्ति इस छोटे से ब्रह्माण्डरूप पात्र (बर्तन) के भीतर अपने अत्यधिक विशाल शरीर को सिकोड़कर बहुत कष्ट से रहती है ।। 318 ।।

यहाँ कीर्त्तिरूप आधेय का महत्त्व है और उससे व्याजस्तुति पुष्ट होती है । (राजा की निन्दा के कथन द्वारा स्तुति की गयी है, अतः व्याजस्तुति अधिकालङ्कार से पुष्ट हो रहा है ।)

(अधिकालङ्कार के द्वितीय भेद, जहाँ आधार का आधिक्य होता है, उसका उदाहरण है—) हे राजन् ! तुम्हारे चित्त का विस्तार अवर्णनीय है, जिसमें समग्र विश्व को आश्रय देने वाले भगवान् पूर्ण विस्तार से सोते हैं ।। 319 ।।

इस पद्य में (राजा के चित्तरूप) आधेय का आधिक्य वर्णित है ।

अधिकालङ्कार-प्रकरण समाप्त हुआ ।। 36.

37. विचित्र—

इष्ट-सिद्धि के लिये यहाँ इष्ट के विपरीत कल्पना होने पर, वह विचित्र अलङ्कार होता है ।। सू. 167 ।।

विपरीत कल्पना का अभिप्राय है—प्रतिकूलता का प्रकटीकरण ।
उदाहरण है—

इस लोक में संसार की भ्रांति से युक्त मनुष्यों के सभी कार्य प्रमादजनित होते हैं। क्योंकि वे बन्धन-मुक्त होने के लिये यज्ञादि कर्मपाश करते हैं । अतः शान्ति के लिये सैंकड़ों मुनियों के मतों का पालन करते हैं, अत्यधिक चिन्ता करते हैं । अशुभ समुद्र को पार करने की इच्छा करते हुए तीर्थ में स्नान करते हैं । (इस उदाहरण में बन्धन से मुक्ति के लिये कर्मपाश की रचना, अन्तःशान्ति के लिये विभिन्न मतों का अनुसरण, अत्यधिक चिन्ता, अशुभ समुद्र से पार के लिये

तीर्थ-स्नान, ये कार्य इष्ट-सिद्धि के लिये होते हुए भी इष्ट के विपरीत हैं अतः यहाँ विचित्र अलङ्कार है।) ॥320॥

विचित्र अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ॥ 37.

38. अन्योन्य—

एक दूसरे का उपकार अन्योन्य अलङ्कार है ॥ सू. 168 ॥

गुण क्रिया आदि रूप विशेष आधान उपकार है। (उदाहरण है—)

परिश्रम के कारण उत्पन्न जल-बिन्दु माला और स्वर्ण के समान शरीर की कान्ति भी परस्पर शोभा उत्पन्न करते हैं।

"कुवलयानन्द" में इसका उदाहरण दिया गया है—

जिस प्रकार पथिक आँखें ऊपर करके अंगुलियों को दूर-दूर करके जल पी रहा है, उसी प्रकार प्रपापालिका (पानी पिलाने वाली नायिका) भी जलधारा को सूक्ष्म कर रही है ॥ 321 ॥

अन्योन्य अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 38.

प्रथिताश्रयं विनैवाधेयस्योक्तिविशेष इत्याहुः ॥ सू. 169 ॥

उदाहरणम्—

दिङ्मौलिषु कुसुममिव स्थितमस्य यशो विभाति धरणीन्दोः।

यथा वा रुद्रटालङ्कारे—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वंद्याः ॥ 322 ॥

अयं च निराधारत्वेन पूर्वस्तु आधारान्तरगतत्वेनोक्तः।
युगपदनेकत्र भवदेकं सोप्येकभावेन। अयं द्वितीयो विशेषः यथा—

[74अ] स्थित एव स्थितिमेपि त्व ∧ मरिमनस्यथ कवेर्वचसि।

यथा वा—

[1]सा वसइ तुज्झ हिअए सच्चियअच्छीसु[2] सा अ वअणेसु।
अम्हारिसाणं[3] सुन्दर उआसो[4] णत्थि पावाणम्[5] ॥ 323 ॥

1. सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
   अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥ इति संस्कृतम् ॥
2. सैवाक्षिषु (मू. पा. टि.)
3. अस्मादृशानां (मू. पा. टि.)
4. अवकाशः (मू. पा. टि.)
5. प्राप्नुं (मू. पा. टि.)

काव्यप्रकाशे यदपि किञ्चिद्रभसेनारभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोप्यपरो विशेषः । यथा—

[1]स्फुरदद्भुतमुत्प्रतापतापज्ज्वलनं त्वां सृजतानवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥324 ।

इति विशेषालङ्कार ॥ 39·

39. विशेष—

प्रसिद्ध आश्रय के बिना आधेय का कथन (होने पर एक प्रकार का) विशेष अलङ्कार होता है, ऐसा कहा गया है ॥ सू. 169 ॥

उदाहरण है—पृथ्वी के चन्द्रमा रूप में स्थित (राजा) की कीर्ति दिशाओं के मस्तक पर पुष्प के समान सुशोभित हो रही है । (यहां आधेय कीर्ति का प्रसिद्ध आश्रय राजा है, उस कीर्ति का दिशाओं के मस्तक रूप अन्य आधार में वर्णन किया गया है, अतः विशेषालङ्कार है ।)

अथवा अन्य उदाहरण आचार्य रुद्रट के "काव्यालङ्कार" में दिया गया है—

दिवंगत हो जाने पर भी जिनकी असीम गुणों से युक्त (काव्यरूप) वाणी कल्पान्त (प्रलय) पर्यन्त संसार को आनन्दित करती रहती है, वे कवि किस प्रकार से वन्दनीय नहीं हैं ॥ 322 ॥

यहाँ पर निराधारत्व रूप से आधेय वर्णित है और पूर्व पद्य में अन्य आधार के रूप में आधेय वर्णित है । (इस प्रकार यह विशेष अलंकार दो प्रकार का हुआ—1. प्रसिद्ध आधार से भिन्न आधार में आधेय वर्णित होने पर तथा 2. सर्वथा आधार के अभाव में ही आधेय वर्णित होने पर ।)

एक ही वस्तु की एक ही रूप से अनेक आधारों में एक साथ स्थिति वर्णित की जाये, वह दूसरे प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है । जैसे—

तुम शत्रुओं के मन में स्थित ही थे । अब कवि के वचनों में भी स्थिति प्राप्त कर ली । (यहाँ नायक रूप आधेय की स्थिति शत्रु-मन तथा कवि-वचन रूप आधारों में वर्णित की गई है, अतः विशेषालंकार का द्वितीय भेद है ।)

अथवा दूसरा उदाहरण—

वह (नायिका) तुम्हारे हृदय में रहती है, वही आंखों में और वही वचनों में रहती है । हे सुन्दर ! हम जैसी अभागिनियों के लिये कहाँ स्थान है ?
॥ 323 ॥

---

1. स्फुरदुद्भु ०

"काव्यप्रकाश" में कहा गया है कि जो कुछ शीघ्रतावश कार्य को आरम्भ करने वाला उसी प्रयत्न से दूसरे अशक्य कार्य को भी आरम्भ कर देता है वह भी अन्य (तीसरे प्रकार का) विशेष अलङ्कार है। जैसे—

अद्भुत चमकने वाले, तीव्र प्रताप के ताप को मिटाने वाले और श्रेष्ठ विद्या से सुशोभित आपका सृजन करते हुए विधाता ने पृथ्वी पर सत्य ही नवीन कामदेव, सूर्य और बृहस्पति की रचना कर दी। (यहाँ विधाता ने एक कार्य-राजा का निर्माण करते हुए दूसरे अशक्य कार्य कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पति को भी उत्पन्न कर दिया है, अतः तृतीय प्रकार का विशेषालङ्कार है।) ॥ 324 ॥

विशेषालङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 39.

अत्र जगन्नाथः—यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन हेतुना कार्यं किञ्चिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः।

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव तद्विधीयेत[1] स व्याघात इति स्मृतः॥

इति काव्यप्रकाशे उदाहृतं च—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः[2]।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः॥ 325 ॥

[75अ] अत्र जयिनीर्विरूपाक्षस्य वामलो ^ चना इति व्यतिरेकस्य प्रकाशानात्स एवालङ्कारः। न च व्यतिरेकोत्थापकतया व्याघातः अलङ्कारोत्थापकतयालङ्कारे नियमविरहात्।

[3]व्याहन्यतेऽल्पहेतुकमिष्टं व्या [घा] त इत्युक्तम्॥ सू. 170॥

भीरुरिति नयतु भुजयोः प्रियेति मा त्यजतु सहवासात्॥

इति व्याघातालङ्कारः॥ 40.

---

1. ० धीयते
2. स्त्रियः (मू. पा. टि.)
3. स्वमतमाह (मू. पा. टि)

40. व्याघात—

पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि जहाँ एक कर्त्ता के द्वारा जिस कारण से कोई कार्य सम्पन्न किया गया हो अथवा करना चाहा हो, वह अन्य कर्त्ता द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य के निष्पादन से अथवा निष्पादन की इच्छा से बिगाड़ दिया जाये, वहाँ व्याघात अलङ्कार है।

("काव्यप्रकाश" में व्याघात का लक्षण दिया है—) किसी बात को कोई जिस प्रकार से बताये, उसको अन्य कोई उसी प्रकार से बदल डाले, उसे व्याघात कहते हैं।

यह "काव्यप्रकाश" में कथित है और (राजशेखर–विरचित "विद्धशाल-भंजिका" का) उदाहरण है—

जो स्त्रियाँ (शिवजी के तृतीय) नेत्र से भस्म हुए कामदेव को अपने नेत्र (के कटाक्ष) से ही जीवित कर देती हैं, उन शिवजी को जीतने वाली मनोहर नेत्रों वाली स्त्रियों की मैं स्तुति करता हूँ ।। 325 ।

"विरूप नेत्रों वाले शिवजी को जीतने वाली वामलोचना-सुन्दर नेत्रों वाली" यहाँ व्यतिरेक का प्रकाशन होने से वही (व्यतिरेक) अलंकार है। और व्यतिरेक के उत्थापक रूप में व्याघात नहीं है, क्योंकि अलंकार का उत्थापक अलंकार ही हो, यह नियम नहीं है।

हरिप्रसाद स्वयं का मत बता रहे हैं—अल्पहेतुक इष्ट (कार्य) को जहाँ बिगाड़ दिया जाता है, उसे व्याघात कहते हैं ।। सू. 170 ।।

(नायिका कह रही है कि मैं) भीरु हूँ, ऐसा समझते हो तो अपनी भुजाओं में ले लो। मैं प्रियतमा हूँ, ऐसा समझकर सहवास को मत छोड़ो।

व्याघात अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ।। 40.

पंक्तिनिबद्धार्थानां पूर्वोत्तरयोश्च संसृष्टिः[1] ।
अनयैव शृंखलया कारणमालादयो बद्धाः ।। सू. 171 ।।

पंक्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वस्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्य वा पूर्वस्मिन्न-सकृत्प्रयुज्यमाना[2] संसृष्टिः शृंखला। आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे

1. संयोगः (मू. पा. टि.)
2. सकृदित्युच्येत तदा उपमानोपमायामतिव्याप्तिः (मू. पा. टि.)

पूर्वस्य कारणत्वे परस्य कार्यत्वं परस्य कारणत्वे पूर्वस्य कार्यत्वं वेति कारणमाला भवति। विशेषणविशेष्यभावरूपत्वे त्वेकावलीत्यादिपदार्थः। क्रमेणोदाहरणम्—

सुकृतेन लभ्यते धनमथ विद्या विनयसम्पदपि च तथा।
[1]तेञ्च यशो भुवनेऽस्मिन् तेन[2] च नित्यो भवेन्नाकः ॥ 326 ॥

काव्यप्रकाशे—

[75 ब] जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ 327 ॥

यथा च भारते—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न दिशन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मः सत्यपथादपेतो
न तत्सत्यं यत् च्छलेनानुविद्धम् ॥ 328 ॥

पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति विशेष्यत्वे विशेषणत्वे च द्विधैवैकावली। अत्र पूर्वः पूर्वः परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूपस्तदा मालादीपकव्यवहारः। "दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते" इति तु भ्रममात्रम्।

इत्येकावली ॥ 42.[3]

शृंखलामूलक अलङ्कार—41. कारणमाला, 42. एकावली—

---

1. धनादिभिः (मू. पा. टि.)
2. यशसा (मू. पा. टि.)
3. इति शृंखला 41 कारणमाला 42 एकावली 43 एवं त्रयोलङ्काराः (मू. पा. टि.)

*पाण्डुलिपि की पादटिप्पणी में अलङ्कारों की संख्या लिखते हुए "शृंखला" को अलग अलङ्कार मान लिया गया है और आगे भी अलङ्कारों में इसी क्रम से संख्या लिखी है। परन्तु उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यहाँ शृंखला-मूलक अलङ्कारों का वर्णन किया जा रहा है, अतः यह स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं है। अलङ्कार-संख्या को लिपिकार की भूल मानकर यहाँ आगे तक संख्या क्रम ठीक कर दिया गया है।

पंक्तिरूप में निबद्ध अर्थों में पूर्व और उत्तर (अर्थों) का परस्पर संयोग "संसृष्टि" कहलाता है। कारणमाला आदि इसी शृंखला से सम्बद्ध होते हैं।
॥ सू. 171 ॥

पंक्तिरूप में निबद्ध (वर्णित) अर्थों में पूर्व अर्थ का उत्तर अर्थ में अथवा उत्तर अर्थ का पूर्व अर्थ में बार-बार प्रयुक्त संसृष्टि (संयोग) शृंखला अलङ्कार है। (शृंखला में ही) अनुरूपता(संयोग) के कार्यकारणभावरूप होने पर, पूर्व के कारण होने पर, पर (उत्तर) कार्य हो, पर के कारण होने पर पूर्व कार्य हो तो कारण-माला अलंकार होता है। (शृंखला में ही) विशेषण—विशेष्यभाव (सम्बन्ध) होने पर एकावली इत्यादि अलंकार होते हैं। क्रम से उदाहरण हैं—

अच्छे कार्य से धन प्राप्त होता है, तब विद्या, विनय और उसी प्रकार सम्पत्ति भी प्राप्त होती है। उन धन आदि से इस लोक में यश मिलता है और उस यश से स्वर्गलोक नित्य सुलभ हो जाता है ॥ 326 ॥

"काव्यप्रकाश" में दिया गया उदाहरण है—

जितेन्द्रियता विनय का कारण है, विनय से गुणप्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणप्रकर्ष से लोगों का अनुराग होता है और लोगों के अनुराग से सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं।
॥ 327 ॥

(यहाँ दोनों उदाहरण में पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर की हेतुता वर्णित होने से कारणमाला अलङ्कार है।)

"महाभारत" में दिया गया पद्य उदाहरण के रूप में है—

वह सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध नहीं हैं। वे वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म का उपदेश नहीं देते। वह धर्म नहीं है, जो सत्यपथ से हट कर हो। वह सत्य नहीं है, जो छल से संयुक्त हो ॥ 328 ॥

पूर्व—पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति विशेष्यत्व तथा विशेषणत्व होने पर एकावली के दो भेद हो जाते हैं। यहाँ पूर्व—पूर्व के द्वारा किये जाने वाला पर (उत्तर) का उपकार यदि एक रूप हो तब इसे माला दीपक शब्द से व्यवहार किया जाता है। "दीपक और एकावली के योग से मालादीपक बनता है," (कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित का) यह कथन केवल भ्रममात्र है।

(शृंखलामूलक कारणमाला ॥ 41. तथा) एकावली अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 42.

यत्रोत्तरोत्तरं स्यादुत्कर्षो भवति तत्सारम् ॥ सू. 172 ॥
वसुधासारं सौधंसौधे तल्पं वराङ्गना तत्र ॥

यथा वा—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा[1] सा परागतिः ॥ 329 ॥

इति सारः ॥ 43.

हेतोर्वाक्यं पदार्थत्वे[2] काव्यलिङ्गं जगुर्बुधाः[3] ॥ सू. 173 ॥

उदाहृतं च तैरेव—

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे[4] ! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
[76 ग्र] नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेप्यनतिभाग्
महेश[5] ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥ 330 ॥

अनेक पदार्थता यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै—
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥ 331 ॥

एकपदार्थता यथा—

भस्मोद्धूलन[6] ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले[7] ! शुभं
हा सोपानपरम्परा[8] [9]गिरीसुताकान्तालयालङ्कृतिम् ।

---

1. ० ष्ठा
2. वाक्यार्थत्वे एकपदार्थत्वेऽनेकपदार्थत्वे च (मू. पा. टि.)
3. मम्मटभट्टाः (मू. पा. टि.)
4. हे (मू. पा. टि.)
5. हे (मू. पा. टि.)
6. हे (मू. पा. टि.)
7. हे (मू. पा. टि.)
8. पर्वतसम्बन्धिनी (मू. पा. टि.)
9. गिरीसुताका०

अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा—
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।। 332 ।।

अत्र महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं क्रममुक्तरूपत्वे हेतुः ।

"अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यामनालिङ्गितःप्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गमिति जगन्नाथः ।

"वैचित्र्यात्मनो विच्छित्तिविशेषस्याभावात्काव्यलिङ्गं नालङ्कार" इति कश्चित् ।[1]

इति काव्यलिङ्गम् ।। 44.

43. सार—

जहाँ उत्तरोत्तर का उत्कर्ष वर्णित हो वह सार नामक अलंकार होता है ।।सू.172।।

जैसे—पृथ्वी का सार महल, महल में पलंग, वहाँ (पलंग का भी सार) वरांगना है ।

अथवा जैसे—महत्तत्व से अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, अव्यक्त प्रकृति से पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुष से श्रेष्ठ कुछ नहीं है । वही (पुरुष) चरमसीमा है, वही परमगति है ।।329।।

सार नामक अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ।।43.

44. काव्यलिङ्ग—

हेतु के वाक्यार्थता, एक पदार्थरूप और अनेक कथन रूप होने पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है, यह विद्वान् (मम्मट भट्ट) का कहना है ।।सू.173।।

उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण ही दिये जा रहे हैं—

हे शिव ! इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान हो जाता है कि पूर्वजन्म में (मैंने) प्रायः कभी भी आपको प्रणाम नहीं किया । अब (इस जन्म में) प्रणाम करने से मैं मुक्त हो जाऊँगा, अतः शरीर नहीं रहने से आगे जन्म में भी प्रणाम नहीं कर सकूँगा । इसलिये हे महेश ! (मेरे) इन दोनों अपराधों को क्षमा करना । (यहाँ अपराधद्वय का हेतु "पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्" और "अग्रेऽप्यनतिभाक्" इन दोनों का वाक्यार्थ है, अतः काव्यलिङ्ग का उदाहरण है ।।330।।

---

1. कश्चिदिति ग्रन्थकारः (मू. पा. टि.)

(हेतु के) अनेकपदार्थरूप होने पर (काव्यलिङ्ग का उदाहरण)—

(भवभूति के "मालतीमाधव" में माधव का कथन–) जो (मालती) स्नेही सखियों के द्वारा क्रीडा में परिहास से फैंके गये कोमल शिरीष पुष्पों की चोट से ही व्याकुल हो जाती है, उसके शरीर पर वध के लिये शस्त्र उठाने वाले तुम्हारे सिर पर अनायास ही यमदण्ड के सदृश यह (मेरा) हाथ गिरे। (यहाँ भुजपात का हेतु "वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतः"–ये अनेक पद हैं। मुख्य क्रिया के अभाव में ये पद वाक्य नहीं है। अनेकपदार्थरूप में हेतु होने से तथा शस्त्र उठाना भुजपात में हेतु होने से यह काव्यलिंग का उदाहरण है।) ॥331॥

(हेतु के) एक पदार्थरूप होने पर (काव्यलिंग) जैसे—

हे भस्मलेपन! आपका कल्याण हो। हे रुद्राक्षमाला! तुम्हारा शुभ हो। हाय पार्वती के सुन्दर भवन की अलंकरणभूत सीढ़ियों! (तुम्हारे प्रति खेद है।) आज आराधना से संन्तुष्ट हुए शिवजी तुम सबकी सेवा के सुखरूपी प्रकाश को नष्ट कर देने वाले मोक्षनामक महान्धकार में हम सबको डाले जा रहे हैं (अतः सबसे विदा माँग रहे हैं ॥332॥

यहाँ महामोह में सुख के प्रकाश का नाशकत्व क्रममुक्तरूपत्व हेतु है, अतः काव्यलिंग अलङ्कार है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्यलिंग का लक्षण दिया है–जो अनुमिति के कारणरूप से और सामान्य एवं विशेष से युक्त न हो, ऐसे प्रस्तुत अर्थ के उपपादक (सयुक्तिक सिद्ध करने वाले) के रूप में विवक्षित अर्थविशेष काव्यलिंग अलङ्कार है।

किसी ग्रन्थकार का कथन है कि विचित्रतारूप विच्छित्ति विशेष(कविप्रतिभा से निर्मित होने के कारण उत्पन्न चमत्कार-विशेष) का अभाव होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार नहीं है।

काव्यलिंग अलंकार का निरूपण समाप्त हुआ ॥44.

सामान्येन विशेषो यत्र विशेषेण सामान्यं।
[76ब] उभयं समर्थ्यमानं क्रमेणार्थान्त ^ रन्यासः ॥सू.174॥

यथा गङ्गाधरे—

करिकुम्भतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभिर्विशृंखलैः।
कथमालि शृणोषि सादरं विपरीतग्रहणा हि योषितः ॥333॥

अत्र संबोध्य भ्रान्तत्वरूपस्य विशेषस्य सामान्यं समर्थकम् । यथा वा ममैव—

> हरिपदनखतां वदन्ति लोकाः
> शशिनि यथा क्रममुद्गते तरुभ्यः ।
> यदि तव हृदि निश्चयस्तथा चे-
> त्किमु न विवेकबहिष्कृता वदन्ति ।।334।।

> आपद्गतोऽपि गुणवान् परोपकारं न जातु सत्यजति ।
> अपि [1]मूर्च्छितोऽपि रोगानपहरति रसः प्रसिद्धमिदम् ।।335।।

अत्रापद्गतगुणवत् कर्तृकोपकारस्य सामान्यस्य मूर्च्छितपारदकर्तृ-रोगापहरणरूपविशेषसमर्थ्यत्वम् ।

इत्यर्थान्तरन्यासः ।।45.

अनुमितिकरणं तत्रानुमानमेके वदन्ति बुधाः [2] ।। सू. 175 ।।

यथा—

> अस्याः कोऽपि विलासो मनसो[3] दृशश्च चपलत [य]ा व्यक्तम् ।

यथा वा—

[77अ] रिपुकुलतमोऽविनष्टं[4] दरविकशितमेति साधुहृन्नलिनम् ।
तन्मन्ये क्षितिपाल[5] प्रभातमुपयाति ते प्रतापरविः ।।336।।

इत्यनुमानम् ।। 46.

45. अर्थान्तरन्यास—

जहाँ सामान्य के द्वारा विशेष अथवा विशेष के द्वारा सामान्य, दोनों का दोनों प्रकार से समर्थन किया जाये, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।। सू.174 ।।

जैसे "रसगङ्गाधर" का उदाहरण—

---

1. मूर्द्वि०
2. वुधाः
3. नसि
4. ०निष्टं
5. हे (मू. पा. टि.)

हे नारि ! उच्छृङ्खल कवियों के द्वारा की जाने वाली हाथी के कुम्भ से अपने स्तनों की तुलना को आदरपूर्वक किस प्रकार सुनती हो ? निश्चय ही स्त्रियाँ विपरीतज्ञानयुक्त (भ्रान्त) होती हैं ।। 333 ।।

यहाँ संबोध्य (स्त्री विशेष) की भ्रान्तिरूप विशेष का सामान्य (स्त्रीत्वहेतुक भ्रान्ति) के द्वारा समर्थन किया गया है । अथवा जैसे मेरा (हरिप्रसादरचित) ही उदाहरण है—

जैसे पेड़ों से क्रम से चन्द्रमा के उदित होने पर लोग उसे हरि के पद के नख का प्रकाश कहते हैं । यदि तुम्हारे हृदय में भी ऐसा ही निश्चय हो तो विवेक से रहित लोग क्या नहीं कहते ? ।। 334 ।।

गुणवान् व्यक्ति आपत्तिग्रस्त होने पर भी कभी भी परोपकार को नहीं छोड़ता । मूच्छित होकर भी पारा रोगों को दूर करता है, यह प्रसिद्ध है ।।335।।

यहाँ आपन्तिग्रस्त गुणयुक्त व्यक्ति के द्वारा किये गये उपकाररूप सामान्य का, मूच्छित पारे के द्वारा किये गये रोगों के अपहरणरूप विशेष के द्वारा समर्थन किया गया है ।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ।। 45.

46. अनुमान—

अनुमितिरूप (ज्ञानविशेष) का असाधारण कारण अनुमान कहलाता है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ।। सू. 175 ।।

उदाहरण जैसे—

इस (नायिका) का कोई विलास है जो मन और नेत्रों की चपलता से व्यक्त हो रहा है ।

अथवा अन्य उदाहरण—

हे पृथ्वीपालक ! शत्रुकुलरूपी अंधकार नष्ट हो गया, सज्जन-हृदय रूपी कमल थोड़ा विकास प्राप्त कर रहा है । इस कारण से मैं मानता हूँ कि आपका प्रतापरूपी सूर्य प्रभात की ओर अग्रसर हो रहा है ।। 336 ।।

(उक्त पद्य में "जब सूर्य प्रभातोन्मुख होता है तो अंधकार का नाश होता है और कमल विकसित होता है", इस व्याप्ति के आधार पर राजा के प्रताप—सूर्य की प्रभातोन्मुखता के साथ अंधकार आदि की व्याप्ति निश्चित होती है। तब "अभी आपका प्रताप-सूर्य प्रभातोन्मुख है क्योंकि शत्रुकुल रूपी अंधकार नष्ट हो गया है

और सज्जन रूपी कमल का विकास हो गया है" इस प्रकार की अनुमिति होती है। अतः यहाँ अनुमान अलङ्कार है।)

अनुमान अलङ्कार समाप्त हुआ ।।46.

अर्थानां सम्बन्धो भवति यथासंख्यमेव तथा[1] ।। सू. 176 ।।

यथा—

अतियौवनेन शङ्कितमतिरूपेणापि लुब्धमबलायाः[2] ।
त्वामवलोक्य दृगब्जं सङ्कुचितं भवति फुल्लं च ।।337।।

यथा वा—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ।।338 ।।

यथा वा—

द्रुमपङ्कजविद्वांसः सर्वसन्तोषपोषकाः ।
मुधैं वहन्त हन्यन्ते कुठारहिमदुर्जनैः ।।339।।

इति यथासंख्यम् ।।47.

आधेयमेकमुक्तं यत्रानेकाधिकरणेषु ।
तद्विपरीतं[3] चान्यः पर्यायः कीर्त्तितः कविभिः ।।सू.177।।

आद्य यथा—

क्रीडित्वा जलधौ क्षणं शशिमुखे स्थित्वाथ विष्णोः पुन-
र्याता वक्षसि कौतुकेन महता पद्मेषु लीलावती ।
भ्रान्त्वाऽस्मिन् भुवने बहु क्षितिपते ते पाणिपद्मेऽधुना
विश्रान्तिं भजते रमा त्रिजगतामेकाभिरामाकृतेः ।।340।।

यथा वा—

[77ब] आलोचयितुं ^ लोकानवतीर्णा भारती भुवनम् ।
सुरसिद्धकविमुखेषु भ्रान्ता त्वयि वसति सुखवासम्।।341।।

---

1. यथासंख्यालङ्कार इत्यर्थः(मू. पा. टि.)
2. ॰मबलायाः
3. एकाधिकरणेऽनेकाधेयेऽन्यो भेदः (मू. पा. टि.)

द्वितीयो यथा—

अनुभूय कमलकोरकमालिङ्ग्य च कन्दुकं विलंघ्य घटम् ।
अधुना करिकुम्भरुचिं रुचिरामालम्बते कुचद्वन्द्वम् ॥342॥

यथा वा—

विदूरादाश्चर्यस्तिमितमय किञ्चित्परिचया-
दुदञ्चच्चाञ्चल्यं तदनु परितः स्फारितरुचि ।
गुरूणां संघाते सपदि मयि याते[1] समजनि
अपाघूर्णन्तारं नयनयुगमिन्दीवरदृशः ॥343॥

इति पर्यायः ॥48.

47. यथासंख्य—

अर्थों का सम्बन्ध यथासंख्य (संख्या के अनुसार ही) होने पर यथासंख्य अलंकार होता है ॥सू.176॥

उदाहरण जैसे—

तुम्हारी अत्यन्त युवावस्था से शंकित और अत्यन्त सौन्दर्य से लुभाया गया युवती का नेत्रकमल तुमको देखकर संकुचित और प्रफुल्लित हो रहा है॥337॥

(यहाँ संकोच और प्रफुल्लन ये दो क्रियाएँ हैं और नेत्रकमलरूप कर्ता के दो विशेषण हैं। प्रथम क्रिया 'संकोच' का प्रथम विशेषण 'अतियौवनेन शंकितम्' से युक्त कर्ता के साथ तथा द्वितीय क्रिया 'फुल्ल' का द्वितीय विशेषण "अतिरूपेणापि मुग्धम्" से युक्त कर्ता के साथ अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि अतियौवन से शंकित होने के कारण युवती के नेत्रकमल प्रफुल्लित होते हैं, इस प्रकार क्रमानुसार अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है।)

अथवा अन्य उदाहरण—

(क्रमशः) तृण, जल और सन्तोषयुक्त वृत्तिवाले मृग, मछली और सज्जनों के शिकारी, धीवर, (मछली मारने वाला) और दुर्जन संसार में विना कारण ही वैरी होते हैं। (यहाँ मृग आदि का तृण आदि तथा लुब्धक आदि के साथ क्रमशः अन्वय होने से यथासंख्य अलङ्कार है।) ॥338॥

अथवा अन्य उदाहरण—

1. प्राप्ते (मू. पा. टि)

खेद है कि सबके सन्तोष के पोषक वृक्ष, कमल और विद्वान् (क्रमशः) कुठार, पाला और दुर्जनों के द्वारा व्यर्थ ही मारे जाते हैं। (उक्त पद्य में भी द्रुम आदि का कुठार आदि के साथ अन्वय होने से यथासंख्य है।) ॥339॥

यथासंख्य अलङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥47.

48. पर्याय—

जहाँ अनेक अधिकरणों में एक आधेय ही कहा गया हो (तो एक प्रकार का) और इसके विपरीत (एक अधिकरण में अनेक आधेय कहे गये हों तो) कवियों ने अन्य (दूसरे प्रकार का) पर्याय कहा है ॥सू.177॥

प्रथम भेद, जैसे—

हे पृथ्वीपते ! लक्ष्मी समुद्र में क्रीड़ा करके, क्षणभर चन्द्र-मुख में स्थित होकर, फिर विष्णु के वक्षःस्थल पर चली गयी। महान् कौतुक से कमलों पर क्रीड़ा करती हुई इस पृथ्वी पर बहुत भ्रमण करके (वही लक्ष्मी) अब तीनों लोकों में एकमात्र अभिराम आकृति वाले आपके करकमल में विश्राम कर रही है। (उक्त पद्य में समुद्र आदि अनेक अधिकरणों में लक्ष्मीरूप एक आधेय की क्रमिक स्थिति का वर्णन होने से पर्याय का प्रथम भेद है।) ॥340॥

अथवा अन्य उदाहरण—

भारती (वाणी) लोकों (देवलोक, भूलोक आदि) को देखने के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुयी। देवताओं और सिद्ध व्यक्तियों के मुखों में (उसने) भ्रमण किया। (अब) सुख के निवास स्थानभूत तुम में निवास कर रही है। (यहाँ भी भुवन आदि अनेक अधिकरणों में भारतीरूप एक आधेय की क्रमिक स्थिति का वर्णन होने से पर्याय अलंकार का प्रथम भेद ही है।)॥341॥

द्वितीय भेद का उदाहरण, जैसे—

स्तनद्वय ने कमल-कली का अनुभव करके, गेंद का आलिंगन करके, घट को लांघकर, अब हाथी के कुंभ की उज्ज्वल शोभा का आलम्बन ले लिया। (यहाँ कुचरूप एक अधिकरण में लघु, गुरु और गुरुतर परिणामरूप आधेयों का क्रमिकत्व होने से पर्याय का द्वितीय भेद है) ॥342॥

अथवा दूसरा उदाहरण—

(विदेश से लौटने वाले नायक का अपने मित्र के प्रति कथन—) कमल के सदृश नेत्रों वाली नायिका के नेत्र-युगल दूर से मुझे देखकर आश्चर्ययुक्त हो गये,

फिर (मुझे) कुछ पहचान लेने पर उनमें चञ्चलता प्रादुर्भूत होने लगी, इसके पश्चात् (मुझे) पहचान लेने पर नेत्रों की कान्ति चारों ओर फैल गयी। फिर तुरन्त गुरुजनों के समूह में जहाँ वह (नायिका) बैठी थी मेरे उपस्थित होने पर उसकी आँखों की पुतलियाँ लज्जा से घूमने लगीं। (यहाँ नयनयुगलरूप एक अधिकरण में स्तिमितता, चांचल्य आदि आधेयों की स्थितियों का क्रमशः वर्णन होने से द्वितीय प्रकार का पर्याय अलंकार है)॥343॥

पर्याय अलंकार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥48.

परिवृत्तिर्विनिमयतः समेन विषमेण च द्विधा भवति ॥सू.178॥

परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टस्वीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिरित्यर्थः। समपरिवृत्तिर्यथा––

दत्वाङ्गं हेमाङ्गि प्राणं क्रीणासि तद्युक्तम्।

इयमुत्तमन्यूनभेदेन द्विधा। न्यूनं यथा—

अस्थिमालामयीं[1] दत्त्वा[2] मुण्डमालामयीं[3] तनुम्।
गृह्णतां त्वत्पुरस्थानां[4] को लाभः स्मरशासन[5] ॥344॥

विषमेण यथा—

दत्वा गुरुमात्मानं लघुकुचमङ्गीकरोति हरिणदृशः[6]।
[78अ] तस्मै ^ धैर्याय नमो गूनामन्तर्विवेकविकलाय ॥345॥

तत्रापि द्वितीया यथा—

किमहं कथयामि योषितामधरं बिम्बफलं समर्प्य याः।
सुरसानि हरन्ति हन्त हा विदुषां पुण्यफलानि सत्वरम् ॥346॥

इति परिवृत्तिः ॥49.

49. परिवृत्ति—

विनिमय (वस्तु के बदले वस्तु के लेन-देन) से परिवृत्ति अलंकार होता है। परिवृत्ति दो प्रकार की होती है–समपरिवृत्ति और विषमपरिवृत्ति ॥सू.178॥

1. प्राकृततनुं (मू. पा. टि.)
2. हत्वा
3. हेमवर्णी तनुं (मू. पा. टि.)
4. सेवकानां (मू. पा. टि.)
5. ते (मू. पा. टि.)
6. मृगनेत्राः (मू. पा. टि.)

दूसरे की किसी वस्तु को लेकर उसके बदले अपनी किसी वस्तु का (उसके लिये) समर्पण परिवृत्ति अलंकार होता है, यही अभिप्राय है। समपरिवृत्ति का उदाहरण जैसे—

हे स्वर्ण के सदृश अंगोंवाली ! (तुम अपने) अंग देकर (मनुष्य के) प्राण खरीद लेती हो, यह उचित ही है। (उक्त पद्य में अंग और प्राण का मूल्य समान होने से समपरिवृत्ति का उदाहरण है।)

यह (समपरिवृत्ति) उत्तम और न्यून भेद से (अर्थात् उत्तम वस्तुओं से उत्तम वस्तु की परिवृत्ति तथा न्यून वस्तुओं से न्यून वस्तु की परिवृत्ति होने पर) दो प्रकार की होती है।

(समपरिवृत्ति में उत्तम से उत्तम परिवृत्ति "दत्वाङ्ग" इत्यादि उदाहरण में बता दी गयी है क्योंकि अंग और प्राण दोनों ही उत्तम पदार्थ हैं। अब) न्यून वस्तु से न्यून वस्तु की परिवृत्ति का उदाहरण जैसे—

हे स्मरशासन (शिव) ! अस्थिमालामय शरीर को(प्राकृत शरीर) को देकर मुण्डमालामय शरीर को ग्रहण करने वाले तुम्हारे सेवकों को क्या लाभ हैं ? (यहाँ अस्थिमय शरीर और मुण्डमालामय शरीर दोनों समान हैं। अतः न्यून से न्यून का क्रयरूप समपरिवृत्ति है।) ॥ 344 ॥

विषम परिवृत्ति का उदाहरण जैसे—

अपने गुरु (आत्मा) को देकर मृग-सदृश नेत्रोंवाली के लघु कुच को स्वीकार करने वाले युवकों के अन्तर्विवेकरहित उस धैर्य को नमस्कार है ॥ 345 ॥

(विषम परिवृत्ति के भी दो भेद होते हैं—उत्तम वस्तुओं से न्यून की परिवृत्ति और न्यून वस्तुओं से उत्तम की परिवृत्ति। यहाँ उपर्युक्त श्लोक में उत्तम से न्यून क्रयरूप होने से विषम परिवृत्ति का प्रथम भेद है।) यहाँ (विषम परिवृत्ति के) भी द्वितीय भेद का उदाहरण है—

मैं स्त्रियों को क्या कहूँ, जो अधर (निकृष्ट, दन्तच्छेदरूप) बिम्बफल का समर्पण करके खेद है कि विद्वानों के सुरस (रसीले, स्वर्ग-सुखद) पुण्यफलों (पवित्र फलों, पुण्य के फलों) का शीघ्र ही हरण कर लेती हैं। (यहाँ न्यून वस्तु से उत्तम वस्तु का क्रय रूप होने से विषम परिवृत्ति का द्वितीय भेद है।)॥346॥

परिवृत्ति अलङ्कार-निरूपण समाप्त हुआ ॥ 49.

परिसंख्या सामान्यप्राप्ते व्यावृत्तिरन्यतो भवति ॥ सू. 179 ॥

यथा—

यद्यस्ति तव चिकीर्षा सेवस्व तदा गुरोश्चरणम् ।

अत्र यदिपदनिवेदितस्य[1] रागप्राप्तसेवनस्य सेवस्वेति विषयान्तरे तत्तत्क्रियाकर्मव्यावृत्तिस्तात्पर्यविषयतया कल्प्यत इयं चार्थी शुद्धा ।

अत्र निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्वान्नियमोऽपि परिसंख्यैव । तथाहि वैयाकरणानां पाक्षिकप्राप्तियुगपत्प्राप्तिरूपस्यावान्तरविशेषस्याविवक्षया परिसंख्यासिद्धनियमशब्देनोच्यते । "कृत्तद्धितसमासाश्चे"ति सूत्रे समासग्रहणं नियमार्थमित्यन्यथा नोपपद्येत समासे तदुभयविधेरभावात् । युगपद्धि समाससमासेतरपदसंघातयोरर्थवत्सूत्रप्राप्त्या परिसंख्यासिद्धेः ।

[78अ] पूर्वतन्त्रे भेदनिर्देशा ʌ त् यदुक्तम्—

विधिरत्यन्तप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ[2] परिसंख्येति गीयते ॥

तत्र यागादेः [3]प्रकारान्तरेणाप्राप्तौ विधिः "स्वर्गकामो यजेते"-त्यादिः ।

50. परिसंख्या—

अन्य (विशेष) को सूचित करने के लिये सामान्यरूप से प्राप्त वस्तु का निषेध परिसंख्या अलंकार होता है ॥ सू. 179 ॥

जैसे—

यदि सेवा करने की इच्छा है तो गुरु के चरणों की सेवा करो ।

यहाँ "यदि" पद के द्वारा कथित राग द्वारा प्राप्त सेवन का "सेवन करो" इस अन्य विषय में उन-उन क्रियाओं की कर्मकारकता की निवृत्ति तात्पर्य-विषय (वक्ता के अभीष्ट) के रूप में कल्पित की जाती है । यह परिसंख्या (अर्थतः प्राप्त होने से) आर्थी (और प्रश्नपूर्वक न होने से) शुद्धा है ।

(मीमांसकों के अनुसार नियम और परिसंख्या दो अलग-अलग तत्त्व हैं पर) यहाँ निरुक्त-लक्षण से आक्रान्त होने के कारण नियम भी परिसंख्या ही है । क्योंकि पाक्षिक प्राप्ति और युगपत् (साथ-साथ) प्राप्ति रूप अवान्तर भेद को न

1. ० निवेदितस्य
2. ०प्तौ
3. प्रारा०

मानने के कारण वैयाकरणों के मतानुसार परिसंख्या भी सिद्ध नियम शब्द से कही जाती है । "कृत्तद्धितसमासाश्च" सूत्र से समास का ग्रहण नियम करने के लिये है । इसलिये अन्यथा यह उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि समास में उन दोनों विधियों का अभाव होता है । क्योंकि एक साथ ही समास तथा समास के अतिरिक्त अन्य पद-समूह (वाक्य) को "अर्थवत्" इत्यादि सूत्र से संज्ञा प्राप्त होती है अतः परिसंख्या शब्द से व्यवहार करना उचित था । (इस प्रकार वैयाकरण भी परिसंख्या व नियम में भेद नहीं मानते ।)

पूर्वतंत्र (मीमांसा) में (नियम और परिसंख्या का) भेदनिर्देश करते हुए कहा गया है—

सर्वथा अप्राप्त में अपूर्व विधि, वैकल्पिक (पाक्षिक) प्राप्ति में नियम विधि और उसमें तथा अन्य में प्राप्त होने पर(वर्जन को) परिसंख्या (विधि) कहा जाता है ।

यहाँ यज्ञ आदि के अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं होने के कारण "स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करे" इत्यादि वाक्य अपूर्व विधि का उदाहरण है ।

पुरोडाशनिर्माणफलोपधायकतावच्छेदककोटिप्रविष्टाया वितुषतायाः सम्पादकत्वेनावहननस्य प्राप्तेर्नखविदलनसमवधानकालावृत्तित्वेन च पाक्षिकत्वात् व्रीहीनवहन्यादिति नियमः ।

"इमामगृभ्णनि"[1]त्यत्र रसनाग्रहणलिङ्गेनाश्वाभिधानी गर्दभाभिधान्योर्ग्रहणस्य युगपत्प्राप्तत्वात् ।

इत्यलं परमर्मोद्घाटनेन ।

किं तीर्थं गुरुपादसेवनमथो रत्नं किमिन्दीवर—
श्यामा चेतसि संस्थिता भगवती श्यामैव सर्वाश्रयः ।
किं मित्रं सहजोपकाररसिकं शास्त्रं किमैशागमः
का विद्या परतत्वबोधनपरा कोऽरिर्मनोभूर्नृणाम् ॥ 347 ॥

इयं त्वार्थी ।

तीर्थं भानुसुता जलं तदितरद्देवोऽपि तस्याः पति—
स्तस्माद्ये प्रथिताः परे मखभुजस्तूद्देशमात्रं स्थिताः ।

---

1. ०गृभ्नन्नि०

[illegible] तुहिन संतानमार्गं [illegible]—
[illegible] पाकशासनं परे ॥ 348 ॥

अत्र तु शाब्दी प्रश्नपूर्विका च ।
इति परिसंख्यालङ्कारः ॥ 50.

("व्रीहीन् अवहन्ति"—व्रीहि-धानविशेष कूटता है, इस वाक्य में) पुरोडाश (यज्ञ के लिये विशेष विधि से पकाया हुआ अन्न) निर्माणरूप फल का साधक वितुष (भूसी-रहित) व्रीहि है, अतएव पुरोडाश के निर्माण के लिये व्रीहि की वितुषता अपेक्षित है और वितुषता के सम्पादकरूप से ("व्रीहीनवहन्ति" इस वचन द्वारा व्रीहि का) अवहनन (ऊखल-मूसल से कूटना) प्राप्त होता है और नख-विदलन (नखों से वितुष बनाना) सम्भव नहीं होने से अवहनन की यह प्राप्ति पाक्षिक है, अतः "व्रीहीन् अवहन्ति"(व्रीहि को कूटता है, यह वचन नियम करता है कि "अवहनन द्वारा ही व्रीहि को वितुष बनाना चाहिये"अतः)ये नियम विधि है ।

(परिसंख्या विधि का उदाहरण दिया जा रहा है–) "इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" इस मन्त्र में रस्सी ग्रहण रूप लिङ्ग से घोड़े और गदहे दोनों का रस्सी पकड़ना एक साथ प्राप्त होता है, उनमें से "अश्व रस्सी पकड़ने के अतिरिक्त अन्य किसी के रस्सी पकड़ने का वर्जन" इस वाक्य से सिद्ध होता है ।

अतः अप्रकृत विषय (परमर्म के उद्घाटन) पर विचार करना व्यर्थ है । (परिसंख्या के चार भेद हो जाते है । सर्वप्रथम दो भेद हैं-शुद्धा अर्थात् प्रश्नरहिता और प्रश्नपूर्विका । इन दोनों ही भेदों के शाब्दी और आर्थी भेद होने पर कुल चार भेद हो जाते हैं । इनमें से आर्थी शुद्धा का उदाहरण "यद्यानेवितु." इत्यादि दिया जा चुका है । शाब्दी शुद्धा का उदाहरण यहाँ नहीं दिया गया । अन्य दो भेदों के उदाहरण है—)

[illegible] क्या है ? गुरु चरणों की सेवा करना । रत्न क्या है ? मन में स्थित [illegible] के समान श्याम, सबकी आश्रयभूता भगवती श्यामा ही । मित्र कौन है ? जो अनायास ही उपकार में रसिक हो । शास्त्र क्या है ? ईश्वरीय ज्ञान । विद्या क्या है ? परतत्त्व बोधन में परायण । मनुष्यों का शत्रु कौन है ? मनोभव काम ॥ 347 ॥

1. [illegible] (मु. पा. टि.)
2. [illegible]

(गुरु-चरणों की सेवा करना ही तीर्थ है, अन्य नहीं, यह अर्थ तात्पर्यमर्यादा से प्रतीत होने के कारण) यह आर्थी परिसंख्या है (और प्रश्नपूर्विका होने से प्रश्न-पूर्विका है।)

तीर्थ यमुना है, उससे भिन्न अन्य जल है। देव (भगवान् कृष्ण) भी उसके पति (यमुनापति) हैं। उनसे अन्य प्रसिद्ध देवता तो स्थल-विशेष (स्वर्ग) में ही स्थित हैं। वृन्दारण्य ही अरण्य है, अन्य (अरण्य)तो वृक्षों का समूहमात्र हैं। गोप-स्त्रियों से परिचित गोवर्धन ही पर्वत है, अन्य पर्वत पाषाणमात्र हैं ॥ 348 ॥

(यहाँ शब्दतः ही तीर्थ आदि का निषेध प्रतीत होने से शाब्दी और प्रश्न नहीं रहने से शुद्धा है)। इस प्रकार यहाँ शाब्दी और प्रश्नपूर्विका का वर्णन किया गया है।

परिसंख्यालङ्कार का विवरण समाप्त हुआ ॥ 50.

अर्थापत्तिः केनचिदर्थेनार्थस्य सैव भवेत् ॥ सू. 180 ॥

सा[1] च प्रकृतेनाप्रकृतस्याप्रकृतेन प्रकृतस्य प्रकृतेन प्रकृतस्याप्रकृतस्याप्रकृतेनेति चतुर्धा। आद्या यथा गङ्गाधरे—

[2]लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो।
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणभुजो वलगन्ति [3]चेद्बालिशाः ॥
अद्य श्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां शशाः।
सिंहानां च सुखेन मूर्द्धनि पदं धास्यन्ति शालावृकाः[4] ॥ 349 ॥

द्वितीया यथा—

धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम्।
रिपुसंज्ञकेषु गणना कैव वराकेषु काकेषु ॥ 350 ॥

इयं च दण्डापिपूकयार्थापतनरूपेति सर्वस्वकारः।
इत्यर्थापत्तिः ॥ 51.

---

1. अर्थापत्तिः (मू.पा.टि.)
2. लीलालुण्टि०
3. चेद्वा०
4. एडकाः (मू.पा.टि.)

51. अर्थापत्ति—

किसी एक अर्थ से किसी दूसरे अर्थ की आपत्ति (उपस्थिति) अर्थापत्ति होती है ॥ सू. 180 ॥

यह अर्थापत्ति चार प्रकार की होती है—(1) प्रकृत से अप्रकृत अर्थ, (2) अप्रकृत से प्रकृत अर्थ, (3) प्रकृत से प्रकृत और (4) अप्रकृत से अप्रकृत अर्थ की आपत्ति। प्रथम भेद का उदाहरण, जैसे—"रसगङ्गाधर" में—

सरस्वती-नगर में ज्ञान को सरलता से लूटने वाले (प्रगाढ़ विद्वान्) हम जैसों के सामने यदि विद्यामन्दिर में गिरते हुये कणों को खाने वाले मूर्खजन डींग मारते हैं तो आज या कल साँपों के सिर पर पक्षियों के शिशु, हाथियों के सिर पर खरगोश और सिंहों के सिर पर भेड़ें आसानी से पैर रखेंगी ॥ 349 ॥

(उक्त पद्य में विद्वान् और मूर्ख का वृत्तान्त प्रकृत है जिससे सर्प-पक्षिशिशु, हाथी-खरगोश तथा सिंह-भेड़ रूप अप्रकृत वृत्तान्त की आपत्ति होने से अर्थापत्ति है।)

द्वितीय (अन्य अर्थापत्ति का उदाहरण) जैसे—भुजदण्ड से सुशोभित राजा के द्वारा धनुष धारण कर लेने पर पर्वत नहीं झुकते तो आश्चर्य की क्या बात है। शत्रुसंकट होने पर बेचारे शत्रु की गणना क्या है ॥ 350 ॥

(यहाँ पर्वतों का अप्रकृत वृत्तान्त शत्रुओं की स्थिति का अर्थबल से आक्षेप कर लेता है। जब पर्वत ही झुक जाते हैं तो फिर शत्रुओं का तो झुक जाना स्वतः सिद्ध है।)

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक का कहना है कि—दण्डापूपिका[1] से दूसरे अर्थ का आपादन (सिद्धि) यह अर्थापत्ति है।

अर्थापत्ति का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 51.

तुल्यबलयोर्विरोधे दक्षप्राप्त्या विकल्पमवयन्ति[2] ॥ सू. 181 ॥

[.. ब] नमता शिरं धनुर्वा भवता युद्धाय संस्थितो रामः ॥ A

---

1. दण्डापूपिका वह तर्कप्रणाली है जिसके अनुसार आधेयरूप वस्तु उसी प्रकार स्वतः सिद्ध मानी जा सकती है, जिस प्रकार किसी डंडे के गायब हो जाने पर उसमें बंधे हुए मालपुए का भी गायब हो जाना।

2. ..नन्ति (मु.का.टि.)

यथा वा—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

इति विकल्पः ।। 52

इह खलु गुणक्रियाणां समुच्चयो यौगपद्यमथ ।। सू. 182 ।।

एकस्य सिद्धिहेतौ तत्कर्तृत्वेऽन्यस्य तत्रान्यः । क्रमेणोदाहरणम्—

उदिता जलधरमाला कालाञ्जनमेचकं नभो भवति ।
बालाकपोलपाली लवलीफलपाकमाक्षिपति ।। 351 ।।

गङ्गाधरे—

उदितं मण्डलमिन्दोरुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण ।
मुदितं च सकलयुवजनचूडामणिशासनेन मदनेन ।। 352 ।।

आद्ये गुणानां इह तु क्रियाणां उभयत्रापि विभिन्नविषयत्वेनोदाहरणम् । एकाधिकरणत्वेन यथा—

हृदि त्वया विनिहितं [1]बिभ्राणा विरहाङ्कुरम् ।
भ्राम्यत्युल्लिखति प्राणान् शेते ताम्यति मूर्च्छति ।। 353 ।।
तापं शमयति सकृदपि यथा वीक्षितः सुजनः ।
कर्पूरयति दृशोर्मम तथा तथा कुमुदिनीबन्धुः ।। 354 ।।

इति समुच्चयः ।। 53.

52. विकल्प—

समान बलवाले दो पदार्थों में विरोध होने पर पाक्षिक (जब एक प्राप्त हो तब दूसरा प्राप्त न हो ऐसी) प्राप्ति को विकल्प अलङ्कार कहते हैं ।। सू. 181 ।।

सिर झुकाओ या धनुष, आपसे युद्ध के लिये राम स्थित हैं ।

(यहाँ सिर झुकाना और धनुष झुकाना परस्पर विरुद्ध हैं, पर सिर झुकाने पर धनुष नहीं झुकाना पड़ता और धनुष झुकाने पर सिर नहीं झुकाना पड़ता, इस रूप में पाक्षिक प्राप्ति के रूप मे विकल्प अलंकार है ।)

---

1. वि०

अथवा (भगवद्गीता का वाक्य) जैसे—

(रणभूमि में) मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्त करोगे अथवा विजयी होकर पृथ्वी का भोग करोगे।

(यहाँ भी विरोध होने पर भी पाक्षिक प्राप्ति के रूप में विकल्प अलङ्कार है।

विकल्प अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 52.

53. समुच्चय—

यहाँ गुण और क्रियाओं का एक साथ अन्वय होने पर समुच्चय अलङ्कार होता है ॥ सू. 182 ॥

एक (कार्य) की सिद्धि का हेतु विद्यमान होने पर भी, उसके कर्तृत्व में अन्य साधन भी हो जाये वहाँ समुच्चय का अन्य भेद होता है।

क्रम से उदाहरण हैं—

मेघ माला उदित हो गई है, आकाश काले कज्जल के समान काला हो रहा है। बालिका का कपोलस्थल लवली फल के पाक (लेप)को धारण करता है। ॥ 351 ॥

रसगङ्गाधर में (दिया गया उदाहरण है)—

चन्द्रमण्डल उदित हुआ, उसके साथ ही वियोगीवर्ग रो उठा और समग्र युवक शिरोमणियों का शासक कामदेव प्रसन्न हो गया ॥ 352 ॥

प्रथम (उदाहरण "उदिता जलधरमाला." इत्यादि में) गुणों का तथा इस ("उदितं मण्डल." इत्यादि में) क्रिया का, दोनों उदाहरणों में ही विभिन्न विषय भिन्नधर्मियों में अन्वय होने से यह समुच्चय अलंकार का उदाहरण है।

एक ही अधिकरण का उदाहरण है—

हृदय में तुम्हारे द्वारा रखे गये विरहाङ्कुर को धारण करती हुई नायिका घूमती है, प्राणों को कष्ट देती है, सोती है, थक जाती है और मूच्छित होने लगती है ॥ 353 ॥

जैसे एक बार भी देखा गया सज्जन व्यक्ति ताप को शान्त करता है वैसे-वैसे कुमुदिनीबंधु (चन्द्रमा) मेरी दृष्टि को कपूर की तरह शीतल करता है ॥354॥

समुच्चय अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 53.

आकस्मिकान्यहेतोः सौकर्यं सा समाधिरिह ॥ सू. 183 ॥
अपहरति निशा मानं समुदित एवाय पश्य शीतांशुः ॥

[80अ] एक कारणजन्यस्य कार्यस्येत्यर्थः ।

इति समाधिः ।। 54.

तत्प्रत्यनीकमुक्तं विपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कारः ।। सू. 184 ।।

सोऽपि तदुत्कर्षार्थः सम्मतमेतत् कवीन्द्राणाम् ।।

प्रतिपक्षोत्कर्षार्थतिरस्कारः । यथा गङ्गाधरे—

रे रे मनो मम मनोभवशासनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम् ।
किं मां निपातयसि संसृतिगर्त्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः ।। 355 ।।

अयं व्यङ्ग्यो यथा—

जटा नेयं वेणीकृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् ।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिक्रोधात् कुसुमशर किं मां प्रहरसि ।। 356 ।।

अत्र विजेतव्ये पुरारातौ तद्धर्मसम्बन्धित्वेन मयि प्रहारो निष्फल[1] इतीममर्थं परिपोष [य] ताऽपह्नवगर्भितभ्रमेण व्यज्यते ।

इति प्रत्यनीकम् ।। 55.

54. समाधि—

जहाँ आकस्मिक अन्य कारण के आ जाने से (कार्य में) सुकरता आ जाती है, वह समाधि अलंकार होता है ।। सू. 183 ।।

(उदाहरण जैसे-) रात्रि मान को दूर कर रही है, अब उदित हुए चन्द्रमा को देखो ।

एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में (आकस्मिक अन्य कारण आ जाने से कार्य सरलता से सम्पादित हो जाता है तब समाधि अलंकार होता है), यह अभिप्राय है ।

---

1. ०ष्पल

("प्रसरति-" इत्यादि उदाहरण में रात्रि में ही मानभंगरूप कार्य की सिद्धि हो सकती है, पर अनायास चन्द्रमा के उदय से उस कार्य की सिद्धि सरलता से हो जाती है, अतः समाधि अलंकार है।)

समाधि अलङ्कार का निरूपण समाप्तहुआ।। 54.

55. प्रत्यनीक—

विपक्ष (शत्रु) से सम्बन्धित (वस्तु या व्यक्ति) का तिरस्कार प्रत्यनीक अलङ्कार कहा जाता है ।। सू. 184 ।।

कविवृन्दों ने वह भी यह (तिरस्कार) उस (प्रतिपक्षी व्यक्ति) के उत्कर्ष के लिये माना है ।

प्रतिपक्षी के उत्कर्ष के लिये जो तिरस्कार किया जाता है, वह प्रत्यनीक है। उदाहरण "रसगङ्गाधर" में—

अरे मेरे मन ! कामदेव के शासक शिव के चरणकमलयुगल को निरन्तर नमन करने वाले मुझे क्यों संसार रूपी गड्ढे में गिरा रहे हो ? इससे तुम्हारा पुत्र-शोक (कामदेव-दहन रूपी शोक) दूर नहीं होगा ।। 355 ।।

(यहाँ अपने पुत्र कामदेव के शत्रु शिवजी का तिरस्कार करने में अशक्त मन शिवजी से सम्बन्धित भक्त का तिरस्कार कर रहा है, अतः प्रत्यनीक अलकार है।)वह व्यंग्य जैसे—

यह जटा नहीं है, वेणी के रूप में गूंथे हुए केशों का समूह है। यह विष नहीं है, गले में कस्तूरी है। यह सिर पर चन्द्रलेखा नहीं है, पुष्प है। अंग पर यह भस्म नहीं है, प्रिय के विरह से उत्पन्न धवलिमा है। हे कामदेव ! शिव पर क्रोधित होने के कारण मुझ पर क्यों प्रहार करते हो ? ।। 356 ।।

यहाँ जीतने योग्य शिव हैं, उनके धर्म से सम्बन्धित होने से मुझ पर प्रहार निष्फल है, इस अर्थ को परिपोषित करने वाली अपह्नुति से गर्भित भ्रम द्वारा व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित होता है ।

प्रत्यनीक अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ।। 55.

उपमानस्याक्षेपः प्रतीपमथवोपमेयता भवति ।। सू. 185 ।।

केमर्थ्यमयेणाक्षेपस्तदेकं, उपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतिष्ठाप-[80अ]विषया[1] अनादरार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते तद्द्वितीयम् । आद्यं यथा-

1. ०ष्ठापनविषया

[1]आह्लादकारिणि दृशां ज्वलितप्रतापे
दातर्यतीव जनिते त्वयि वीर[2] धात्रा ।
इन्दुः किमर्थमुदपादि कुतः किमर्थं
भानुः पुनः किमिति कल्पतरुः कुतोभूत् ॥ 357 ॥

अत्र तु आक्षेपः प्रधानमित्युक्तं प्राक् यथासंख्योक्तिस्तु प्रामादिकी उपस्कारत्वाभावात् । अपरं यथा—

[3]ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चंदो उवमिज्जइ[4] जणेण[5] ॥ 358 ॥

क्वचित्तु निष्पन्नमेवौपम्यमनादरकारणम् ।

गर्वमसम्भाव्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरस्सु ननु नीलनलिनानि ॥ 359 ॥

एवमेवोपमानस्योत्कृष्टगुणत्वेऽन्यस्योपमानत्वकल्पनमपि प्रतीपमेव । यथा—

रत्नानां निलयः सुधासमुदयः क्षोणीतलेद्धासनं
गाम्भीर्येण पराश्रयः सुविदितो मत्वेति मा गा मदम् ।
भो रत्नाकर ! तावकीयमहिमा[6]-निर्माणसर्वं सहः
सम्प्रत्येष धरावलम्बितपदो जागर्ति कूर्माधिपः[7] ॥ 360 ॥

इति प्रतीपम् ॥ 56.

---

1. आल्हाद०
2. हे (मू. पा. टि.)
3. एहि तावत् सुन्दरि कर्णं दत्वा शृणु वचनीयम् (मू. पा. टि.)
4. उपमीयते (मू. पा. टि.)
5. अयि एहि तावत् सुन्दरि ! कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
   तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥ इति संस्कृतम् ।
6. रचनेत्यपि पाठः (मू. पा. टि.)
7. कछवाहा इति भाषा (मू. पा. टि.)

56. प्रतीप—

उपमान का आक्षेप (अर्थात् उपमान की व्यर्थता का प्रतिपादन करना प्रथम प्रकार का प्रतीप अलंकार है) अथवा उसी उपमान को उपमेय बना दिया जाय तो (दूसरे प्रकार का) प्रतीप अलंकार होता है ॥ सू. 185 ॥

1. (उपमान की रचना) किसलिये की गयी, इस प्रकार से (उपमान पर) आक्षेप होने पर प्रथम प्रकार का प्रतीप अलंकार होता है।

2. उपमानरूप से प्रसिद्ध का, दूसरे उपमान की प्रतिष्ठा कराने की इच्छा से, (प्रसिद्ध उपमान के) तिरस्कार के लिये उसकी उपमेयरूप में कल्पना कर ली जाये यह द्वितीय प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है। प्रथम भेद का उदाहरण जैसे—

आह्लादकारी, नेत्रों से ज्वलित प्रतापरूप, अत्यन्त दानशील हे वीर! विधाता ने आपको उत्पन्न करके चन्द्रमा को किसलिये उत्पन्न किया, किसलिये सूर्य और किसलिये कल्पवृक्ष की रचना की? ॥ 357 ॥

(इस पद्य में आह्लादक आदि गुणों से युक्त राजा के होने पर चन्द्रमा आदि उपमानों की व्यर्थता सूचित की गई है अतः) यहाँ आक्षेप प्रधान है यह पहले कहा जा चुका है। यथासंख्य रूप में कथन तो प्रामादिक है क्योंकि वह आक्षेप का कोई उपकार नहीं करता। (प्रतीप अलंकार के) द्वितीय भेद का उदाहरण जैसे—

हे सुन्दरि! इधर आओ। कान लगाकर इस निन्दावचन को सुनो। हे कृशोदरि! लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देते हैं ॥ 358 ॥

(यहाँ मुखरूप उपमान के साथ जिसकी उपमा दी जा रही है उस उपमेय चन्द्रमा के तुम्हारे मुख की अपेक्षा न्यून गुणयुक्त होने के कारण यह उपमा ही नहीं बनती, इस प्रकार "वचनीयं" पद से चन्द्रमा का तिरस्कार व्यंग्य है।

यहीं पर उपमा की क्रिया का निष्पादन ही (प्रसिद्ध उपमान के) तिरस्कार का कारण होता है, जैसे—

हे भद्रे! इस नेत्र-युगल पर इतना असम्भाव्य गर्व क्यों करती हो? इस प्रकार के नीलकमल तो तालाबों में चारों ओर प्राप्त हो जाते हैं ॥ 359 ॥

(कमल सदैव उपमानरूप में ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ कमलों को उपमेय बना देना ही उनका तिरस्कार है।)

इसी प्रकार उपमान के उत्कृष्ट गुणत्व होने पर अन्य के उपमानत्व की कल्पना भी प्रतीप ही है, जैसे—

(मैं) रत्नों का जनक हूँ, अमृत को उत्पन्न करने वाला हूँ, पृथ्वीतल के आधे भाग पर मैं फैला हुआ हूँ, गाम्भीर्य के कारण शत्रुओं का आश्रय (शरण) स्थल हूँ—यह सुविदित है, ऐसा सोचकर अभिमान मत करो। हे रत्नाकर ! तुम्हारी महिमा के निर्माण को सर्वथा सहन करने वाले ये कूर्माधिप (कछवाहा नरेश) अब पृथ्वी पर चरणों को रखे हुए (धरा पर प्रतिष्ठित पद होकर) जाग रहे हैं। ॥ 360 ॥

(यहाँ रत्नाकर रूप उपमान के उत्कृष्ट गुणत्व को दूर करने के लिये कूर्माधिप को द्वितीय रूप में दिखलाकर सादृश्य का वर्णन किया गया है।)

प्रतीप अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥ 56.

[81अ] वस्त्वन्तरेण Λ पिहितं सहजेनागन्तुकेन वा यत्र।
वस्तुचमत्कारि भवेन्मीलितमवलोकयन्ति[1] बुधाः ॥ सू. 186 ॥

सहजेन यथा—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो।
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ॥
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशां स्वतो लीलया।
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥ 361 ॥

आगन्तुकेन यथा—

तद्भयपलायितानां हिमगिरिधरिणीषु कम्पमावहताम्।
पुलकितजडाङ्गवैभवमन्योऽपि [2]वुधो न जानाति ॥ 362 ॥

पलायितस्थितोऽन्यो बुध इत्यर्थः।

इति मीलितम् ॥ 58.

साधारणयोगादैकात्म्यं प्रस्तुतस्य चान्येन उत्कृष्टगुणवियोगान्न मीलितं तत्र सामान्यम् ॥ सू. 187 ॥

उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणतिरोधानाभावान्न मीलितं निषेधेनान्यप्रतिष्ठापनाभावान्नापह्नुतिः। यथा—

---

1. ०मविलोकयन्ति
2. वु०

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूपिताः[1]
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यता[2] गताः
[81 ब] प्रियवसतिं प्रयान्ति ^ [3]सुखमेव निरस्तभियोभिसारिकाः ॥
॥ 363 ॥

इति सामान्यम् ॥ 59.

57. मीलित—

जहाँ सहज (स्वाभाविक) अथवा आगन्तुक किसी अन्य वस्तु के द्वारा प्रकृत वस्तु का आच्छादन करने पर (तथा) वस्तुचमत्कारि होने पर विद्वज्जन उसे मीलित अलङ्कार कहते हैं ॥ सू. 186 ॥

(सहज और आगन्तुक भेद से मीलित दो प्रकार का होता है।) सहज का उदाहरण, जैसे—

नेत्रों का प्रान्तभाग चंचल है, मधुर और वक्रोक्तियुक्त वाणी है, विलास-पूर्ण मन्द गति है, अत्यन्त सुन्दर मुख है। इस प्रकार मृगनयनियों के शरीर में स्वतः ही लीलापूर्वक मद उदित हो रहा है, अतः इसमें मद उदित होने पर भी लक्षित नहीं हो पाता ॥ 361 ॥

(उक्त पद्य में नेत्रों की चंचलता आदि शरीर के स्वाभाविक चिह्न हैं, जो मदोदय के समय भी होते हैं। इस प्रकार स्वाभाविकतया प्रसिद्ध होने के कारण बलवान होने से उनके द्वारा मदोदयरूप वस्तु का तिरोधान कर दिया गया है, अतः मीलित अलङ्कार है।)

आगन्तुक का उदाहरण जैसे—

उसके भय से भागे हुए (शत्रु) हिमालय पर्वत की भूमि पर कम्पन को धारण करने वाले लोगों (शत्रुओं) का पुलकित और जड़ अंगों के वैभव को (कम्पन, पुलक और जड़ता हिमालय की शैत्याधिकता के कारण है, ऐसा समझ-कर) अन्य बुद्धिमान् व्यक्ति भी (उन शत्रुओं के भय को) नहीं जान पाते हैं।
॥ 362 ॥

1. ०भूषिताः
2. अवस्थानाता: शुक्लाभिसारिकात्वात् (मू.पा.टि.)
3. सुखमे०

भागकर स्थित हुए अन्य बुद्धिमान् व्यक्ति—यह अभिप्राय है। (यहाँ हिमालय में निवास करने के कारण प्रबल शीतरूप आगन्तुक है। भय चिह्नों के समान साधारण कम्प और रोमाञ्चरूप चिह्नों से भयरूप वस्तु को तिरोहित कर रही है, अतएव यहाँ मीलित अलङ्कार का दूसरा भेद है।)

मीलित अलङ्कार का विवरण समाप्त हुआ ।। 57.

58. सामान्य—

प्रस्तुत (वर्णनीय विषय) का अन्य (अप्रस्तुत अर्थ) सम्बद्ध होकर अपने उत्कृष्ट गुण का परित्याग किये बिना ही (अप्रस्तुत के साथ) ऐकात्म्य (अभेद का) वर्णन करने पर वहाँ मीलित अलङ्कार नहीं, सामान्य अलङ्कार होता है।
।। सू. 187 ।।

उत्कृष्ट गुण के द्वारा निकृष्ट गुण के तिरोधान का अभाव होने से यहाँ मीलित अलङ्कार नहीं है। निषेध के द्वारा अन्य की प्रतिष्ठापना का अभाव होने से यहाँ अपह्नुति अलङ्कार भी नहीं है। उदाहरण जैसे—

चन्दन-रस का शरीर पर विलेप किये हुए, नवीन हारलता से सुशोभित अतिश्वेत हाथीदाँत से बने हुए दन्तपत्र (आभूषण) से मुख को अलंकृत किये, सुन्दर तथा निर्मल वस्त्र धारण किये हुए शुक्लाभिसारिकाएँ (रात्रि में) चन्द्रमा की चाँदनी के पृथ्वी पर फैल जाने से पृथ्वी के शुभ्र हो जाने पर (शुक्ल अलङ्कारों से अलंकृत होने से चाँदनी में ही मिल जाने के कारण) दिखलायी नहीं देने के कारण भयरहित होकर सरलता से प्रियतम के निवास पर जा रही हैं ।। 363 ।।

(यहाँ प्रस्तुत अभिसारिका और अप्रस्तुत चन्द्रमा दोनों का धवलत्व गुण उनकी एकात्मता का हेतु, है, अतः दोनों की अलग-अलग प्रतीति नहीं हो रही है, इस रूप में सामान्य अलङ्कार है।

सामान्य अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ।।58.

अन्यगुणस्य ग्रहणं स्वगुणत्यागेन तद्गुणो भवति ।। सू. 188 ।।

नासामौक्तिकमरुणं तवाधरेणोज्ज्वलं[1] हसितैः ।।

यथा वा—

1. ०रेनोज्ज्वलं

मालत्याः कुसुममघायि नासिकाग्रे
तन्वङ्ग्या वदति सखीजने रहस्यम् ।
[1]ततस्याधरमवलम्ब्य यच्चकाशे[2]
बंधूकं तदुचितमाचचक्ष [3]तस्मै[4] ॥ 364 ॥

इति तद्गुणः ॥ 59.

तद्विपरीतमपूर्वं[5] तमेव कथयन्ति केऽपि बुधाः ॥ सू. 189 ॥

रागिनि हृदये निहितस्तथापि नैवानुरक्तोऽसि ॥

यथा वा—

गिरिसारकठिनकुचयुगसन्निविभाजापि तन्वि !
हृदयेन अतिकोमलेन नान्तर्निधीयते किमपि काठिन्यम् ॥ 365 ॥

इत्यतद्गुणः ॥ 60.

59. तद्गुण—

अपने गुण के त्याग के द्वारा अन्य के गुण का ग्रहण तद्गुण अलङ्कार होता है ॥ सू. 188 ॥

(उदाहरण जैसे—)तुम्हारी नाक का मोती तुम्हारे हास के कारण उज्ज्वल और अधर के कारण अरुण हो गया ।

(नासामौक्तिक के अधर के रंग से रंग जाने के कारण अरुण बन जाने से यहाँ तद्गुण है ।) अथवा अन्य उदाहरण—

---

1. सखीजनस्य (मू. पा. टि)
2. ०कासे
3. सखीजनाय (मू. पा. टि.)
4. मालत्याः कुसुममधरकान्त्या बंधूकसदृशं भूत्वा तस्मै सखीजनाय उचितमाचचक्ष किं तत् मौनावस्थायां उच्चैरधरं भवत्यतो मौनं कुरु । सपत्नीसखी शृणोति । (मू. पा टि.)
5. अपूर्वमतद्गुणालङ्कारं केपि मम्मटभट्टादयः कथयन्ति न तु स्वयं । (मू. पा. टि.)

कृशाङ्गी नायिका के नासिका के अग्रभाग में मालती का पुष्प धारण करने पर वह सखीजन में रहस्य कहता है कि उस (सखीजन) के अधर का अवलम्बन करके जो वंधूक (लाल रंग का पुष्प) के समान सुशोभित होती हो वह उस सखी के लिये उचित ही कहा है। (मालती का पुष्प अधर की कान्ति से वंधूक के समान लाल होकर उस सखी को उचित ही कहता है कि उस मौनावस्था में ऊँचे अधर होते हैं, अतः मौन रहो, सपत्नी सुनती है।) 364 ॥

(यहाँ मालती-पुष्प के अधर के रंग में रंग जाने के कारण वंधूकता सिद्ध होने से तद्गुण अलङ्कार है।)

तद्गुण अलङ्कार का प्रसङ्ग समाप्त हुआ ॥ 59.

60. अतद्गुण अलङ्कार—

उस (तद्गुण) के विपरीत (अर्थात् अपने गुण का त्याग न करते हुए समीपस्थ अन्य के गुण का अग्रहण होने पर) उस अपूर्व को कुछ विद्वज्जन अतद्गुण कहते हैं। (अपूर्व को अतद्गुणालङ्कार कुछ मम्मटभट्ट आदि कहते हैं, स्वयं हरि प्रसाद नहीं ॥ सू. 189 ॥

उदाहरण जैसे—

राग (अनुराग, रक्तिम रंग) से युक्त हृदय में (तुमको) रखा, फिर भी तुम अनुरक्त नहीं हुए।

(यहाँ अत्यन्त अनुरक्त हृदय से संयुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नहीं हुआ, इसलिये अतद्गुण अलङ्कार है।) अथवा जैसे—

हे कृशाङ्गी ! पर्वत (या लोहे) के समान कठोर स्तन-युगल के समीप होने पर भी अतिकोमल हृदय कुछ भी कठोरता धारण नहीं करता ॥ 365 ॥

(यहाँ हृदय कुचों की कठोरता को ग्रहण नहीं करता, इस शब्द-समूह से स्पष्ट है कि स्वकीय गुण का अत्याग होने से अतद्गुणालङ्कार है।)

अतद्गुण अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 60.

संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्ममित्याहुः ॥ सू. 190 ॥

सङ्केतकालमनसं[1] ज्ञात्वा कमलं निमीलितं सुदृशा ॥

असंलक्षितस्य संलक्षितत्वापादनमित्यर्थः।

---

1. संकेतकाले मनो यस्य तं कञ्चित् कमलं निमीलितं सुदृशा "सायं संकेतो भविष्यति" (मू. पा. टि.)

इति सूक्ष्मम् ॥61.

उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिर्नालङ्कारान्तरं अपह्नुतिप्रकारस्यैव सद्भावात् ॥सू. 191॥

यथा—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
[82क] हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः[1] शिवः[2] ॥366॥

इति व्याजोक्तिः ॥62.

काकुश्लेषाभ्यां अन्यथायोजनं वक्रोक्तिः शब्दालङ्कार इत्युक्तं प्राक् ॥सू.192॥

इति वक्रोक्तिः ॥63.

61. सूक्ष्म अलङ्कार—

जाने हुए सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म कहा जाता है ॥सू.190॥

(उदाहरण जैसे—)

संकेतकाल को जानने की नायक की इच्छा है, इस बात को जानकर सुन्दर नेत्रों वाली (नायिका) ने कमल को बन्द कर दिया। (अर्थात् सायंकाल का संकेत कर दिया।)

(यहाँ नायक को संकेतकाल का जिज्ञासु जानकर नायिका ने सायं समय के सूचक कमल को हाथ से बन्द करके असंलक्षित संकेतकाल को सुन्दरता से संलक्षित कर दिया कि 'संकेत सायंकाल में होगा'। अतः सूक्ष्म अलङ्कार का उदाहरण है।)

सूक्ष्म अलङ्कार का विवेचन समाप्त हुआ ॥61.

62. व्याजोक्ति—

प्रकट हुई वस्तु को (किसी बहाने से छिपाना) व्याजोक्ति अलंकार होता है। अपह्नुति के प्रकार का ही (पृथक्) अस्तित्व होने से यह व्याजोक्ति अन्य अलंकार नहीं हो सकती ॥सू.191॥

---

1. ०वतात्द्वः
2. पाण्डुलिपि में "शिव" तथा "इति" एक पंक्ति में लिखे जाने से विसर्ग नहीं है।

उदाहरण, जैसे—

(शिव–पार्वती विवाह में कन्यादान का प्रसंग है) हिमालय के द्वारा समर्पित किये जाते हुए पर्वत-पुत्री पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न हुए रोमांच आदि के कारण समस्त (वैवाहिक) विधि के गड़बड़ हो जाने से और घबराये हुए (तथा उसे छिपाने के लिये) 'हाय, हिमालय के हाथ बड़े शीतल हैं' ऐसा कहने वाले (और उनके इस बहाने को समझ लेने वाली) हिमालय के अन्तःपुर की स्त्रियाँ, मातृ-मण्डल तथा गणों के द्वारा मुस्कुराते हुए देखे गये शिव आपकी रक्षा करें।।366।।

(इस पद्य में पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले, शिव के सात्त्विक भाव, रोमांच आदि से प्रकट हो गये, परन्तु यह हिमालय के हाथ के स्पर्श के शैत्य से हुए हैं, इस प्रकार कहते हुए सात्त्विकभाव को छिपाया गया है, अतः व्याजोक्ति अलंकार है।)

व्याजोक्ति अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ।।62.

63. वक्रोक्ति—

काकु और श्लेष के द्वारा अन्य प्रकार से कथन करना वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति अलंकार को शब्दालंकार के प्रसंग में पहले कहा जा चुका है ।।सू.192।।

वक्रोक्ति समाप्त हुई ।।63.

डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।।सू.193।।

यथा—

[1]पश्चादंघ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटाधूलिधूम्रं विधाय।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति[2] शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण।।367।।

इदं नालङ्कारान्तरं वस्तुमात्रपरत्वात् किन्तु वैचित्रीमात्रमिति कश्चित्।[3]
इति स्वभावोक्तिः ।।64.

[4]अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमानत्वं भाविकम् ।।सू.194।।

---

1. शयनोत्थिताश्वस्य स्वरूपवर्णनम् (मू.पा.टि.)
2. ०लिखित
3. कश्चिदित्यहं वच्मीत्यर्थः (मू. पा. टि.)
4. अखितना०

यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥368॥

इति भाविकम् ॥65.

किञ्चिद्धर्म्मकृतातिशयप्रतिपादनाय प्रसिद्धतद्धर्माणां संसर्गोद्भावनं प्रौढोक्तिः ॥सू.195॥

यथा—

त्वदङ्गसमुद्भूता सिक्ता कुङ्कुमवारिभिः ।
[82अ] त्वदङ्ग A तुलनां याति कदाचिल्लवलीलता॥369॥

इति प्रौढोक्तिः ॥66.

64. स्वभावोक्ति—

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया (अथवा वर्ण एवं अवयव-संस्थान) रूप का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है ॥सू.193॥

("हर्षचरित", तृतीय उल्लास का उदाहरण—) सोकर उठे हुए घोड़े का वर्णन है—पीछे की दोनों टांगों को फैलाकर, त्रिक (रीढ़ की हड्डी के अन्तिम छोर) को झुकाने से लम्बे शरीर को यथासम्भव ऊपर उठाते हुए, गर्दन झुकाये हुए धूल से धूम्र वर्ण से अयाल वाले मुँह को छाती से लगाकर, घास के ग्रास की अभिलाषा से होठ और मुँह को निरन्तर चलाता हुआ, (इस प्रकार) सोकर उठा हुआ और धीरे-धीरे हिनहिनाता हुआ घोड़ा खुर से भूमि खोद रहा है ॥367॥

(यहां सोकर उठे घोड़े की स्वाभाविक क्रिया आदि का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है ।)

किसी विद्वान् अर्थात् मेरा कहना है कि वस्तुमात्र का वर्णन होने से यह अलङ्कार नहीं है, अपितु वैचित्र्यमात्र है ।

स्वभावोक्ति अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ॥64.

65. भाविक—

अतीत और अनागत पदार्थ (कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, वह भाविक अलंकार है ॥सू.194॥

उदाहरण जैसे—

योगिराज महात्मा अगस्त्यमुनि की जय हो, जिन्होंने एक चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप (अवतारों) का दर्शन किया ।।368।।

(मत्स्यावतार-विष्णु का प्रथम अवतार है तथा कच्छपावतार उनका द्वितीय अवतार है । इन दोनों का प्रत्यक्ष वर्णन होने से भाविक अलंकार है ।)

भाविक अलंकार का निरूपण समाप्त हुआ ।।65.

66. प्रौढोक्ति—

किसी धर्म के कारण किये गये अतिशय के प्रतिपादन के लिये उसके प्रसिद्ध धर्मों के संसर्ग का उद्भावन (कल्पना) प्रौढोक्ति है ।।सू.195।।

जैसे—

यदि लवलीलता तुम्हारे आंगन में उत्पन्न हो और कुंकुम-जल से सींची जायेतो शायद तुम्हारे अंगों की तुलना प्राप्त कर सकती है ।।369।।

(यहां साधारण लवलीलता उपमानता का भार सहन करने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः कवि ने लवलीलता में 'तुम्हारे आंगन में उत्पन्न' तथा "कुंकुम-जल से सिक्त" इन दो विशेषणों की उद्भावना अपनी प्रतिभा के वल प्र की है । इन दोनों विशेषणों का क्रमशः अर्थ है-"नायिका का समानाधिकरण्य सह-निवास" और "केसरजल का संयोग", इन दोनों विशेषणों से युक्त लवलीलता के सदृश कहने से नायिकांग में गौरता, मृदुलता आदि गुणों का अतिशय व्यक्त होता है ।)

प्रौढोक्ति अलंकार का विवेचन समाप्त हुआ ।।66.

गुणस्य दोषत्वेन दोषस्य गुणत्वेन कार्यवशाद्वर्णनं लेशः ।।सू.196।।

गङ्गाधरे—

> अपि [1]वत गुरुगर्वं मा स्म कस्तूरि[2] ! यासी[3]-
> रखिलपरिमलानां मौलिना सौरभेण[4] ।

---

1. व०
2. हे (मू. पा. टि.)
3. मा गम इत्यर्थः (मू. पा. टि.)
4. ०न

गिरिगहनगुहायां लीनमत्यन्तदीनं
[1]स्वजनकममुनैव[2] प्राणहीनं करोषि ॥370॥

इति लेशः ॥67.

समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम् ॥सू.197॥

यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिः हृताः[3]
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु [4]भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम् ॥ 371 ॥

अङ्गत्वेन महापुरुषचरितमपि ।

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥ 372 ॥

इत्युदात्तम् ॥ 68.

67. लेश—

कार्यवश गुण को दोष रूप में और दोष का गुण रूप में वर्णन लेश अलङ्कार कहलाता है ॥ सू. 196 ॥

"रसगङ्गाधर" में (उदाहरण है)—

हे कस्तूरी ! समग्र सुगन्धियों में सर्वश्रेष्ठ सुगन्धि होने के कारण अत्यधिक गर्व मत करो । खेद है कि इसी सुगन्ध से तुम पर्वत की गहन गुफा में छुपे हुए अत्यन्त दीन अपने जनक मृग को प्राणहीन करती हो ॥ 370 ॥

(यहाँ गुण का दोष रूप में वर्णन होने से लेशालङ्कार का उदाहरण है ।)

लेशालङ्कार का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ 67.

---

1. स्वजनकं मृगमित्यर्थः (मू. पा. टि.)
2. अमुना सौरभेण (मू. पा. टि.)
3. हृता.
4. भोजनृपतेस्त्वन्दा०

68. उदात्त—

समृद्धि से युक्त वस्तु का वर्णन उदात्त अलङ्कार होता है ॥ सू. 197 ॥

उदाहरण जैसे—

(राजा भोज की स्तुति करते हुए कवि का कथन है कि–) विद्वानों के भवन में क्रीड़ा के समय (मुक्ताहार का डोरा टूट जाने से) सूत्रहीन हार से गिरे हुए तथा झाड़ुओं से इकट्ठा किये हुए मोती प्रातः आंगन में प्रवेश के समय धीरे धीरे चलती हुई बालाओं के पैरों में लाक्षारस से रक्तिम दिखते हैं। उन मोतियों को आमोद के लिये पालित तोते दूर से अनार के दाने समझकर खींच रहे हैं, यह राजा भोज की ही त्याग-लीला है ॥ 371 ॥

(इस पद्य में विद्वानों के भवनों की उत्कृष्ट सम्पत्ति का वर्णन होने से उदात्त अलङ्कार है।)

(प्रधान अर्थ में) महापुरुषों के कृत्यों का अङ्गत्व (गौण रूप से प्रदर्शन) भी उदात्त अलङ्कार होता है, जैसे—

(लंका से लौटते हुए पुष्पक विमान में बैठे हुए लक्ष्मण का अंगद के प्रति कथन है–) यह वही वन (दण्डकारण्य) है, जिसमें रहते हुए दशरथ के वचनों के पालन के व्यसनी राम ने स्वयं के भुजबल की सहायता से ही राक्षसों का विनाश कर दिया था ॥ 372 ॥

(यहाँ वर्णनीय दण्डकारण्य का उत्कर्ष दिखाया गया है और उसके प्रति राम को अंगरूप में उपस्थित किया गया है, अतः उदात्त अलङ्कार है।)

उदात्त अलङ्कार का निरूपण समाप्त हुआ ॥ 68.

एतेषां संसृष्टिसङ्करप्रकारं दर्शयति—

तिलतण्डुलवत् क्वापि क्षीरनीरवदन्यतः संसृष्टिः सङ्करस्तेषां प्राचीनैरुपपादितम् ॥ सू. 198 ॥

[83अ] संयोगन्यायेन स्फुटावगमस्तत्र तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः। समवायन्यायेनास्फुटावगमे क्षीरनीरन्यायेन सङ्करः।

तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिः—

कुसुमसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया[1] ॥ 373 ॥

---

1. नायिकया (मू. पा. टि.)

अनुप्रासयमकयोर्विजातीययोः संसृष्टिः ।

अर्थालङ्कारयोः संसृष्टिर्यथा—

> लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
> असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ 374 ॥

अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः । उभयसंसृष्टिः—

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य ।
पादाम्बुजं भवतु वो[1] विजयाय [2]मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ।
॥ 375 ॥

रूपके प्रतिकूलत्वात् अनुप्रास–उपमायाः परिपोषक[3] इत्युभयोः संसृष्टिः ।

69. संसृष्टि और 70. सङ्कर—

इन (अलंकारों) के संसृष्टि और संकर प्रकार को दिखाया जा रहा है—कहीं पर तिलतण्डुलवत् और अन्य प्रकार से क्षीरनीरवत् (अलंकारों का मिश्रण होने पर) प्राचीन विद्वानों ने उनको संसृष्टि और संकर कहा है ॥ सू. 198 ॥

संयोगन्याय से (अनेक अलंकार इस प्रकार मिले हुए हों कि) स्पष्टरूप में अलग-अलग दिखाई पड़ते हों, वहाँ तिलतण्डुलवत् (मिश्रण होने पर) संसृष्टि नामक अलंकार होता है । समवायन्याय से (अनेक अलंकार इस प्रकार मिश्रित हों कि) वे स्पष्टरूप से अलग-अलग प्रतीत नहीं हों, वहाँ नीरक्षीरन्याय से (मिश्रण होने पर) सङ्कर अलंकार होता है ।

संसृष्टि—यहाँ ("शिशुपालवध" के षष्ठ सर्ग का श्लोक) शब्दालङ्कार की संसृष्टि (के उदाहरणरूप में प्रस्तुत है)—

पुष्प की सुगन्ध के लोभ से (मुख पर) घूमते हुए भ्रमर के सम्भ्रम के कारण अधिक शोभा धारण करने वाली, (भ्रमर के आतंक से) भागती हुई, केश-समूह के कारण चंचलनेत्रों वाली (अन्य नायिका की) सुन्दर मेखला का सुन्दर शब्द होने लगा ॥ 373 ॥

---

1. कुमारम् (मू. पा. टि.)
2. मञ्जुमञ्जीरशिञ्जि ०
3. ० रिपोषक

(उक्त पद्य के पूर्वार्द्ध में "मकार" तथा उत्तरार्द्ध में "लकार" की अनेक वार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है। श्लोक के चतुर्थ चरण में "लकलो लकलो" तथा "कलोल कलोल" की आवृत्ति होने से यमकालंकार है। (एक ही पद्य में स्वतन्त्र रूप से) अनुप्रास और यमक दोनों विजातीय शब्दालंकारों के अवस्थान के कारण यहाँ संसृष्टि अलङ्कार है।

अर्थालङ्कार की संसृष्टि का उदाहरण, जैसे—

अंधकार मानो अंगों को लीप रहा है, आकाश मानो कज्जल की वर्षा कर रहा है। दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि निष्फल हो गयी है ।। 374 ।।

यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों की संसृष्टि है। (पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा है और उत्तरार्द्ध में उपमा है, दोनों अलंकार परस्पर निरपेक्षरूप से स्थित होने से अर्थालङ्कार की संसृष्टि है।)

(शब्द और अर्थ) दोनों अलंकारों की संसृष्टि (जैसे—)

आनन्द से शिथिल इन्द्र के द्वारा अर्पित माला से सुशोभित, दृढ़तापूर्वक महिषासुर के मस्तक पर स्थापित, सुन्दर नूपुर की झंकार से मनोहर अम्बिका का चरण-कमल आपकी विजय के लिये हो ।। 375 ।।

यहाँ रूपक अलंकार प्रतिकूल होने पर भी अनुप्रास और उपमा अलङ्कार का परिपोषक होने से इन दोनों (शब्दालंकार तथा अर्थालंकार) की संसृष्टि है। (वर्णों की आवृत्ति होने से यहाँ अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार है। "पादाम्बुजं" में "पादः अम्बुजमिव" उपमा नामक अर्थालङ्कार है। "पाद एवं अम्बुजं" रूप में रूपक अलंकार मान लेने पर उत्तरपद "अम्बुज" प्रधान हो जायेगा और "मञ्जीरशिञ्जितमनोहरं" का अन्वय घटित नहीं हो सकेगा। "पाद" को प्रधानता देने पर लुप्तोपमा धर्मवाचकलुप्ता उपमा मानने पर अन्वय संगत बैठता है। अतः यहाँ उपमा ही है, रूपक नहीं। इस प्रकार अनुप्रासरूप शब्दालंकार तथा उपमा रूप अलंकार की संसृष्टि है।)

अथ सङ्करः—

स च क्वचिदङ्गाङ्गिभावेन संशयेन एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवति ।। सू. 199 ।।

आद्यो यथा—

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं[1] शशी[2] ॥ 376 ॥

[83अ] अत्रोपमाश्लेषमूलातिशयोक्तिरूपयोरङ्गाङ्गिभावः । शब्दालङ्कारसङ्करो यथा—

राजति नटीयमभिहतदानवरासातिपातिसारावनदा[3] ।
गजता च यूयमविरतदानवरा[4] सातिपाति सारा वनदा ॥ 377 ॥

अत्र यमकानुलोमप्रतिलोमयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गाङ्गिभावः । वस्तुतस्तु अलंकारसंसृष्टिरेवात्र भवति ।

संशयेन यथा—"यः कौमारहरः" इत्यत्र [5]विभावनाविशेषोक्तिसन्देहसङ्करः । यथा वा—

यद्वक्त्रचन्द्रे [6]नवयौवनेन श्मश्रुच्छलादुल्लिखितश्चकास्ति ।
उद्दामरामाधरमौनमुद्राविद्रावणो मन्त्र इव स्मरस्य ॥ 378 ॥

अत्र उपमितं व्याघ्रादिभिरिति उपमासमासस्य मयूरव्यंसकादिभ्यश्चेति रूपकसमासस्य तुल्यत्वात्सङ्करः ।

एकवाचकानुप्रवेशेन यथा—

मुरारिनिर्गता नूनं [7]नरकप्रतिपन्थिनी ।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति ॥ 379 ॥

---

1. ० मुखं
2. ० शी
3. अभिहता ये दानवास्तेषां रासस्य शब्दस्य अतिपाती आरावेण सह वर्तमाना नदाद्युदायम्यां सा (मू. पा. टि.)
4. अविरतदानेन वरा आसातिपातिसारो यस्याः सा गजता वनदानवखण्डनप्रदा (मू. पा. टि.)
5. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः तथापीति सन्देहः (मू. पा. टि.)
6. वक्त्रं चन्द्र इवेति उपमासमासः । वक्त्रं चंद्र इति रूपकं अनयोः सङ्करः (मू. पा. टि.)
7. नरकासुरः नरकं च (मू. पा. टि.)

[1]इत्यत्र उपमा श्लेषश्च ।

सङ्कर—

वह (सङ्कर अलङ्कार) कहीं पर अङ्गाङ्गिभाव से, कहीं पर संशय से और कहीं पर एकवाचकानुप्रवेश से तीन प्रकार का होता है । 1. जहाँ एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार का अङ्ग बनकर उसका उपस्कारक हो, वहाँ अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर होता है । 2. जहाँ किसी स्थल पर अनेक अलङ्कारों का सन्देह हो, वहाँ सन्देह सङ्कर अलङ्कार होता है । 3. जहाँ एक ही वाचक द्वारा दो अलङ्कारों की प्रतीति हो, वहाँ एकवाचकानुप्रवेश अलङ्कार होता है ।) ॥ सू. 199 ॥

1. **अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर**–

प्रथम (अङ्गाङ्गिभावसङ्कर का उदाहरण) जैसे—

चन्द्रमा अंगुलियों के समान किरणों से केशसंचय के समान अंधकार को समेटकर बन्द किये हुए कमल के समान नेत्रों वाले रजनी के मुख को मानो चूम रहा है ॥ 376 ॥

यहाँ उपमा और श्लेषमूला अतिशयोक्ति रूप में अङ्गाङ्गिभाव है । शब्दालङ्कारों का (अङ्गाङ्गिभाव) सङ्कर जैसे—

जिसमें नष्ट हुए दानवों के रास (चीत्कार) का अतिक्रमण करने वाली ध्वनि करता हुआ नद वेग से बह रहा है इस प्रकार की यह तटी (पर्वत की प्रान्तभूमि) सुशोभित हो रही है । निरन्तर मदजल से शोभित बलिष्ठ एवं वनों का विनाश करने वाला हाथियों का समूह यूथ की रक्षा करता है ॥ 377 ॥

यहाँ ("दानवरा सातिपाति सारा वनदा" इस पद-समूह की आवृत्ति होने से) यमक शब्दालङ्कार तथा (यमक के अंश में आये अक्षरों के उलटे तथा सीधे दोनों तरफ से पढ़ने पर वही पाठ बन जाता है अतः) अनुकूल-प्रतिकूल चित्रकाव्य रूप शब्दालङ्कार है । दोनों पादों में परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से अङ्गाङ्गिभाव विद्यमान है । (अतः दो शब्दालङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है ।) वस्तुतः तो यहाँ अलङ्कार-संसृष्टि ही है ।

2. **संदेहसंकर**—

---

1. पाण्डुलिपि में सन्धि करके "पतिष्यतीत्यत्र" लिखा है ।

शब्द के द्वारा सङ्कर जैसे—"यः कौमारहरः" इत्यादि (सू. 7 की वृत्ति, सू. पा. टि.) श्लोक में विभावना अलङ्कार है (अथवा) विशेषोक्ति अलङ्कार है, इस प्रकार संशय होने से सन्देहसङ्कर अलङ्कार है। अथवा दूसरा उदाहरण, जैसे—

मुख-चन्द्र में नवयौवन के द्वारा मूंछ के छल से खुदी हुई जो चमक है, (वह) अभिसारिणी तरुणी की दृढ़ मौन-मुद्रा को द्रवित कर देने वाले कामदेव के मन्त्र के समान है ॥ 378 ॥

यहां "उपमितं व्याघ्रादिभिः" इस सूत्र से समास होकर (वक्त्रं चन्द्र इव इस उपमिति समास के द्वारा) उपमा अलङ्कार तथा "मयूरव्यंसकादिभ्यश्च" इस सूत्र से समास होकर (वक्त्रं चंद्रः इस प्रकार) रूपक अलङ्कार है। इन (उपमा तथा रूपक दोनों अलङ्कारों के) तुल्य होने से संदेह सङ्कर अलङ्कार है।

3. एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर—

एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर का उदाहरण है—

मुररिपु (कृष्ण) से निकली हुई, नरक (नरकासुर तथा नरक) से विपरीत मार्गवाली गङ्गा के समान चक्रधारा तुम्हारे सिर पर गिरेगी ॥ 379 ॥

यहां उपमा और श्लेष की प्रतीति होने से एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर अलङ्कार है।

तदेवं शब्दैकशरीरस्य काव्यस्य—

कटाक्षितं व्यञ्जनैका तत्रास्वादो रसः स्मृतः।
दार्ढ्यं गुणानुसन्धानं [1]चारुतालङ्कृतिः स्फुटम्।
विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
[84 अ] उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा म Λ नागत्रोपपादितम् ॥ सू. 200 ॥

अत्रेति काव्यालोके स्पष्टमन्यत्।

अब्धिदिङ्मुनिभू 1784 वर्षमाघशुक्लमुनौ 7 रवेः।
काव्यालोकमिदं पूर्णमकारिगुरुसन्निधौ ॥

---

1. चारुता c

इयं माधुकरीभिक्षा सुमनोभ्यः समाहृता ।
वालानां तुष्टये गर्वो न मनागपि विद्यते ॥

प्राचीनैर्यदिहोदितं बहुविधैर्ग्रन्थैस्तवत्राहृतम् ।
संक्षेपेण न किञ्चिदन्यदुदितं गर्वेण तद्वन्मया ।
व्याख्यातं तदुदाहृतं तदुदितं भूयोऽपि तच्चापलम् ।
भो विद्यागुरवः क्षमन्तु शिशवः कुर्वन्ति चात्मोचितम् ॥

इहेति काव्यलक्षणप्रस्तावे अत्रेति काव्यालोके, चकारो युक्तार्थे, सर्वमलङ्कारस्वरूपमवदातम् ।

इति श्रीमन्माथुरमिश्रगङ्गेशात्मजहरिप्रसादनिर्मिते काव्यालोकेऽर्थालङ्कारनिरूपणनामा सप्तमः प्रकाशः ॥ 7 ॥ समाप्त [ः] ।

सम्वत् 1798 वर्षस्य पौषशुक्लद्वितीयायां लिखितं चोक्षचन्द्रेण । श्रेयो भवतु[1] समेषाम् ।

अलङ्काराम्वुधेः पारमाप्तुमिच्छा भवेद्यदि ।
[84 ब] काव्यालोकप्रवहणं तदाश्रयत कण्ठतः ॥ 1 ॥ ʌ

इसलिये शब्दरूप शरीरवाले काव्य का—

एक मात्र व्यञ्जना ही कटाक्ष दृष्टि और आस्वाद ही रस कहा गया है । गुणों का अनुसन्धान ही दृढ़ता है । स्फुट अलङ्कार (अलंक्रिया) ही सुन्दरता है । विशिष्ट शब्दरूप काव्य की आत्मा चमत्कृति है और प्रतिभा ही उत्पत्ति भूमि है । यहाँ ("काव्यालोक" में) यही अल्पमात्रा में प्रतिपादित किया गया है । ॥ सू. 200 ॥

"अत्र" से अभिप्राय है "काव्यालोक" में । अन्य स्पष्ट ही है ।

पुष्पिका—

सम्वत् 1784 (अब्धि–4, दिक्–8, मुनि 7 तथा भू–1 संख्या का वाचक है, अतः "अब्धिदिङ्मुनिभू" का अर्थ हुआ = 1784) सूर्य संक्रमण की माघ शुक्ला सप्तमी को गुरु के सांनिध्य में यह "काव्यालोक" पूर्ण किया गया ।

---

1. भववतु

यह (काव्यालोकरूपी) माधुकरीभिक्षा (जिस प्रकार मधुमक्खी एक फूल से दूसरे फूल पर जाकर मधु एकत्र करती है उसी प्रकार घर-घर जाकर भिक्षा मांगने को माधुकरीभिक्षा कहा जाता है) बालकों की तुष्टि के लिये पुष्पों से (अथवा विद्वज्जनों के ग्रन्थों से) संचित की गई है। (इस रचना का मुझे) अल्पमात्र भी गर्व नहीं है।

प्राचीन विद्वानों द्वारा बहुत प्रकार के ग्रन्थों के माध्यम से जो यहाँ (काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में) कहा गया है वही यहाँ संक्षेप में लाया गया है। गर्व से अन्य कुछ नहीं रहा है। उनके समान ही मैंने व्याख्या की है, वही उदाहरण दिये हैं, वही रहा है, फिर भी वह चपलता ही है। हे (काव्य) विद्यागुरुजन ! (आप) क्षमा करें, शिशु तो स्वयं को उचित लगने वाला कार्य ही करते हैं।

"इह" का अर्थ है—काव्य-लक्षण-प्रस्ताव में, "अत्र" अर्थात् "काव्यालोक" में, नकार का प्रयोग युक्त अर्थ के लिये किया गया है। इस प्रकार समस्त अलङ्कारों का सुन्दर स्वरूप बताया गया है।

श्रीमान् माथुर मिश्र गङ्गेश के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा निर्मित "काव्यालोक" का अर्थालङ्कार-निरूपण नामक सप्तम-प्रकाश समाप्त हुआ ॥ 7 ॥

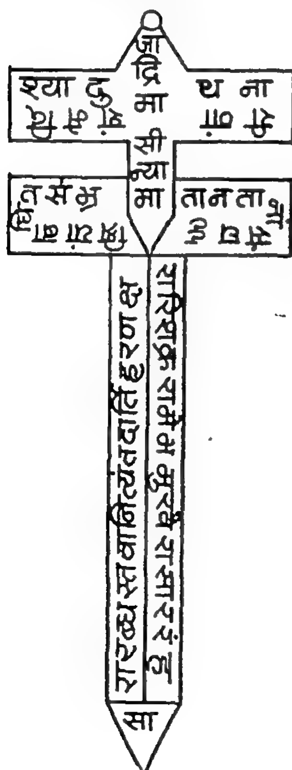
सम्वत् 1798 वर्ष की पौष शुक्ला द्वितीया को चोक्षचन्द्र ने इसे लिखा है। सब लोगों का कल्याण हो।

यदि अलङ्काररूपी समुद्र को पार करने की इच्छा हो तो कण्ठ से "काव्यालोक" रूपी जहाज का आश्रय लो ॥ 1 ॥

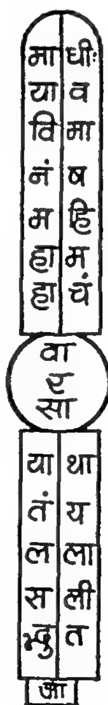
चक्रबन्धः



खड्गबन्धः



मुशलबन्धः



काव्यालोक की प्रति का आद्य पत्र

काव्यालोक की प्रति का मध्य पत्र

काव्यालोक की प्रति का अन्तिम पत्र

सूत्रानुक्रमणिका

उदाहृत श्लोकानुक्रमणिका

ग्रन्थसूची

1. अभिनवभारती : अभिनवगुप्त ; डॉ० नगेन्द्र ; हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
2. अभिधावृत्तिमातृका : मुकुलभट्ट; चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, बनारस, 1973 ई० ।
3. अलङ्कारकौस्तुभ : कर्णपूर ; वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी, राजशाही, बंगाल, 1926 ई० ।
4. अलङ्कारसर्वस्व : रुय्यक ; डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
5. औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र; आचार्य श्री ब्रजमोहन झा; चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, 1 ।
6. काव्यप्रकाश : मम्मट ; डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, वि. सं. 2027 ।
7. काव्यमीमांसा : राजशेखर ; डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—1, 1977 ई० ।
8. काव्यादर्श : दण्डी ; आचार्य रामचन्द्र मिश्र ; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—1, 1958 ई. ।
9. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र ; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1901 ई० ।
10. काव्यालङ्कार : भामह ; श्रीनिवास प्रेस, तिरुवड़ी, 1934 ई० ।
11. काव्यालङ्कार : रुद्रट ; डॉ० सत्यदेव चौधरी ; वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली-1 1965 ई०
12. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति : वामन , डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि ; आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली—6, 1954 ई० ।
13. काव्यालङ्कारसारसंग्रह : उद्भट ; राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1966 ई० ।

14. कुवलयानन्द : अप्पय दीक्षित ; डॉ० भोलाशंकर व्यास ; चौखम्बा विद्या-भवन, बनारस—1 ।

15. चन्द्रालोक : जयदेव ; सुबोधचन्द्र पन्त ; मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1966 ई० ।

16. चित्रमीमांसा : अप्पय दीक्षित ; कालिकाप्रसाद शुक्ला ; वाणीविहार, वाराणसी–1, 1965 ई०

17. दशरूपक : धनञ्जय ; भोलाशंकर व्यास ; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1973 ई० ।

18. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन ; डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि ; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 2019 वि. स. ।

19. नाट्यशास्त्र : भरत ; रामकृष्ण कवि ; ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा ।

20. पाण्डुलिपिविज्ञान : डॉ० सत्येन्द्र ; राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1978 ई० ।

21. भारतीय पाठालोचन की भूमिका : डॉ० एस. एम. कात्रे, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971 ई० ।

22. रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ ; पं० बद्रीनाथ झा, पं० मदन मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1978 ई० ।

23. वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक ; डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि ; आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली—6, 1955 ई० ।

24. व्यक्तिविवेक : महिम भट्ट ; पं० रेवा प्रसाद द्विवेदी ; चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, वाराणसी—1 ।

25. शोध-प्रविधि : डॉ० विनयमोहन शर्मा ; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1980 ई० ।

26. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजराज; मि. बुरुआह; पब्लिकेशन बोर्ड, आसाम, 1969 ई० ।

27. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ ; शालग्राम शास्त्री ; मोतीलाल बनारसी, दास, दिल्ली, 1973 ई० ।

28. Catalogus Catalogorum : Theodor Aufrecht ; Frans Steinier Verlog Embh Wiesboden 1962,

29. History of Sanskrit Poetics : Sushil Kumar De; 6/IA, Bancharam Akrur Lane. Calcutta–12., 1962.

30. History of Sanskrit Poetics : P. V. Kane ; Motilal Banarsidas, Delhi, 1961.

31. Literary Heritage of the Rulers of Amer and Jaipur : Gopal Narayan Bahura ; Sawai Man Singh II Museum, City Palace, Jaipur—1976.

32. New Catalogus Catalogorum : Dr. V. Raghavan ; University of Madras, 1968–9.

33. Mahabharata (Introduction) Vol. I : Ed. Visnu S. Sukthankar ; Bhandarkara Oriental Research Institute, Poona, 1933.

34. Ramayana (Introduction) Vol. I : G. Ed. G. H. Bhatt ; Oriental Insititute, Baroda, 1962.